प्रकाशक :
श्री जैन श्वेताम्बर पंचायती मन्दिर
सार्द्ध शताब्दि महोत्सव समिति
१३९, काटन स्ट्रीट,
कलकत्ता-७

सन् १९६५
वीर सम्वत् २४९१

मूल्य :
२)

शोभाचंद सुराना द्वारा
रेफिल आर्ट प्रेस,
३१, बड़तल्ला स्ट्रीट,
कलकत्ता-७ में मुद्रित।

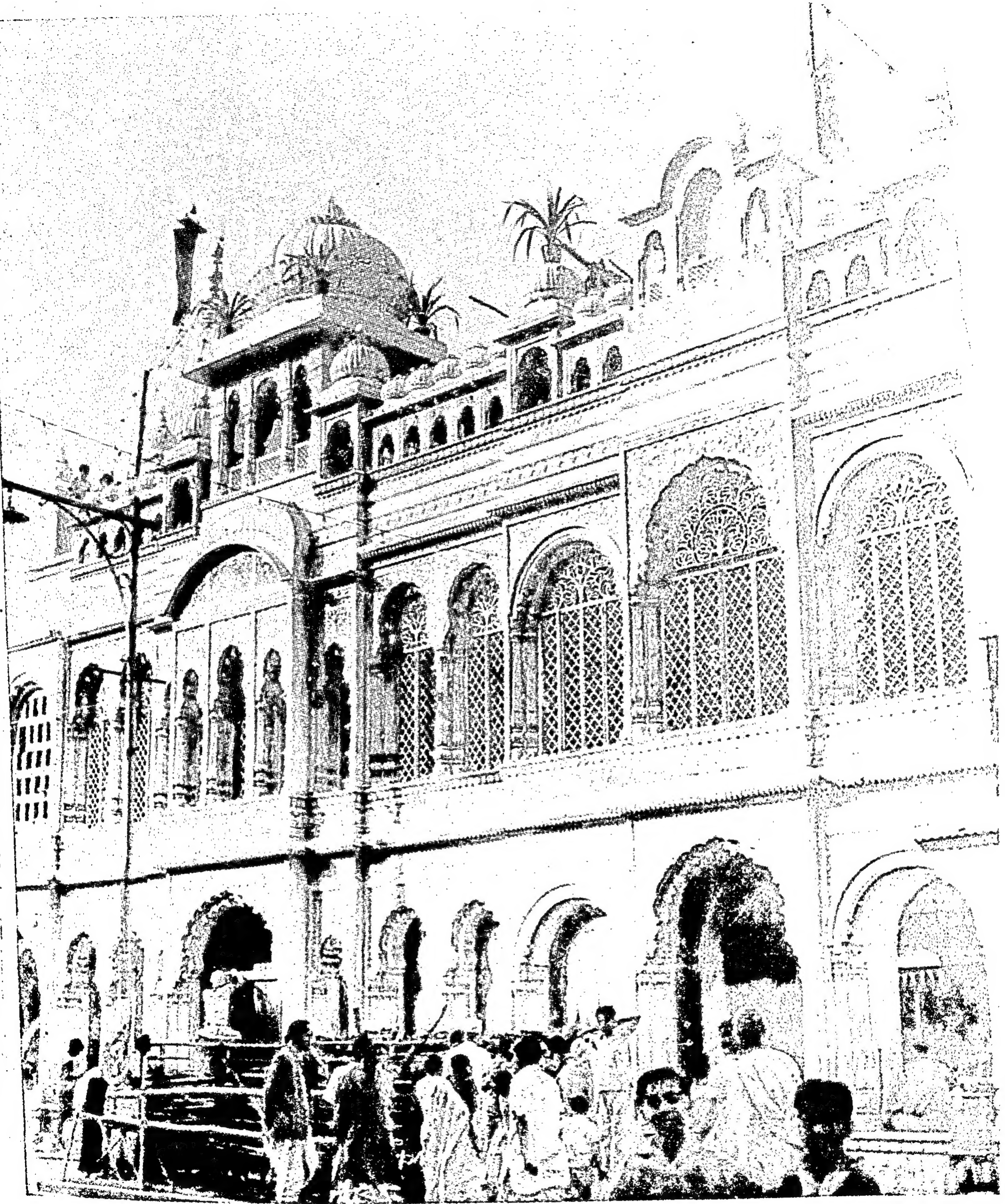
श्री जैन श्वेताम्बर पंचायती मन्दिर
सार्द्ध शताब्दि महोत्सव समिति के सदस्यगण

१. श्री सम्पतलाल रामपुरिया
२. श्री मूलचन्द सुराना
३. श्री भैंरूदान सुराना
४. श्री नवरतनमल सुराना
५. श्री ताजमल बोथरा
६. श्री भँवरलाल नाहटा
७. श्री इन्द्रजीतसिंह वैद
८. श्री दीपचन्द नाहटा
९. श्री रतनलाल वदलिया
१०. श्री विनयचन्द सेठ
११. श्री लाभचन्द्र रायसुराना
१२. श्री अनिलकुमार कोठारी
१३. श्री गजरथसिंह छजलानी
१४. श्री निर्मलचन्द चोरड़िया
१५. श्री पन्नालाल नाहटा
१६. श्री जयन्तकुमार खारड़
१७. श्री मगनलाल पारसन
१८. श्री कान्तिलाल मुकीम
१९. श्री अशोकसिंह दुधोड़िया
२०. श्री कुमारसिंह छाजेड़
२१. श्री महेन्द्रकुमार सिंघी



इस ग्रन्थ में

श्री जैन श्वेताम्बर पंचायती मन्दिर, कलकत्ता



श्री शान्तिनाथ जिनालय (प्रतिष्ठित सं० १८७१ मा० सु० ६)

प्राक्कथन

यह ग्रन्थ, श्री जैन श्वेताम्बर पंचायती मंदिर की सार्द्ध शताब्दी समारोह के अवसर पर, स्मृति-स्वरूप प्रकाशित किया जा रहा है। भारत, जहाँ सहस्राब्दि प्राचीन एक से एक भव्य मन्दिर विद्यमान हैं, कलकत्ते के इस प्रथम जिनालय ने तो १५० चातुर्मास (वर्षावास) ही देखे हैं। लेकिन इतने अल्पकाल में ही, इस जिनालय ने सबसे बड़ी जैन जनसंख्या वाले नगर के जिनालय होने का गौरव प्राप्त कर लिया है। कलकत्ता सबसे बड़ा हिन्दी भाषा-भाषी नगर तो है ही, सबसे बड़ा जैन जनसंख्यावाला नगर भी है। इस जिनालय के स्थापना काल के समय यदि कलकत्ते की जैन जनसंख्या सैकड़ों पर थी तो आज हजारों पर है। आज दसाधिक धार्मिक क्रिया-कलाप के केन्द्र चैत्यालय एवं उपासनालय बन गये हैं जहाँ विभिन्न क्षेत्रों एवं मान्यताओं के श्रावक वर्ग आध्यात्मिक तुष्टि में रत हैं। उनका उत्स यह जिनालय है।

यह हमारा धर्म-केन्द्र है। हृदय-स्थल है। त्रिवेणी संगम है। समाजसरिता का त्रिधारा स्वरूप,-तीर्थंकर, वीतराग, अकारण बन्धु, परमात्मा के चरणों को प्रक्षालित करता श्रद्धानत, बन्दनरत प्रवहमान है।

इस जिनालय की व्यवस्था के क्रमिक विकास एवं स्वरूप की एक अलग ही कहानी है, जो समाज शास्त्रीय दृष्टि से अत्यन्त ही मूल्यवान है। भारतीय समाज के स्वरूप में समय-समय पर जो परिवर्तन एवं प्रगति हुई, उसका असर इस जिनालय की प्रबन्ध-व्यवस्था पर भी पड़ा। आज हमारा देश गणतन्त्र है और सर्वोच्च सत्ता बालिग मताधिकार के आधार पर निर्वाचित लोकसभा में निहित है। तदनुकूल आज मन्दिर की प्रबन्ध व्यवस्था में, जैन श्वे० मूर्तिपूजक पंचायती की बालिग जनसंख्या वाला श्री संघ

सर्वोपरि है। उसके बहुमत की इच्छा द्वारा, समय-समय पर गठित ट्रष्ट बोर्ड प्रबन्ध व्यवस्था का संचालन करता है। भूतकाल में भारतीय समाज का स्वरूप कुछ और था तो मन्दिरजी की प्रबन्ध व्यवस्था भी तदनुरूप थी। अत: इसके गौरव-मण्डित १५ दशकों की पूर्ति पर एक समारोह करने एवं स्मृति में ग्रन्थ प्रकाशित करने के, श्री संघ के, निर्णयानुसार यह स्मृति-ग्रन्थ प्रस्तुत है। इसग्रन्थ के पूर्वांश में श्री जै० श्वे० पं० मन्दिर सार्द्ध-शताब्दि-महोत्सव-समिति द्वारा संयुक्त रूप से मन्दिरजी का इतिहास एवं तत्सम्बन्धी विवरण प्रस्तुत किया जा रहा है, जिसकी सामग्री के संकलन का श्रेय श्री भँवरलालजी नाहटा को है। साथ ही जैनदर्शन, इतिहास एवं धर्म पर लब्ध प्रतिष्ठित विद्वानों एवं सुधी श्रावकों के लेख भी दिये जा रहे हैं। ग्रन्थ को इस रूप में प्रस्तुत करने के लिए जिन विद्वानों एवं सज्जनों से प्रशंसनीय सहयोग मिला है, एवं इस ग्रन्थ की छपाई का भार समिति ने श्री भँवरलालजी नाहटा को सौंपा था जिसे उन्होंने योग्यतापूर्वक सम्पन्न किया है। अत: समिति उन सबका आभार स्वीकार करती है।

—श्री जैन श्वे० पंचायती मन्दिर सार्द्ध शताब्दि महोत्सव समिति

शान्ति जिन स्तुति

सव्व दुक्खप्पसंतीणं सव्व पावप्पसंतिणं
सया अजिय संतीणं णमो अजिअ संतीणं ॥

तं च जिणुत्तम मुत्तम नित्तम सत्तधरं, अज्जव मद्दव खंति विमुत्ति समाहि निहिं।
संतिकरं पणमामि दमुत्तम तित्थयरं, संति मुणी मम संति समाहिवरं दिसऊ ॥

तं संतिं संतिकरं संतिण्णं सव्वभया
संति थुणामि जिणं संतिं विहेउ मे ॥

जं सुरसंघा सासुरसंघा वेर विउत्ता भत्ति सुजुत्ता।
आयर भूसिय संभम पिंडिअ सुट्ठु सुविम्हिअ सव्व वलोघा ॥
उत्तम कंचण रयण परूविअ, भासुर भूसण भासुरि अंगा।
गाय समोणय भत्ति वसागय, पंजलि पेसिअ सीस पणामा ॥

[अजित-शान्ति स्तोत्र से]

श्री शांतिनाथ जिनालय प्रतिष्ठा स्तवन

शान्ति जिणंदजी की मोहनी मूरत, सोहनी सूरत सोहै रे।
इन्द्र चंद्र नागेन्द्र असुर सुर, भवियण ना मन मोहै रे ॥शान्ति०॥१॥

अलख निरंजन प्रभु अविकारी, जगनायक जग भ्राता रे।
तीन भुवन प्रभु तुम उपकारी, जगजीवन जगत्राता रे ॥शान्ति०॥२॥

अकल स्वरूपी परम गुणाकर, शिव सुख दायक स्वामी रे।
भविजन सब मिल सेवो भावे, होवै निज गुण धामी रे ॥शान्ति०॥३॥

विश्वसेन नन्दन अचिरा माता, मृग लांछन जसु दीपै रे।
कंचन वरण शरीर मनोहर, रवि शशि ज्योति जीपै रे ॥शान्ति०॥४॥

श्री कलकत्ता सहिर निवासी, श्रावक शुभ परिणामी रे।
धवल मंगल् करी उच्छव रंगे, निज आतम हित कामी रे ॥शान्ति०॥५॥

रंग मण्डप प्रासाद सतोरण, कलश इकीस सुहाया रे।
शुभ महुरत उत्तम सायत, रंगे प्रभु गुण गाया रे ॥शान्ति०॥६॥

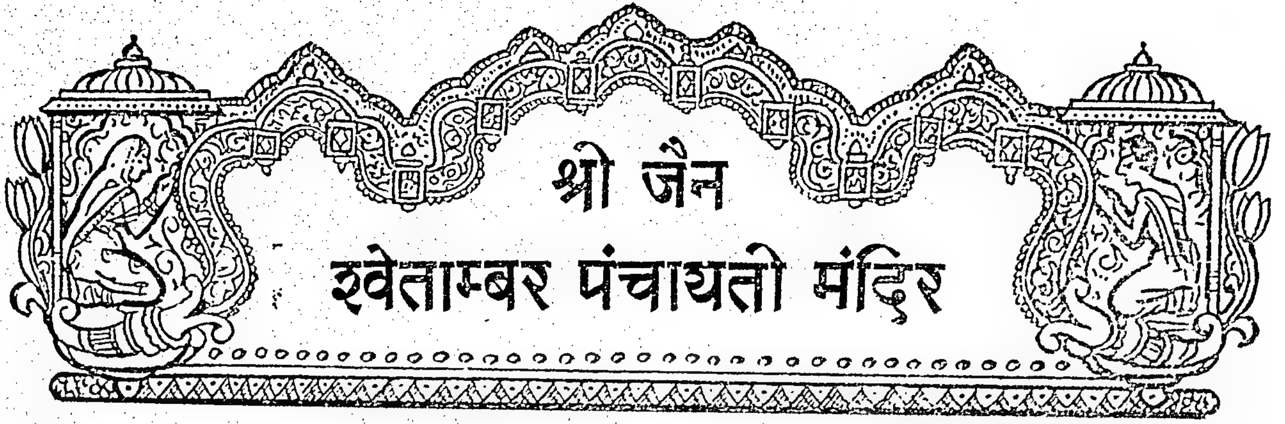
वरस अठार इकोत्तर मासे, माह सुद छठ बुधवारे रे।
शिखर प्रतिष्ठा करीय सुरंग भर, श्री संघ सहु जयकारै रे ॥शान्ति०॥७॥

रंग सुरंगो मन्दिर सुन्दर, वेदी अधिक विराजै रे।
तिहां प्रभु शान्ति जिणंद सुखकारी, दीठा दुरगति भाजै रे ॥शान्ति०॥८॥

श्री जिनहर्षसूरीसर जंपै, शांति सुधारस गावो रे।
सत्यरतन जितवरजी ध्यावो, परमानन्द पद पावो रे ॥शान्ति०॥९॥

[सं० १८७१ में प्रतिष्ठा के समय रचित]





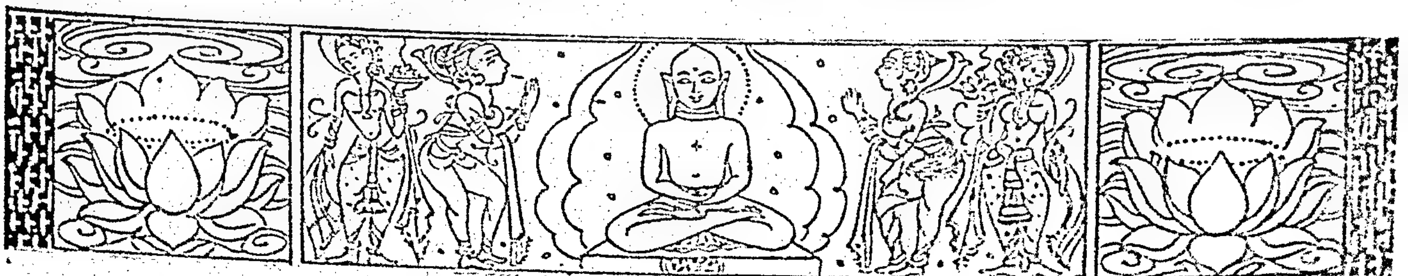
इतिहास एवं विवरण

संवत् १८७१ प्रमिते शाके १७३६ प्रवर्त्तमाने । मासोत्तम माघ मासे धवल पक्षे षष्ठी तिथौ । बुधवासरे श्री शान्तिनाथ जिनेन्द्राणामयं प्रसादः श्री कलिकता वास्तव्य सकल श्री संघेन निजात्मश्रेयः सम्पत्तये कारितः प्रतिष्ठितश्च श्रीमद् वृहत्खरतरगच्छेश जंगम युगप्रधान भट्टारक श्री जिनहर्षसूरिभिः ।। श्री ।।

माघ शुक्ला षष्ठी का दिन हमारे लिए पूजनीय एवं स्मरणीय वन गया है । इस दिन आज से १५० वर्ष पूर्व सम्वत् १८७१ में कलकत्ते के प्रथम जैन मन्दिर की प्रतिष्ठा सम्पन्न हुई । सम्वत् १८७१ से सम्वत् २०२१ यानी डेढ़ सौ वर्ष के व्यवधान के पश्चात् वही माघ मास, वही शुक्ल पक्ष, वहीषष्ठी । जिसे हम सार्द्ध शताब्दि के रूप में मना रहें हैं ।



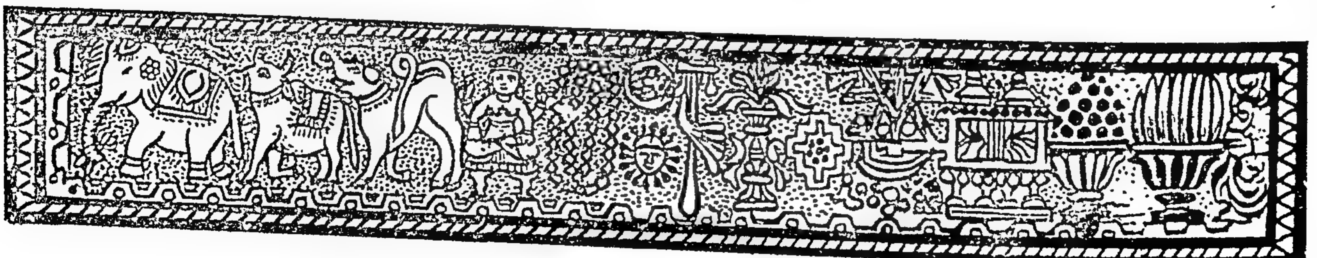
ये डेढ़ सौ वर्ष कलकत्ता ही नहीं अपितु समस्त भारत के इतिहास का महत्त्वपूर्ण काल है । यह वह काल है जव मुगलिया सल्तनत का सूर्य अस्त हो चुका था । वीर शिवा की सन्तान चौथ वसूलने के वहाने लूटपाट पर उतर आई थी । जनता का मनोवल टूट चुका था और अराजकता फैल रही थी । ऐसी स्थिति का लाभ उठाने के लिए, शासन व्यवस्था की शून्य की पूर्ति के लिए अंग्रेज आँख लगाए वैठे थे । उनके साम, दाम, दण्ड और भेद नीति के आगे एक के वाद दूसरा देशी राज्य मिट्टी के ढूह की तरह ढहता चला जा रहा था । जिसने भी आँख दिखलाई, कम्पनी सरकार ने उसकी आँखें निकाल ली । वंगाल में भी यही हुआ । चतुर शासक अलीवर्दी खां मर चुका था । अव उसका लाडला नाती २८ वर्ष का तरुण सिराज-सिराजुदौला के नाम से—वंगाल का नवाव वना । उसमें एक हजार अवगुण थे लेकिन एक गुण भी था । वह अंग्रेजों की करतूतों से नावाकिफ नहीं था । अतः उसने अंग्रेजों को सवक देने की वात सोची और शासन सम्भालने के कुछ समय वाद कलकत्ते पर चढ़ाई कर उसे जीत लिया और उसका नाम अलीनगर रख दिया । नवाव



सिराजुद्दौला अंग्रेजों की आँख का कांटा वन गया और सन् १७५७ के पलासी युद्ध में—जिसे युद्ध विशारद युद्ध की संज्ञा देने से भी इन्कार करते हैं—हरा दिया गया एवं मार डाला गया। अब मीरजाफर नवाब था। कम्पनी सरकार वन नई। कलकत्ता अलीनगर न वन सका, कलकत्ता ही रहा।

आज तो कलकत्ता महानगर है लेकिन इसका कोई अपना प्राचीन इतिहास नहीं है। शास्त्रों में इसका उल्लेख नहीं मिलता। वस आइने-अकवरी, सन् १५९६ साल, में लिखा है कि कलकत्ता सातगां अथवा सप्तग्राम सरकार में अन्तरभुक्त है। या फिर विप्रदास के मनसामंगल, १४९५-९६, और कविकंकण मुकुन्दराम के चण्डीकाव्य में, सन् १५७४ से १६०४ के मध्य रचित, में 'कलिकाता' का उल्लेख किया गया है। इसके महानगर वनने की कहानी का असल प्रारम्भ तो सन् १६९० में होता है जाव चारनक ने सुतानुटि में अंग्रेज कोठी की स्थापना की और १६९८ में सावर्ण चौधरियों से सुतानुटि, कलकत्ता और गोविन्दपुर नामक ग्राम खरीद लिए और आत्म रक्षा के वहाने कोठियां और किले वनवाने लगे। १९ वीं शताब्दि के प्रारम्भ होते-होते कलकत्ता १,७०,००० आवादी का शहर हो गया। यहाँ मूल निवासी नहीं के समान थे जो भी आया, वाहर से आया। जैनी भी वाहर से आये लेकिन इसका यह अर्थ नहीं है कि वंगाल प्रान्त से जैन धर्म का कोई प्राचीन सम्वन्ध नहीं रहा है। वस्तुस्थिति तो यह है कि प्रारम्भ से ही विहार और वंगाल जैन संस्कृति के केन्द्र रहे हैं। यत्र तत्र विखरे प्राचीन अवशेष इसके प्रमाण हैं। श्री प्रवोधचन्द्र सेन एम० ए० ने तो "वंगाल का आदि धर्म" नामक अपनी पुस्तक में जैनधर्म को इस देश का आदि धर्म वतलाया है। कालान्तर में जैन साधुओं एवं श्रावकों के दुष्काल जनित पलायन से इस धर्म का वंगाल से लोप-सा हो गया। यद्यपि जैन संस्कार आज तक "सराक" नामक जाति के लोगों में विद्यमान है। परन्तु आज वंगाल के विभिन्न स्थानों में जैनों की जो वस्तियां हैं वे प्रधानतः पश्चिम भारत से आये हुए जैनों की है जो यहां वाणिज्य व्यापार के निमित्त आये थे। मुर्शिदावाद के इलाके की जैन वस्ती इस दृष्टि से सम्भवतः सवसे प्राचीन है।

पलासी के युद्ध के पश्चात् कलकत्ते का खूव विकास हुआ तथा अन्य धर्मावलम्वियों के साथ ही जैनी भी मुर्शिदावाद, वनारस, राजस्थान तथा अन्य स्थानों से आकर कलकत्ते में वसने लगे। कौन परिवार कव यहां आकर वसा यह वता सकना प्रमाण के अभाव में एक कठिन कार्य है। परन्तु जनश्रुति के अनुसार जौहरी-साथ यहां पहले आया और उस समय मन्दिर की निकटवर्ती गलियों में जैनों की वस्ती थी। मुर्शिदावाद के वजाय कलकत्ते का आकर्षण वढ़ने लगा और एक के वाद दूसरा परिवार यहां आकर वसने लगा। उस जमाने में थोड़ी भी दूर जाकर वसना कुछ विचित्र-सा लगता था। जव राय वद्रीदासजी ने हरिसन रोड में मकान वनवाया तो ऐसा कहते हैं कि उस समय वह कुछ ग्रामान्तर-सा लगने लगा था। मन्दिर के पुराने खाता वहियों से ज्ञात होता है कि उस समय तक



मारवाड़ी साथ भी वहुत वड़ी संख्या में यहां वस गया था। जौहरी साथ कहलाने वाले श्रीमाल और ओसवाल वन्धु यहां लखनऊ, फैजावाद, वनारस आदि स्थानों से आकर वसे। उनमें से अनेक दिल्ली, जयपुर और झूंझनू से भी आए। श्री वद्रीदासजी मुकीम लखनऊ से आये थे। उनका उदय कलकत्ते के जैन समाज के इतिहास में अपना विशिष्ट स्थान रखता है। कलकत्ते का श्री शीतलनाथ भगवान का मन्दिर जो कि पारसनाथ मन्दिर के नाम से प्रख्यात है आप ही का वनवाया हुआ है। उन्हीं दिनों श्री दादावाड़ी के पार्श्व में श्री सुखलाल जौहरी ने श्री महावीर जिनालय और श्री शीतलनाथ जिनालय के वगल में श्री गणेशीलाल कपूरचन्द खारड़ ने श्री चन्दाप्रभुजी के मन्दिर का निर्माण करवाया था।

वर्तमान वड़े मन्दिर जी के स्थान में पहले श्री धीरजसिंह जी जौहरी का निवास स्थान था। उन्होंने आदिनाथ स्वामी का घर देहरासर वनवाया और वाद में संघ को भेंट कर दिया। इसी स्थान पर आज श्री जैन श्वेताम्वर पंचायती मन्दिर वना हुआ है। कलकत्ता के प्रसिद्ध वड़ावाजार अंचल के सत्यनारायण पार्क के सन्निकट १३९, काटन स्ट्रीट में स्थित है। जिस समय घर देहरासर था, श्री धीरजसिंहजी ने मुर्शिदावाद से भगवान आदिनाथ की प्रतिमा लाकर अपने सेवन पूजन के लिए स्थापित की थी। यह प्रतिमा सम्वत् १८५६ मिती वैशाख सुदी ३, वुधवार के दिन खरतर गच्छनायक श्री जिनचन्द्रसूरिजी द्वारा प्रतिष्ठित एवं गोलछा अखेराम द्वारा निर्मित है। जिस पर निम्नोक्त अभिलेख उत्कीर्णित है—

"सम्वत् १८५६ वैशाख मासे शुक्ल पक्षे वुधवासरे ३ तिथि श्री ऋषभदेव स्वामी विंवं प्रतिष्ठितं श्री जिनचन्द्रसूरिभिः वृहत्खरतरगच्छे कारितं अजीमगंज-वास्तव्य गोलछा अखयरामेन"

यह प्रथम प्रतिष्ठा चम्पापुरी जिला भागलपुर में हुई थी और निर्माता अखयरामजी गोलछा ही सम्भवतः वहाँ से अजीमगंज ले आए थे उनसे प्राप्त कर श्री धीरजसिंह जी ने अजीमगंज से लाकर कलकत्ते में विम्व की स्थापना की जो वर्तमान रूप में अभी तक दूसरे तल्ले में विद्यमान है। इसकी स्थापना सम्वत् १८५६ से १८६७ के वीच में हुई थी। आज हम जिसका सार्द्ध शताव्दि महोत्सव मना रहे हैं वह इस मन्दिर का विशाल और शिखरवद्ध रूप है जिसके मूलनायक श्री शान्तिनाथ भगवान हैं। देहरासर के निर्माण के वाद श्री धीरजसिंह ने इस मकान को जैन संघ को समर्पित कर दिया। कलकत्ता जैन संघ ने मन्दिर निर्माण का कार्य प्रारम्भ किया। जैन संघ अपने उत्कर्ष में परम उपकारी दादा साहव श्री जिनदत्तसूरिजी और श्री जिनकुशल सूरिजी की कृपा का ही सुफल मानता था और जहां कहीं भी मन्दिरों के साथ-साथ उनकी चरण-प्रतिमाएँ विराजमान कर या अलग दादावाड़ी का निर्माण करना अपना प्रथम कर्त्तव्य समझता था। कलकत्ता जैन संघ ने माणिकतल्ला के निकट एक विशाल भूमि खरीद कर दादावाड़ी व वगीचे का निर्माण कराया। सम्वत् १८६७ आपाढ़ शुक्ल ६ वुधवार को पार्श्वचन्द्रगच्छीय जैनाचार्य श्री लब्धिचन्द्रसूरिजी के कर कमलों से दादा साहव श्री जिनदत्तसूरि, श्री जिनकुशलसूरि, श्री जिनचन्द्रसूरि व श्री जिनभद्रसूरि के चरण



प्रतिष्ठित करवाए। सम्वत् १८६८ मिती वैशाख सुदी ६ गुरुवार के दिन इन्हीं लब्धिचन्द्रसूरि जी ने दादावाड़ी में श्री स्थूलिभद्र स्वामी के चरणों की स्थापना की व १३६ काटन स्ट्रीट के देहरासर में ११ गणधर व दोनों दादा साहब के चरणद्वय की जोड़ी प्रतिष्ठित की।

काटन स्ट्रीट का देहरासर कुछ समय में निर्मित्त होकर विशाल मन्दिर हो गया और उसमें नीचे मूलनायक श्री शान्तिनाथ स्वामीजी की प्रतिमा व २१ कलश वाले शिखर की प्रतिष्ठा सम्वत् १८७१ मिती माघ सुदी ६ बुधवार के दिन खरतरगच्छनायक श्री जिनहर्षसूरिजी महाराज के कर कमलों से हुई। इस समय की दो शिला-पट्टिकाएँ मन्दिर में लगी हुई हैं जिनका अर्थ एक ही आशय का है। एक की नकल प्रारंभ में दे चुके हैं।

इसी मन्दिर के गर्भगृह में मूलनायक शान्तिनाथ प्रभु के अतिरिक्त और भी कितनी ही पाषाण व धातुमय प्रतिमाएँ, चरण, यन्त्र आदि विराजमान हैं। धर्मनाथ स्वामी की धातुमय प्रतिमा जिनकी रथयात्रा प्रतिवर्ष कार्तिकपूर्णिमा को निकाली जाती है, जो विशेष उल्लेख योग्य है और उसका वर्णन बाद में प्रस्तुत किया जाएगा।

बाबू फूलचन्द मोतीचन्द नखत ने सम्वत् १६३५ में पंचायती मन्दिर स्थित दादा साहब की वेदी का निर्माण करवाया था। बाबू जीवनलालजी चोरड़िया के घर पर देहरासर था। सम्वत् १६३६ में उनकी धर्मपत्नी ने पंचायती मन्दिर में गौतम स्वामी जी की प्रतिमा का निर्माण कर वेदी प्रतिष्ठा करवायी थी। पंचायती मन्दिर के ऊपर ऋषभदेव स्वामी के संगमर्मर के सभामण्डप का निर्माण सम्वत् १६४४ में सेठ कल्लूमलजी की धर्म पत्नी मुनिया बीबी ने करवाया था। सम्वत् १६४० में सेठ घराने में रामचन्द्र की पत्नी गुलाबो बीबी ने पार्श्वनाथ स्वामी के दाहिनी ओर की वेदी का निर्माण करवाया था। सम्वत् १६५६ में पद्मचन्द जी सेठकी धर्मपत्नी ने शान्तिनाथजी की वेदी जो ऊपर दादा साहब के दाहिनी ओर है, बनवाकर श्री जिनकीर्तिसूरि से प्रतिष्ठित करवायी। श्री गुलाबचन्द, प्रतापचन्द, इन्दरचन्द पारसान ने सम्वत् १६७६ में मुनिसुव्रत स्वामी की वेदी का निर्माण करवाया।

सम्वत् १६०२ में आश्विन सुदि १५ को भाण्डिया मुकीम देवीलाल की पुत्री शुभो एवं ओसवाल दिलसुखराय ने कई सिद्धचक्र यन्त्रों की प्रतिष्ठा श्री जिननन्दिवर्द्धनसूरिजी से करवायी थी। सम्वत् १६२० में फोफलिया ऋद्धुलालजी के पुत्र शिखरचन्दजी ने एक स्फटिकमय शान्तिनाथ पादुकाओं का निर्माण कराकर श्री जिनमहेन्द्रसूरिजी से प्रतिष्ठित करवायी थी। मन्दिर जी के चित्रों का निर्माण जयपुर के गणेश मुसव्वर के द्वारा वर्षों के परिश्रम से करवाया था, जो कला की दृष्टि से आज भी मन्दिर जी की अमूल्य निधि हैं। साथ ही गूढ़ मण्डप में स्नात्र; पूजा आदि के विविध भावों को संगमरमर के शिल्प में उत्कीर्ण करवाया और फर्श पर हकीक, पितौनिया आदि कीमती पत्थरों को खम्भात के व्यापारी से खरीद कर लगवाया।

इसके पश्चात् समय-समय पर अनेक भक्तों द्वारा देहरियों व प्रतिमाओं की प्रतिष्ठा होती रही। श्री पार्श्वनाथ स्वामी की वेदिका का निर्माण सम्वत् १६३४ ज्येष्ठ शुक्ला ३ को बाबू नन्दलालजी की भार्या मूलो बीबी ने कराया।



दादा साहब को वेदी सम्वत् १९३५ आषाढ़ शुक्ल १३ को बाबू फूलचन्द जी नखत ने बनवायी। सम्वत् १९४० मिती फागुण सुदि ५ को सेठ रामचन्द्र के पुत्र सिताबचन्दजी की माता गुलाबो ने पार्श्वनाथ जी के पास देवकुलिका बनवायी जिसकी प्रतिष्ठा नन्दीवर्द्धनसूरि जी के शिष्य पन्नालालजी ने करवायी। इसके अतिरिक्त समय-समय पर प्रतिमाएँ, यन्त्र आदि प्रतिष्ठित होते रहे। सम्वत् १९७९ में उ० जयचन्द्रजी ने विंशतिस्थानक पट्ट की स्थापना एवं १९८७ में चक्रायुध गणधर की प्रतिमा प्रतिष्ठित की।

इस मन्दिर में सबसे प्राचीन ऋषभदेव प्रभु की धातुमय कलापूर्ण प्रतिमा है जिस पर सं० १०८३ का अभिलेख खुदा हुआ है :

'ऋषभनाथ वीतनायां पत्नी सं० मूल सत्क ॥ सं० १०-८३ वै०सु० १४ ॥'

इसके बाद बारहवीं शताब्दी से अबतक की प्रतिष्ठित संख्याबद्ध प्रतिमाएँ हैं जिनके अभिलेख यहां स्थानाभाव से देना सम्भव नहीं है।

इस मन्दिरजी की पुरानी खाता बहियां भी इस मन्दिर की कहानी में एक महत्त्वपूर्ण योगदान प्रदान करती हैं और वह भी जीर्णशीर्ण दशा में या नवीनता या साज-सज्जा के आकर्षण से दूर प्राचीनता एवं धूमिलता का आवरण लेकर अपने में एक इतिहास संजोये हुए हैं। अतः उनका भी कुछ वर्णन कर देना आवश्यक है क्योंकि उससे भी मन्दिर के इतिहास पर प्रकाश पड़ता है।

मन्दिर के पुराने खाते बही

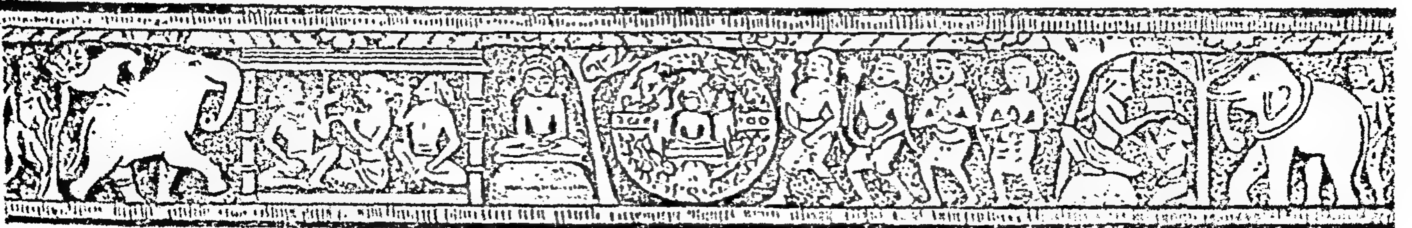
मन्दिर के पुराने खातों को देखने से पता चलता है कि यद्यपि जलवायु की प्रतिकूलता और दीमकों आदि की कृपा से बहुतसी बहियां सर्वथा और अंशतः नष्ट हो चुकी हैं, परन्तु जो कुछ भी बच पायी हैं उससे तत्कालीन व्यवस्था, मन्दिर की अवस्था और इतिहास पर काफी प्रकाश पड़ता है। सम्वत् १८८३ से आंकड़े उपलब्ध है और उन तलपटों से विदित होता है कि मन्दिरजी की आमदनी के जरियों से कार्तिक महोत्सव, स्नात्र पूजा-दैनिक, बड़ी पूजाएँ, चढ़ापा एवं व्याज मुख्य हैं। मन्दिरजी में रु० ३,००० की ईस्ट इण्डिया कम्पनी की रसीदें जमा पूंजी धीरजसिंह बिसेसरदास जी के नाम से जमा आ रही थी, सम्भवतः ये वे ही धीरजसिंहजी थे, जिन्होंने ऋषभदेव भगवान का देहरासर स्थापित किया था। प्रमाणाभाव में विशेष परिचय प्राप्त नहीं है।

गुरुजनों के चातुर्मास

प्राचीन काल में बंगाल में साधुओं का चातुर्मास दुर्गम था और यति समाज सर्वत्र विचरकर श्रावक वर्ग को धर्म-ध्यान द्वारा उपकृत करता था। पूर्वदेश के महातीर्थों की यात्रा हेतु साधु मुनिराजों का आगमन भी होता रहता था। सं० १८६७-६८ में पार्श्वचन्द्रगच्छीय श्रीपूज्य श्री हर्षचन्द्र सूरि ने कलकत्ता में रहकर मन्दिर जी व दादावाड़ी की प्रतिष्ठाएँ करवायी थीं। सं० १८७१ में खरतरगच्छ के श्री जिनहर्षसूरि ने मूल शान्तिनाथ जिनालय की प्रतिष्ठा करवायी। इसके बाद भी निरन्तर विभिन्न गच्छों के गुरु-जनों का विचरण एवं चातुर्मास होता ही रहता है।

भगवान शान्तिनाथ

कलकत्ता महानगरी की प्राचीनतम श्री जैन श्वेताम्बर



पंचायती मन्दिर के गर्भगृह में मूलनायक शान्तिनाथ प्रभु की प्रेरणादायी प्रतिमा प्रतिष्ठित है और उनके दर्शन, वन्दन और पूजन के द्वारा अब तक लाखों लोगों ने अपने मानव जीवन को धन्य कर मंगलमय प्रेरणाएँ प्राप्त की हैं और अपने जीवन में शान्ति का अवदान प्राप्त किया है। अत: तीर्थङ्कर शान्ति-नाथ जी के जीवन के सम्बन्ध में यहां पर संक्षिप्त परिचय प्रस्तुत करना आवश्यक प्रतीत होता है। इस महान विभूति के नाम का स्मरण कर आज भी मानव का चंचल और अशान्त मन शान्ति का अनुभव करता है। यह एक ऐसे तीर्थङ्कर हो गए हैं कि जिनके एक ही भव में चक्रवर्ती और तीर्थङ्कर दोनों ही होने का अपूर्व संयोग है।

वर्तमान चौबीसी में भगवान शान्तिनाथ की एक अपूर्व विशेषता है, बाह्य एवं आभ्यन्तरिक सुख-शान्ति के लिए उनकी उपासना एक अमोघ उपाय है। उन्होंने भय और चंच-लता की प्रकृतियों पर विजय प्राप्त की थी इसीलिए उनका लांछन मृग है। भगवान शान्तिनाथ एक ही भव में तीर्थंकर और चक्रवर्ती दोनों ही सर्वोत्तम पदों के धारक थे। वे सोल-हवें तीर्थंकर और पाँचवें चक्रवर्ती थे। पूजा प्रतिष्ठादि से लेकर दैनिक सभी छोटे-बड़े कार्यों में उनकी आराधना अनिवार्य है। भवो-भव की साधना और पुण्य प्रकृति के प्राग्भार से उनके नाम स्मरण से ही अपूर्व शान्ति प्राप्त होती है। उन्होंने अपने पूर्व जन्म में मेघरथ राजा के भव में जीवदया का एक अद्भुत उदाहरण प्रस्तुत किया था जिससे आज भी 'शान्तिनाथात् आरो न दानी' कहावत प्रसिद्ध है। एक कबूतर की रक्षा के लिए उन्होंने अपने शरीर का मांस काट-काट कर देते हुए अन्त में सारा शरीर ही अर्पण कर दिया। उन स्वनामधन्य परमात्मा का चरित्र समुद्र की तरह अगाध एवं विशाल है।

भारत की प्राचीन राजधानी हस्तिनापुर में करोड़ों वर्ष पूर्व महाराजा विश्वसेन राज्य करते थे जिनकी महारानी का नाम अचिरा देवी था। सर्वार्थ-सिद्ध अनुत्तर विमान से च्यव कर भगवान् माता के गर्भ में मिति भाद्रपद कृष्णा ७ भरणी नक्षत्र में आये। तीर्थङ्करों के कल्याणक समय में समस्त प्राणी नारकीय पर्यन्त शान्ति का अनुभव करते हैं। तदनुसार इन्द्र ने भी शक्रस्तव द्वारा प्रभु की स्तुति की। एक बार संयोगवश हस्तिनापुर में महामारी का रोग फैला। वह बढ़ते-बढ़ते राजभवन तक आ गया और एक दासी व्याधि-ग्रस्त हो गई। अचिरादेवी के स्नान के जल लगने से दासी अनायास स्वस्थ हो गई, तब सभी ने गर्भस्थ बालक का प्रभाव समझ कर माता के प्रक्षालित जल को लगाया जिससे सारे नगर की महामारी शान्त हो गई। गर्भकाल पूर्ण होने पर प्रभु ने मिति ज्येष्ठ वदी १३ के दिन जन्म लिया। छप्पन दिशि-कुमारियों ने मिलकर प्रसूति कार्य किया। चौसठ इन्द्रों ने मेरु पर्वत पर प्रभु का जन्माभिषेक किया। जब सौधर्मेन्द्र माता को अवस्वापिनी निद्रा दिला कर प्रभु को स्नात्र महोत्सव के लिए ले जाते है तो प्रभु के स्थान पर मंगल के लिए माता के पास बिंब स्थापन करके जाते हैं। जन्मोत्सव के अनन्तर इन्द्र ने प्रभु को हस्तिनापुर लाकर अचिरा माता को सौंपा। विश्वसेन राजा ने पुत्र जन्मोत्सव बड़े ही धूम-धाम से मनाया और प्रभु का नाम शान्तिकुमार रखा। वयस्क होने पर यशोमती नामक राजपुत्री से विवाह किया। शान्ति कुमार २५ हजार वर्ष तक कुमार पद में रहे। जब माता-



पिता परोक्ष होकर तीसरे देवलोक में चले गए तव शान्ति कुमार राज पद भोगने लगे। रानी यशोमती की कुक्षी से चक्र स्वप्न सूचित चक्रायुध कुमार ने जन्म लिया।

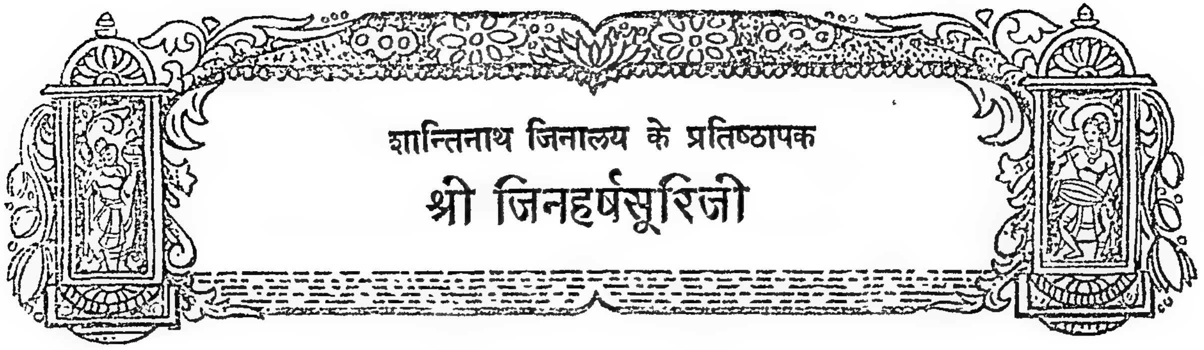
एक बार हस्तिनापुर की आयुधशाला में चक्ररत्न उत्पन्न हुआ जिसे प्राप्त कर प्रभु शान्तिकुमार ने ६ खण्ड साधन किया और २५ हजार वर्ष पर्यन्त चक्रवर्ती पद पालन कर लोकान्तिक देवों द्वारा संयम ग्रहण काल की सूचना पर एक वर्ष पर्यन्त संवत्सरी दान दिया और चक्रायुध कुमार का राज्याभिषेक कर दीक्षा लेने की तैयारी की। सौधर्मेन्द्र आदि ६४ इन्द्रों ने आकर सर्वार्थ शिविका उपस्थित की जिसमें विराजमान होकर मिति ज्येष्ठ वदी १४ को भरणी नक्षत्र में शान्तिनाथ प्रभु एक हजार राजाओं के साथ हस्तिनापुर के सहस्राम्रवन उद्यान में पधारे और पंचमुष्टि लोच करके चार महाव्रत स्वीकार किया। उसी समय भगवान को मनः पर्यवज्ञान उत्पन्न हुआ। भगवान ने छठ तप का पारणा सुमित्र के यहाँ क्षीर से किया और सहस्र मुनियों के साथ उग्र विहार करते हुए वे क्रमशः हस्तिनापुर लौटे और माघ सुदी ९ भरणी नक्षत्र में चार घनघाती कर्मों का क्षय कर प्रभु ने कैवल्य प्रगट किया। देवों ने समवशरण की रचना की। राजा चक्रायुध ने प्रभु की वाणी से वैराग्य प्राप्त कर पुत्र को राज्याभिषेक कर प्रभु से दीक्षा ली। ये प्रभु के प्रथम गणधर हुए। भगवान ने गणधर आदि परिवार सहित भूमंडल में विचर कर लाखों भव्य प्राणियों को प्रतिबोध देकर मोक्ष-मार्ग के पथिक वना दिये।

भगवान शान्तिनाथ स्वामी लाख वर्ष की आयु पूर्ण कर समेतशिखर महातीर्थ के प्रभास शिखर पर मिति ज्येष्ठ वदी १३ को मासक्षमणपूर्वक भरणी नक्षत्र में ९०० मुनियों सहित निर्वाण को प्राप्त हुए। भगवान के ३६ गणधर, ६२ हजार साधु, ६१,६०० साध्वियां, दो लाख नौ हजार श्रावक, तीन लाख ९३ हजार श्राविकाएँ हुई उनके ८०० चौदह पूर्वधारी, ३००० अवधिज्ञानी, ४००० मनःपर्यवज्ञानी, ४३०० केवलज्ञानी, ६००० वैक्रियलब्धिधारी और २४०० वादलब्धि सम्पन्न साधु थे। भगवान का देहमान ४० धनुष और वर्ण स्वर्ण जैसा था। जहां भगवान शान्तिनाथ मोक्ष गए, प्रभास टोंक पर चक्रायुध गणधर के सदुपदेश से मित्र-पुर के राजा सुदर्शन ने समेतशिखर तीर्थोद्धार कराया। गरूड़, यक्ष और निर्वाणी देवी भगवान की अधिष्ठाता देवी है। धर्मनाथ स्वामी के निर्वाण के बाद पौन पल्योपम कम तीन सागरोपम बीते शान्तिनाथ भगवान का निर्वाण हुआ।

इस संसार में परिभ्रमण करते हुए जीव को अनन्त काल बीत गया जिसका कोई लेखा-जोखा नहीं। भव की गणना सम्यक् प्राप्ति के वाद ही की जाती है। भगवान शान्तिनाथ स्वामी के बारह भव हुए। प्रथम भव में प्रभु रत्नपुरी के राजा श्रीषेण हुए, संयम पालकर दूसरे भव में उत्तरकुरु में युगलिए, तीसरे भव में सौधर्म देवलोक में देव, चौथे भव में अमिततेज विद्याधर, पांचवें भव में दशवें प्राणत देवलोक में देव, छठे भव में अपराजित बलदेव, सातवें भव में अच्युत विमान में देव, आठवें भव में वज्रायुध चक्रवर्ती राजा, नववें भव में अहमिन्द्र देव, दसवें भव में मेघरथ राजा हुए। ग्यारहवें भव में सर्वार्थसिद्ध विमान में देव हुए। वहाँ से च्यव कर बारहवें भव में विश्वसेन राजा के यहां जन्म लेकर शान्तिनाथ चक्रवर्ती राजा व तीर्थंकर हुए।

इसी प्रसंग में इस कीर्तिमान मन्दिर श्री शान्तिनाथ जिनालय के प्रतिष्ठापक श्री जिनहर्षसूरिजी का जीवनवृत्त का संक्षिप्त परिचय देना भी आवश्यक है क्योंकि उसके अभाव में पाठकों की जिज्ञासा की पूर्ण रूप से पूर्ति नहीं हो सकेगी।

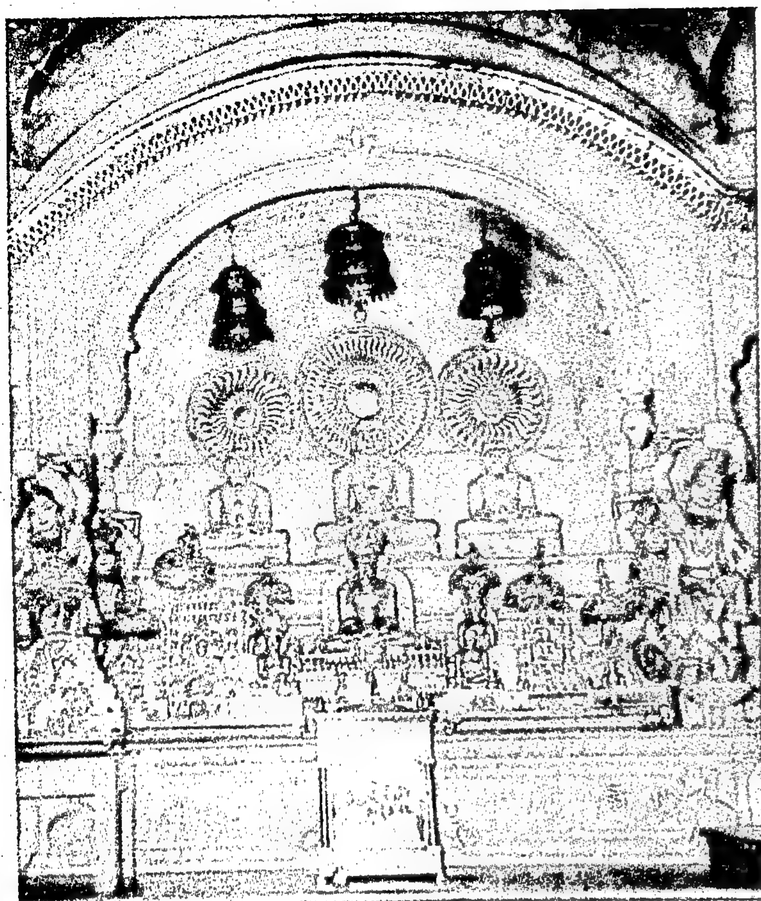




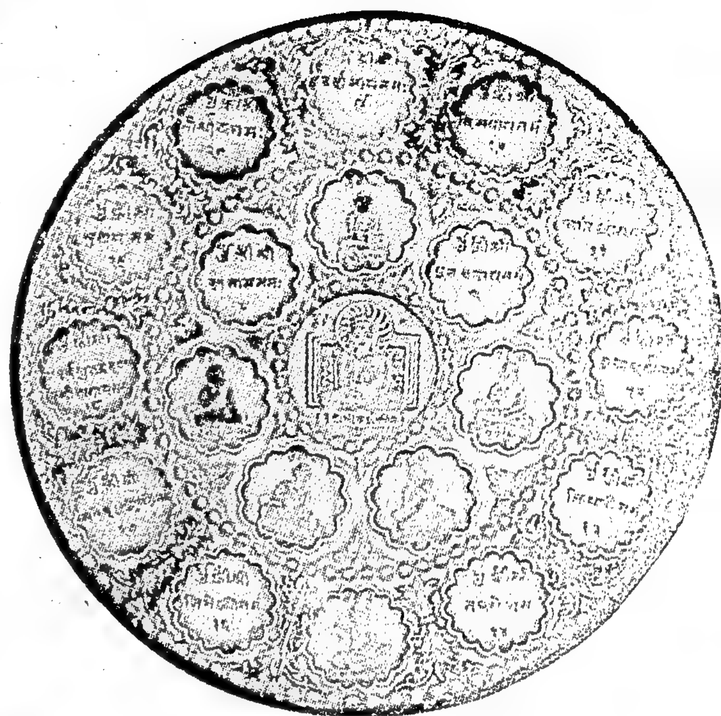
शान्तिनाथ जिनालय के प्रतिष्ठापक खरतर गच्छ के आचार्य श्री जिनहर्षसूरिजी एक प्रभावक आचार्य थे। उनके समय में खरतर गच्छ में हजारों यति वर्ग विद्यमान थे। और गांव-गांव में विचर कर साहित्य सेवा, विद्याध्ययन, धर्मोपदेश आदि द्वारा श्रावकों को धर्म में दृढ़ रखते थे। कई महानुभाव तो त्याग, वैराग्य और विद्वता में उच्च कोटि के थे। उनका विहार क्षेत्र विस्तृत था और जीवन सन्तोपी था। श्री जिनहर्षसूरिजी बंगाल में कई वर्षों तक विचरे और उन्होंने जैन संघ का बड़ा उपकार किया। उनका संक्षिप्त परिचय यहां पर प्रस्तुत किया जाता है।

आपका जन्म वालीवा में हुआ था। आपके पिता तिलोकचन्द और माता का नाम तारादेवी था। वह मीठड़िया बुहरा गोत्रीय थे। सं० १८४१ में आऊ गांव में दीक्षा ली। सं० १८५६ मिति ज्येष्ठ शुक्ला १५ को सूरत में आचार्य पद पर आरूढ़ हुए और वहीं जिन विम्ब व चैत्य की प्रतिष्ठा की। सं० १८६० अक्षय, तृतीया के दिन देवी – कोट—जैसलमेर में संघ कारित जिनालय की प्रतिष्ठा की। सं० १८६६ चैत्री पूर्णिमा के दिन जोधपुर निवासी सं० राजाराम गिड़िया व तिलोकचन्द लूणिया के संघ सहित शत्रुंजय गिरनार यात्रा की। इस संघ में ११०० साधु और सवा लाख श्रावक समुदाय था। सं० १८७० में समेतशिखर जी की यात्रा की और फिर कलकत्ता पधार कर श्री संघ के वनवाये हुए २१ शिखर वाले इसी शान्तिनाथ जिनालय की प्रतिष्ठा सं० १८७१ मिति माघ शुक्ल ६ के दिन की। सं० १८७६ में संघ सहित समेतशिखरजी की यात्रा करके अन्तरिक्षजी, मक्षीजी, केशरियाजी आदि तीर्थों की यात्रा की। सं० १८६०, सं० १८६५, सं० १८७९ और सं० १८८१ के बीकानेर के रेल दादाजी, कालू, नाल आदि में चरण पादुका प्रतिष्ठा के लेख पाए जाते हैं। सं० १८८६ में आपके उपदेश से बीकानेर में गौड़ी पार्श्वनाथ मन्दिर का जीर्णोद्धार हुआ। सं० १८८७ मिति आषाढ़ शुक्ल १० को बीकानेर में श्रीसीमन्धरस्वामी के मन्दिर व २५ जिन विम्बों की प्रतिष्ठा की। सं० १८८८ में रेल दादाजी व नाल में पादुका प्रतिष्ठा की। सं० १८८९ में मिति माघ शुक्ल १० को बीकानेर में अमीचन्द जी सेठिया के वनवाये हुए समेतशिखर मन्दिर की गौड़ी पार्श्वनाथजी में प्रतिष्ठा की तथा सं० १८९० में जांगलू मन्दिर व सं० १८९१ में माघ शुक्ल ५ को चूरू दादावाड़ी में प्रतिष्ठाएँ की। आपके आदेश से आज्ञानुवर्ती यति-मुनियों द्वारा भी प्रतिष्ठाएँ पर्याप्त मात्रा में हुईं। अनेक मन्दिर, तीर्थ, आदि के उद्धार हुए जिनका उल्लेख यहां सीमित स्थान में किया जाना शक्य नहीं हैं।

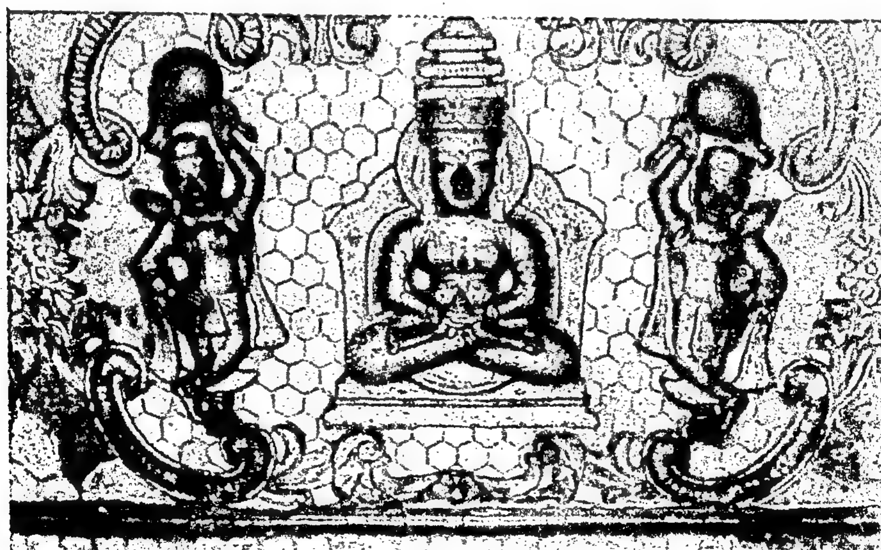




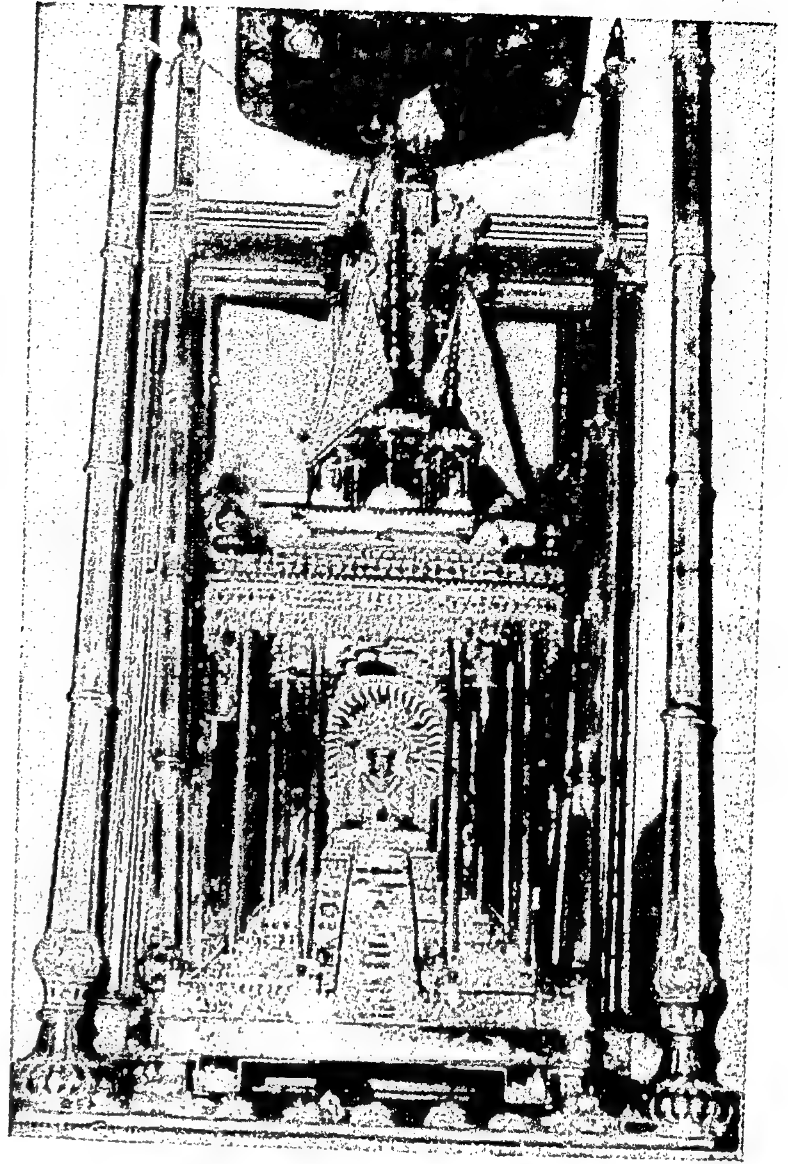
श्री शान्तिनाथ स्वामी
(मूलनायकजी)



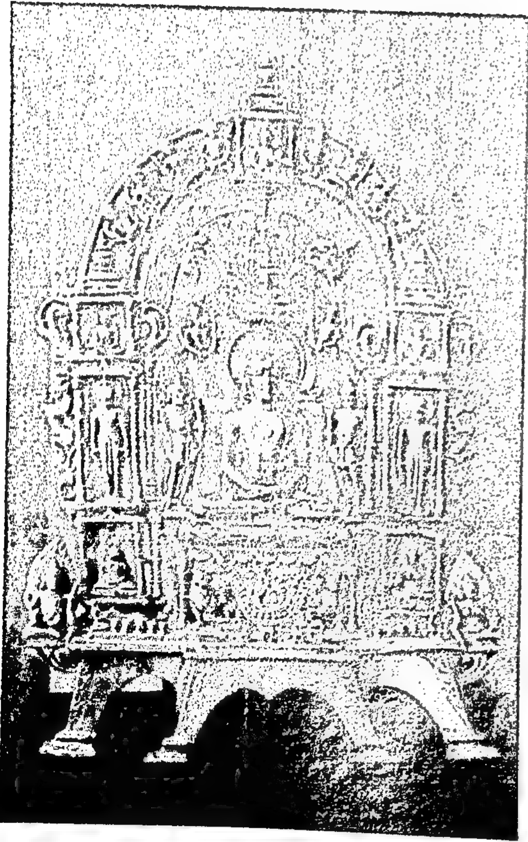
बीस स्थानक पट्ट



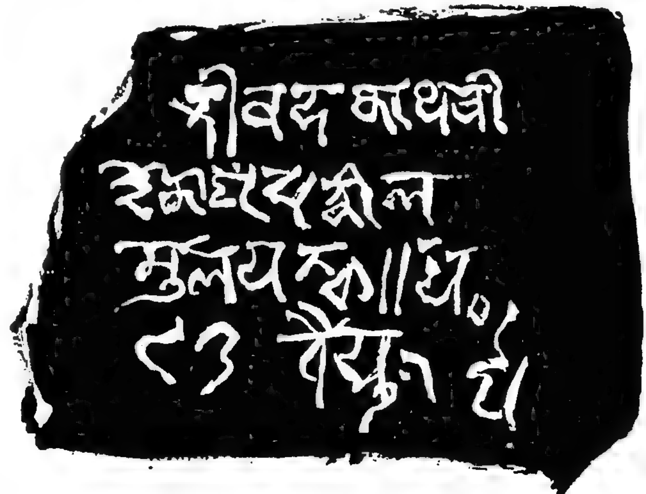
श्री शान्तिनाथ जिनालय के छत पर गूढ़-मण्डप में
अंकित जिन प्रतिमा



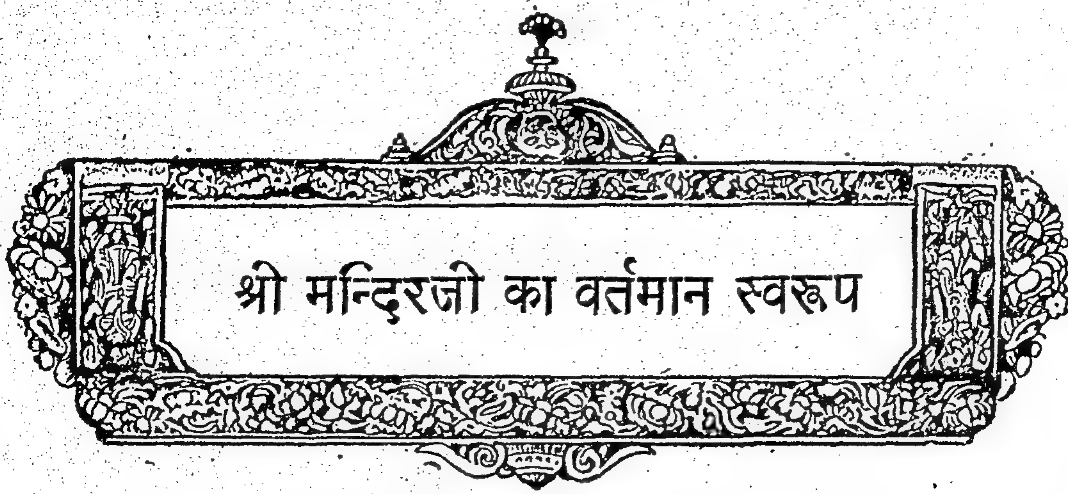
श्री समवशरण में विराजमान
श्री धर्मनाथ स्वामी



श्री ऋषभदेव (पंचतीर्थी) धातुमय प्रतिमा



अभिलेख :—रीषभनाथ वीतनाग पत्नी सं० मुलसत्क ॥ सं० १०८३ वैं० सु० १५



श्री जैन श्वेताम्बर पंचायती मन्दिर जो कि बड़े मन्दिर जी के नाम से जाना जाता है, का एक द्वार दक्षिणाभिमुख १३६ काटन स्ट्रीट में है। इस मन्दिर के आगे आज की तरह पहले इतना चौड़ा रास्ता नहीं था और न फुटपाथ ही था। परन्तु कालाकर स्ट्रीट विन्यास योजना से मन्दिर के आगे की सड़क चौड़ी हो गई। सतनारायण पार्क के निर्माण से मन्दिर खुले वातावरण में मुख्य मार्ग पर आ गया है। मन्दिर के सामने के भाग का मकराना कार्य जब पूर्ण हो जाएगा तब यह अत्यन्त भव्य एवं सुन्दर लगने लगेगा।

मन्दिर जी का दूसरा द्वार नारायण बाबूलेन में है जिसे 'बड़ा फाटक' कहते हैं। कार्तिक-महोत्सव की सवारी इसी मार्ग से निकलती है। इस मार्ग से अन्दर प्रवेश करते ही एक लम्बा गलियारा है जिसमें बाँई ओर कार्यालय का कमरा एवं कर्मचारियों के कक्ष हैं। दाहिनी ओर नम्बर ११ के मकान में जाने का मार्ग है। यह इमारत भी मन्दिर जी की सम्पत्ति है जिसका उपयोग उपाश्रय के रूप में किया जाता है और साधु-साध्वी आदि ठहरते हैं। इससे आगे प्रवेश-द्वार है जिससे अन्दर प्रविष्ठ होते ही मण्डप मिलता है जो आकाश की ओर उन्मुक्त खुला हुआ है। इस मण्डप के चारों ओर संगमरमर के २२ स्तम्भ हैं जिनके ऊपर भव्य तोरण हैं। इन तोरण द्वारों के ऊपर एवं चारों ओर की दीवारों पर वाजित्रादिरत पुतलिकाएँ लगी हुई हैं जिनकी संख्या लगभग ६० है। इसके अतिरिक्त इन्द्र आदि की प्रतिमाएँ हैं। सभामण्डप में विविध कीमती टालियों के साथ मकराणे के पत्थर में विचित्र कलापूर्ण मीनाकारी की हुई है जिसमें फिरोजा, लाजवर्द, आकूत, सोनेला आदि रत्नजाति के पत्थर जड़े हुए हैं।

प्रवेश द्वार से जब हम नाट्य मण्डप में आते हैं तो हमारा मुख पश्चिम दिशा की ओर रहता है। परन्तु उससे जब हम सभामण्डप एवं शान्तिनाथ भगवान के मन्दिर की ओर बढ़ते हैं तो हमारा मुख दक्षिण की ओर हो जाता है। क्योंकि गूढ़मण्डप एवं श्री शान्तिनाथ भगवान के मन्दिर का द्वार उत्तराभिमुख है। सभामण्डप के ऊपरी भाग में अनेक सुन्दर चित्र लगे हुए हैं। प्रत्येक चित्र निर्माता एवं चित्रकार की भावानुभूति तथा विभिन्न धार्मिक प्रकरणों की अभिव्यक्ति है।



चित्रों का विशेष विवरण अलग प्रकरण में दिया जायगा। यह गूढ़ मण्डप १० स्तम्भों पर निर्मित है। इसके छत की चित्रकारी बहुत ही सुन्दर है। अनेक पुतलिकाएं भी हैं। छत के कुछ नीचे सामने में पांच तीर्थंकरों की प्रतिमाएं मकराने के पट्ट में बनी हुई हैं।

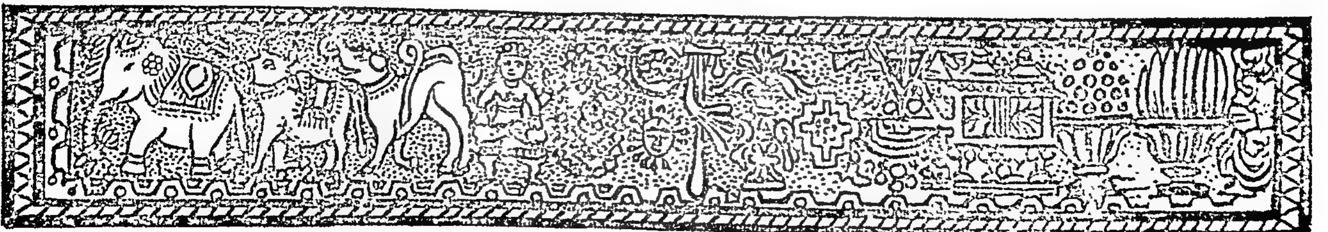
इससे आगे सामने दक्षिण में उत्तराभिमुख भगवान शान्तिनाथजी का मुख्य मन्दिर है। इस मन्दिर के अन्दर में छोटी-बड़ी अनेक मूर्त्तियां हैं, परन्तु मूलनायक के रूप में भगवान शान्तिनाथजी की ही प्रतिमा है। दोनों ओर की प्रतिमाओं में एक ओर आदिनाथ और दूसरी ओर शान्तिनाथ जी हैं। इस गर्भगृह पर चांदी के द्वार लगे हुए हैं। दोनों ओर गवाक्षों में क्रमशः पुण्डरीक एवं चक्रायुध गणधरों की प्रतिमाएं द्वार के बाहर ही क्रमशः दाहिनी एवं बाँयीं ओर में अवस्थित हैं। मन्दिर के अन्दर गर्भगृह में शान्तिनाथ स्वामी की वेदी मकराने की मेहराबदार बनी हुई है। दोनों ओर अर्थात् पूर्व एवं पश्चिम में खिड़कियां लगी हुई हैं जिनसे मन्दिर के अन्दर पर्याप्त प्रकाश तो आता ही है, साथ ही साथ दर्शनार्थी अगल-बगल से भी भगवान के दर्शन अच्छी तरह से कर सकते हैं। सभामण्डप में पूर्वाभिमुख एवं उत्तराभिमुख काला-गोरा भैरवजी अधिष्ठायक की देहरियां हैं जिनके ऊपर जिनालय के निर्माण के समय के लगे हुए एक ही आशय के दो शिलालेख हैं जो एक संगमरमर पर तथा दूसरा मिर्जापुरी पत्थर पर उत्कीर्णित है।

मन्दिरजी के दूसरे तल्ले में जाने के दो मार्ग हैं। एक तो भैरोंजी के पार्श्व से गूढ़ मण्डप से पश्चिम में है और दूसरा मार्ग नाट्य मण्डप के पास से या बड़ा फाटक की ओर से आने पर प्रवेश द्वार में प्रवेश करते ही दाहिनी ओर की सीढ़ी से है। भैरोंजी के बगल वाली सीढ़ियों से चढ़कर सीधे दर्शन-कक्ष में जाया जा सकता है। द्वारशाला के ऊपर में सभाकक्ष है। तीसरे तल्ले पर जाने के लिए छोटी सीढ़ियां हैं, जहाँ दो कमरे हैं। यहाँ पर सभामण्डप के ऊपर लोहे की चादरों से बना हुआ बड़ा गुम्बज है तथा भगवान शान्तिनाथ स्वामी के मन्दिर का २१ कलश वाला अति भव्य शिखर है।

इसके अतिरिक्त भगवान ऋषभदेवजी के मन्दिर का अलग विशाल शिखर है।

मन्दिरजी के दूसरे तल्ले पर गूढ़ मण्डप पर अष्टापद महातीर्थ का भाव संगमरमर पर बना हुआ अवस्थित है। इस संगमरमर निर्मित अष्टापद प्रतीक में सीढ़ियां हैं जिनमें नीचे की सीढ़ियों में तापस लोग तपश्चर्या करते हुए दिखाए गए हैं। इसके ऊपर की एक सीढ़ी में भगवान ऋषभदेव के १०० पुत्रों अर्थात् भरत चक्रवर्ती के भाइयों के स्तूप, रावण मन्दोदरी के नाटक के भाव भी उत्कीर्णित है। इसके बाद २४ तीर्थंकरों के धातुमय बिम्ब हैं जिनमें ४ दक्षिणाभिमुख, ८ पश्चिमाभिमुख, १० उत्तराभिमुख तथा २ पूर्वाभिमुख हैं।

शान्तिनाथ भगवान के गर्भगृह के ऊपर पश्चिमाभिमुख मूलनायक भगवान महावीर का चौमुखा जिनालय है जिसमें दक्षिणाभिमुख भगवान शीतलनाथ, तथा पूर्वाभिमुख एवं उत्तराभिमुख भगवान ऋषभनाथ स्वामी की दो प्रतिमाएं विराजमान हैं। इसके दोनों ओर बाहरी गवाक्षों में गौतम स्वामी एवं सुधर्मा स्वामी और पूर्वाभिमुख गवाक्षों में ऋषभ-



देव स्वामी की धातुमय प्रतिमाएं विराजमान हैं। सीढ़ी चढ़ते ही दाहिनी ओर महावीर जिनालय के सामने के कक्ष में दक्षिणाभिमुख वीसस्थानकजी का संगमरमर निर्मित यंत्र दिवार में लगा हुआ है और उसमें शीशा जड़ा हुआ है। जिसकी प्रतिष्ठा सम्वत् १६७६ ज्ये० शु० ५ को श्रीजिनचारित्र-सूरिजी द्वारा और स्थापना आ० सु० ७ को जयचन्दजी यति द्वारा हुई थी। उससे आगे पूर्वाभिमुख वेदियों की पंक्ति में सर्वप्रथम मुनिसुव्रत स्वामी, तत्पश्चात् क्रम से (२) दादा साहब की चरण पदुका एवं दादा जिनकुशलसूरिजी की प्रतिमा, (३) शान्तिनाथ स्वामी (४) पार्श्वनाथ स्वामी (५) सीमन्धर स्वामी, (६) पार्श्वनाथ भगवान आदि तथा ११ गणधर, (७) नवपद मण्डल, (८) पद्मप्रभुजी आदि की प्रतिमाएं हैं। महावीर जिनचौमुख जिनालय के पीछे अर्थात् पूर्व में एक लम्बी वेदी है जिसमें बहुत-सी धातुमय जिन प्रतिमाएं हैं जिनमें अनेक कई सौ वर्षों को पुरानी हैं। उसके ऊपर शत्रुंजय तीर्थ का चित्रपट लगा हुआ है। पास की आलमारी में मुद्रित ग्रंथ हैं तथा दक्षिणाभिमुख मंजूषिका में भी अनेक हस्तलिखित ग्रन्थ रखे हुए हैं। तुळापट्टी की सड़क पर अर्थात् प्रवेश द्वार पर दूसरे तल्ले में भगवान ऋषभदेव का जिनालय है जिसका निर्माण शान्तिनाथ जिनालय के पूर्व श्रीधीरजसिंहजी के द्वारा देहरासर के रूप में हुआ था। इस मन्दिर का स्नात्र मण्डप तथा सभामण्डप संगमरमर का बना हुआ है। गर्भ-गृह में भगवान ऋषभदेव—मूलनायक की दो बड़ी प्रतिमाएं हैं तथा भगवान शान्तिनाथजी की एक बड़ी प्रतिमा है। इसके अतिरिक्त अनेक छोटी प्रतिमाएं भी हैं जिनमें तीन स्फटिक की प्रतिमाएं उल्लेखनीय हैं। यहां पर किशनचन्द धनराज कोचर द्वारा निर्मापित नवपदजी का विशाल सिद्ध-चक्र मण्डल भी अवस्थित है जो चैत्री और आश्विन की ओली में मण्डल पूजा के काम में आता है। गूढ़ मण्डप १२ स्तम्भों पर अवस्थित है तथा सभामण्डप में १४ स्तम्भ लगे हुए हैं और वे सभी संगमरमर के हैं। यहाँ पर भी एक ओर अधिष्ठाता भैरवजी महाराज तथा दूसरी ओर चक्रेश्वरी एवं पद्मावती-शासन देवियां अवस्थित हैं।

वर्तमान व्यवस्था और उसका इतिहास

इस मन्दिर की वर्तमान व्यवस्था एक ट्रस्ट के अधीन है और उसकी एक नियमावली है जिसके आधार पर ट्रस्ट का गठन, ट्रस्टी का चुनाव, कार्यालय, कार्य-व्यवस्था आदि का संचालन होता है।

मन्दिर के ट्रस्ट की व्यवस्था के लिए समाज से ७ व्यक्ति ट्रस्टी चुने जाते हैं जो मन्दिर के ट्रस्ट की सारी जायदाद, लेन-देन एवं मन्दिर के सारे धार्मिक कार्यों की व्यवस्था करते हैं। इनका चुनाव प्रति पांच वर्षों पर होता है। इसके चुनाव आदि के लिए एक तरीका निश्चित किया हुआ है जो नियमावली में सन्निहित है। नियमावली बनने के पूर्व चुनाव में कुछ विलम्ब हो जाया करता था, परन्तु जब से यह नियमावली चालू हुई है, ट्रस्टियों का चुनाव बराबर समय पर होता है।

सलाहकार समिति

मन्दिर के ट्रस्ट की व्यवस्था और मन्दिर के कार्यों में सलाह-मशविरा देने के लिए एक सलाहकार समिति का गठन सन् १९५३ से प्रति वर्ष होता है जिसमें १५ सदस्य होते हैं जो ट्रस्ट के कार्यों के सम्बन्ध में अपने विचार और अपनी राय निर्धारित करते हैं और उसे ट्रस्ट बोर्ड के समक्ष



विचारार्थ प्रस्तुत करते हैं। इस प्रकार समाज की राय और विचारों की जानकारी ट्रस्टियों को होती है और वे इस वात से अवगत होते हैं कि किसी विषय के सम्वन्ध में समाज का क्या विचार है।

आय-व्यय का विवरण

प्रति वर्ष ट्रस्ट वोर्ड के आय-व्यय का हिसाव योग्य एवं निपुण लेखापरीक्षक—ऑडीटर—के द्वारा जांचा जाता है और प्रति वर्ष लेखापरीक्षक के विवरण के साथ वार्षिक आय-व्यय का विवरण श्रीसंघ की सभा में उपस्थित किया जाता है जिसके सम्वन्ध में संघ के सदस्यों को किसी प्रकार का प्रश्न जानकारी के लिए पूछने का अधिकार प्राप्त है।

मन्दिर की व्यवस्था

ट्रस्टीगण सदस्यों के प्रश्नों का समुचित उत्तर देकर उनकी शंकाओं का निवारण एवं जिज्ञासाओं का शमन करते हैं। (तत्पश्चात् संघ उसे स्वीकार करता है।) इस प्रकार इस ट्रस्ट का आय-व्यय भली प्रकार से सुरक्षित है। यदि कभी वजट में स्वीकृत राशि से किसी मद में अधिक खर्च हो जाता है, तो ट्रस्ट वोर्ड उसे श्रीसंघ के समक्ष प्रस्तुत करता है और उसके सम्वन्ध में समुचित कारण और उपादेयता को वता कर उसकी स्वीकृति प्राप्त करता है।

ट्रस्ट के कार्यो के लिए, ट्रस्ट की सम्पत्ति एवं जायदाद के लिए तथा वाहरी देशावरी तीर्थो आदि को सहायता के लिए या यदि कोई नया कार्य सामने आ जाता है, उन सभी के खर्च का एक वजट वना कर उसे श्रीसंघ से पास कराया जाता है एवं उसीके अनुसार एवं आधार पर सारे कार्य होते हैं। वजट से थोड़ी भी रकम की कमी-वेसी होने से—हिसाव परीक्षक महोदय उसके सम्वन्ध में अपनी सम्मति लिखते हैं एवं उसके सम्वन्ध में श्रीसंघ की सभा तथा सदस्यगण भी काफी पूछताछ करते हैं। अत: ट्रस्टी लोगों को काफी सतर्क होकर कार्य करना पड़ता है।

नकदी लेन-देन सभी वैंकों के द्वारा होता है। सारी रकम वैंकों में जमा होती है। किसी भी ट्रस्टी को कोई रकम अपने पास जमा करने या किसी व्यक्ति को या फर्म को व्याज पर उधार देने का नियम या अधिकार नहीं है।

जवाहरात, सोना, और चाँदी

मन्दिर की जवाहरातों, सोना-चांदी आदि की पूरी सूचि एवं विवरण है जिसकी समय-समय पर जांच की जाती है और उन्हें भंडारों में सुरक्षित स्थान में रखा जाता है तथा जिन ट्रस्टीगणों के पास भण्डार की चावियां होती हैं उनकी उपस्थिति में ही भण्डार से सामान निकाला जा सकता है या वापस रखा जा सकता है। दैनिक कार्यों में उपयुक्त होने वाली सोने-चांदी या और भी अन्य सामान मुनीम जी के जिम्मे रहता है, जो वह जिसे भी पुजारी या किसी कर्मचारी को देते हैं तो उसका हस्ताक्षर प्राप्त करने के वाद ही देते हैं। इस प्रकार इन सामानों की सुरक्षा भी व्यवस्थित है।

इस प्रकार की सुव्यवस्था को देखकर समाज के सभी व्यक्तियों को प्रसन्नता है। साधारणतया धर्म-स्थानों की अव्यवस्था को देखकर उसके निराकरण के लिए कानून पास करना पड़ा है और उसके लिए कुछ समय पूर्व जव समस्त देश के मन्दिरों की व्यवस्था की जांच के क्रम में भारत सरकार द्वारा गठित आयंगर कमीशन जव भारत के विभिन्न



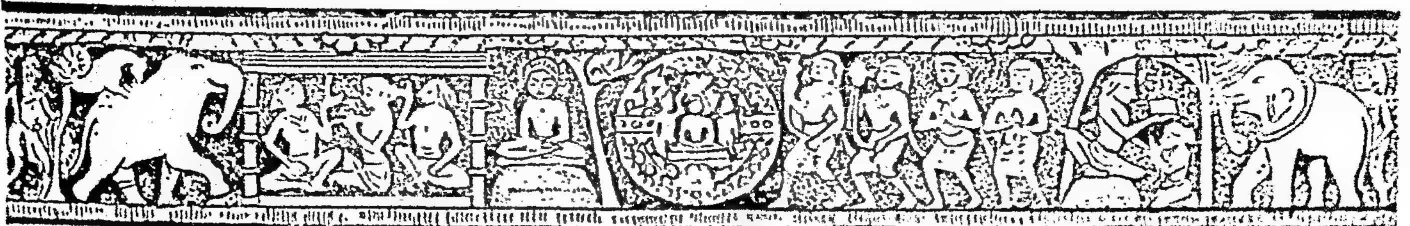
धार्मिक स्थलों का निरीक्षण और भ्रमण करता हुआ कलकत्ता आया था, तो उन्होंने भी इस मन्दिर की कार्य-व्यवस्था एवं विधान को देखकर प्रसन्नता व्यक्त की थी और उसके सदस्यों ने कहा था कि सरकार जो चाहती है, वह तो इस मन्दिर की व्यवस्था में पहले से ही है, जो इस मन्दिर की व्यवस्था के लिए गौरव की बात है।

श्री आदिनाथ स्वामी की प्रतिष्ठा के वाद से ही उसके प्रतिष्ठापक श्रीधीरजसिंह अकेले ही व्यवस्थापक, सेवायत और कोषाध्यक्ष के रूप में कार्य व्यवस्था का संचालन करते रहे। यह वात सन् १९०३ से ८० वर्ष पूर्व तक अर्थात् १८२२-२३ तक उनकी मृत्यु तक चालू रही। उनकी एक पुत्री थी जिसका व्याह श्री रद्धूलाल जौहरी से हुआ था और श्री धीरजसिंहजी की मृत्यु के पश्चात वही मन्दिर का कार्य व्यवस्थापक एवं सेवायत के रूप में संभालते रहे। उनके समय में ही १२ और १३ नम्बर नारायणप्रसाद बावू लेन की जायदाद खरीदी गई। उनकी मृत्यु के वाद सन् १८५६ के वाद श्री मुन्नालालजी जौहरी अपनी मृत्यु पर्यन्त सन् १८६६-६७ तक मन्दिर के व्यवस्थापक रहे। सन् १८६० में सेवायत और ट्रस्टी के रूप में एक आवेदन के परिणाम स्वरूप कलकत्ता के कलक्टर के द्वारा श्री कल्लूमल सेठ, श्री वलदेवदास जौहरी, श्री भैरवदास जोहरी तथा श्री बद्रीदास जौहरी का नाम रजिस्टर्ड हुआ परन्तु कार्य-कारी रूप में केवल श्री मुन्नालालजी जौहरी ही सारा कार्य भार संभालते रहें। मुन्नालाल जौहरी की मृत्यु के वाद कार्य भार एवं व्यवस्था का संचालन रद्धूलाल जोहरी के दामाद भैरवदासजी जौहरी के हाथों में आया जिनकी मृत्यु के वाद प्रतापचन्द्र जोहरी व्यवस्थापक एवं सेवायत हुए और सन् १८९२-९३ अर्थात् सम्वत् १९४९ तक कार्य भार संभाला जिनके वाद कुछ समय के लिये श्री हीरालाल जौहरी अकेले व्यवस्थापक एवं सेवायत रहे।

लेकिन वाद में इन्हीं श्री हीरालालजी जौहरी के कार्य काल में मंदिर की व्यवस्था में आमूल परिवर्तन हुआ। ततपश्चात् सन् १९३६ से ट्रस्ट वोर्ड के गठन एवं संचालन का काम सुचारु रूप से चलाने के लिए एक नियमावली बनाई गई। इसी नियमावली के अन्तर्गत आज की व्यवस्था है।

कार्तिक महोत्सव

जिस अवसर्पिणी काल में हम लोग विद्यमान हैं उसमें धर्मप्रवर्तन भगवान ऋषभदेव से हुआ और उनके पुत्र भरत चक्रवर्ती ने सर्वप्रथम शत्रुंजय का संघ निकाल कर तीर्थोद्धार कराया। संघ यात्रा में तीर्थङ्कर विम्व भी विराजमान था; क्योंकि उसमें विम्व विराजमान किया हुआ रथ रूप जिनालय का होना संघ का अनिवार्य अंग है। अतः भरत चक्रवर्ती के अनुकरण में असंख्य काल से यह परम्परा चली आ रही है। अव भी शत्रुंजय पर कार्तिक-पूर्णिमा आदि अवसरों पर चांदी, सोने के रथों में प्रभु को विराजमान कर सवारी निकाली जाती है। पुराने संघ-वर्णनों में भगवान को चैत्यालय-रथों में विराजमान कर साथ में रखे जाने का वर्णन तो मिलता ही है, पर ३५० वर्ष पूर्व थाहरूसाह भन्साली द्वारा निकाले गये संघ के रथ का दर्शन आज भी लोद्रवपुर के प्राचीन मन्दिर में किया जा सकता है। यद्यपि रथ प्राचीन हो गया है पर ऐतिहासिक वस्तु होने से



प्रेक्षणीय है। भारतवर्ष में जगन्नाथपुरी की रथ-यात्रा विशेष प्रसिद्ध है। विद्वानों के अभिमत में वह शंकराचार्य के पूर्व में जैन मन्दिर ही था और आश्चर्य नहीं कि वहां की रथ-यात्रा किसी प्राचीन जैन परम्परा का ही अनुगमन हो।

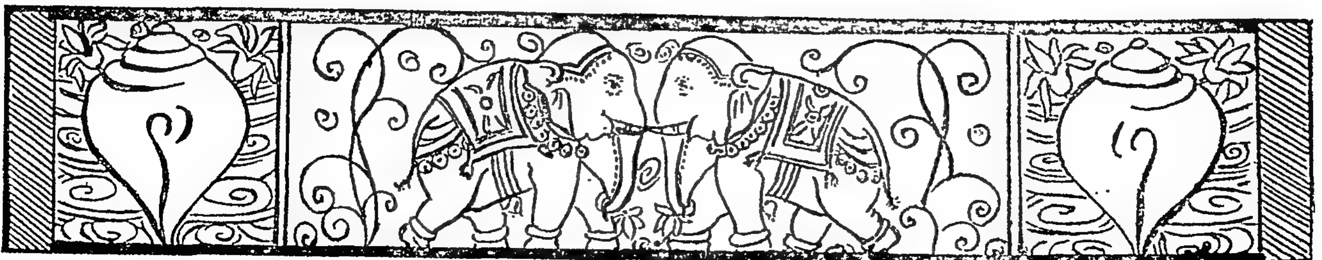
जैन परम्परा में रथ-यात्रा महोत्सव आदि अत्यन्त प्राचीन काल से प्रचलित है।

कलिकाल सर्वज्ञ भगवान हेमचन्द्राचार्य ने परिशिष्ट-पर्व में श्री आर्यसुहस्तिसूरि के प्रबन्ध में रथयात्रा का जो विशद वर्णन किया है और सम्राट अशोक के पौत्र सुप्रसिद्ध जैन सम्राट सम्प्रति की अनन्य भक्ति और जिनशासन की महती प्रभावना का, जनता-जनार्दन के उल्लासपूर्ण गीत, नृत्य, वाजित्र आदि का चित्र खींचा है, उसका श्रवण करने से हृदयसागर की भक्ति-उर्मियां चंचल होकर उछलने लगती हैं, तो प्रत्यक्षदर्शी लोगों ने अपने कितने दुष्कृत्य कल्मष का नाश किया और सम्यक्दर्शन प्राप्त कर मोक्ष पथगामी हुए, इसका सहज अनुमान किया जा सकता है। इसी प्रकार परमार्हत महाराजा कुमारपाल के द्वारा निर्मित रथ-यात्रा का वर्णन भी अत्यन्त प्रशस्त और प्रभावोत्पादक है।

कलकत्ते में जब मन्दिर और दादावाड़ी का निर्माण हो गया तो संघ ने शीघ्र ही इस उत्सव के लिए कार्तिक-पूर्णिमा को ही चुना, क्योंकि चातुर्मास की परिसमाप्ति और श्रमण भगवान महावीर और उनके श्रमणों के विहार का समय होने से एवं चातुर्मास भर में किए गए धर्म कार्यरूपी प्रासाद के शिखर पर कलशारोपण स्वरूप कार्तिक-महोत्सव महापर्व प्रति वर्ष जैन धर्म की विजय-वैजन्ती फहराते हुए धर्मप्रभावना को अत्यधिक प्रसारित करने वाला है। इसकी विशिष्ट आवश्यकता अनुभव कर संघने बड़ा ही मनोज्ञ और कलापूर्ण समवशरण भी बनवा लिया था जिसका विवरण आगे प्रस्तुत किया जायगा।

चातुर्मास का प्रारम्भ आषाढ़ शुक्ला १४-१५ को होकर मिति कार्तिक शुक्ला पूर्णिमा को समाप्त होता है और इस अवसर पर भारत में अन्य स्थानों पर भी जैन संघ द्वारा शत्रुंजय तीर्थपट दर्शन, वन्दन, पर्व-व्याख्यान-श्रवण, उपवास, रथ-यात्रा महोत्सव, आदि पर्वाराधन किया जाता है।

कलकत्ते का कार्तिक महोत्सव या जैन रथ-यात्रा उत्सव भी भारत-विख्यात एक वार्षिक पर्व है। इस मनोहर और प्रभावोत्पादक उत्सव को प्रत्येक दर्शक आजीवन नहीं भुला सकता है। यों तो कलकत्ता में आये दिन नाना प्रकार के जुलूस निकलते ही रहते है, परन्तु कार्तिक महोत्सव की विशालता, व्यापकता और सुव्यवस्था अनूठी है और इस लिए कोई भी उत्सव इसके समकक्ष नहीं आ सकता। श्वेताम्बर और दिगम्बर उभय समाज का मिलकर लगभग एक मील लम्बा जुलूस हो जाता है। दर्शकों को पहले से बैठने के लिए व्यवस्था न करने पर स्थान-प्राप्ति भी दुर्लभ-हो जाती है। सड़कों पर उभय पक्ष के जुलूस में जनता-जनार्दन नदी के प्रवाह की भांति उमड़ पड़ती है और घण्टों तक आत्मविभोर होकर निर्निमेष दृष्टि से जुलूस का निरीक्षण करती रहती है। श्री पार्श्वनाथ भगवान के नाम से प्रसिद्ध श्री धर्मनाथ स्वामी की शोभा-यात्रा और राय बद्रीदास बहादुर द्वारा निर्मित श्री शीतलनाथ जिनालय के कारण जैन धर्म को बंगाल का बच्चा-बच्चा जानता है।



पंचायती मन्दिर की सम्वत् १८८३ से जो आंकड़ा वहियां मिलतीं हैं, उन्हें अनुसन्धान करने पर काफी रोचक तथ्य सामने आते हैं। यथा सम्वत् १८८३ में अगर सवारी का खर्च बाद देकर बचत १५७ रु० थी तो १८९३ में वही बचत बढ़कर १६६१ रु० हो जाती है और १९१३ में ३१३५ रु० हो जाती है।

इस प्रकार उपर्युक्त विवरण कलकत्ता में श्वेताम्बर जैनों की संख्यावृद्धि के अनुपात से आमदनी का विकास-क्रम उपस्थित करता है। साथ-ही-साथ यह प्रश्न तो उपस्थित ही रहता है कि इस महोत्सव का प्रारम्भ किस सम्वत् में हुआ? गत १३८ वर्षों से इस रथ-यात्रा महोत्सव सवारी के अविच्छिन्न रूप से निकलने के प्रमाण हैं। अनुमानतः इससे १०-१२ वर्ष पूर्व अर्थात् मन्दिर की प्रतिष्ठा के साथ ही साथ कार्तिक महोत्सव का प्रारम्भ हो गया था क्योंकि दादासाहब के बगीचे में गुरुदेव के चरणों की प्रतिष्ठा सम्वत् १८६७ मिती आषाढ़ शुक्ला ९ को तथा श्री शान्तिनाथ जिनालय (पंचायती मंदिर) की प्रतिष्ठा संवत् १८७१ माघ शुक्ला ६ को हुई थी। इससे पूर्व देहरासर रूप में आदिनाथ जिनालय विद्यमान था ही। अतः इन्हीं सम्वतों में और सम्वत् १८८३ से पूर्व महोत्सव की सवारी चालू है ऐसा अनुमान है किया जाता है।

समवशरण

कार्तिक महोत्सव की सवारी में जो धर्मनाथ स्वामी का भव्य दर्शनीय समवशरण निकलता है, वह सम्वत् १८९३ में हेमिलटन कम्पनी को बनाने के लिए दिया गया था। यह समवशरण १२७ वर्ष पूर्व का बना हुआ होने पर भी इतना भव्य, मनोहर और कलापूर्ण है कि मानो आज ही बनकर तैयार हुआ हो ऐसे लगता है।

कार्तिक महोत्सव का प्राचीन चित्र

जैन समाज के अग्रगण्य सुप्रसिद्ध जौहरी स्वर्गीय राय बद्रीदास बहादुर द्वारा निर्मापित शीतलनाथ जिनालय—जिसका सम्वत् १९२३ में निर्माण हुआ था—के मण्डपों पर कई जैन तीर्थ, जिनकल्याणक, ऐतिहासिक तथा कथा-साहित्य आदि के सुन्दर और विशाल चित्र लगे हुए हैं, जिनकी संख्या ४० से कम नहीं है। इसका निर्माण सम्वत् १९२५ के आसपास होना सम्भावित है। इन चित्रों में एक चित्र कार्तिक महोत्सव की रथ-यात्रा का है, जो ६३ इञ्च लम्बा और १७ इञ्च चौड़ा है। सौ वर्ष पूर्व यह जुलूस किस प्रकार निकलता था, उसका इस चित्र में अच्छा ऐतिहासिक निर्देशन है। पाठकों की जानकारी के लिए यहां पर इस चित्र का संक्षिप्त परिचय प्रस्तुत किया जाता है।

इस लम्बे चित्र में सबसे आगे लाल रंग की पोशाक व सफेद टोपधारी दो व्यक्ति पताका लिए चल रहे हैं। इनके पीछे कई व्यक्तियों द्वारा खींचा जाने वाला नौबतखाना है, जिसमें बैठे हुए चार व्यक्ति वाजित्र-वाद्य बजा रहे हैं। इसके उभय पक्ष में श्वेत टोपधारी अश्वारोही चल रहे हैं। तत्पश्चात् लाल शेरवानी तथा बटदार पगड़ी वाले चपरासी पताका धारण किये हुए मार्ग के उभय पक्ष में चल रहे हैं। फिर छड़ीदारों की पंक्ति व तदनुगामी मार्गावरोधक यष्टि-कावगाही पंक्ति चित्र के शेष तक चली गई है। रास्ते के मध्य में नौबतखाने के पश्चात् गगनस्पर्शी इन्द्रध्वज-महेन्द्र-ध्वज चलता हुआ "जैनं जयति शासनम्" की दिव्य पताकाएं फहरा रहा है और फिर इसीका अनुगामी लघु इन्द्रध्वज चल रहा है। नालकी, पालकी, म्याना, सुखाशन, कल्पवृक्ष,



तीन छत्र घण्टियों वाली शिविका के पास श्री महताबचन्दजी व बलदेवदासजी खड़े हैं। तत्पश्चात् बाजे वाले अपने वाद्य-यन्त्रों को बजाते हुए चल रहे हैं। इनके उभय पक्षों में दो अश्वारोही कुमार, व दो कुमार काली बच्चा-गाड़ी में बैठे हुए हैं। बाजे के पश्चात् जौहरी साथ, शहर वाली, मारवाड़ी तथा कच्छी पगड़ी धारण किये हुए श्रावक समुदाय चल रहा है। सबसे अग्रगामी श्रीमन्दिरजी के ट्रस्टी गण हैं, जिनके हाथों में स्वर्णमय छड़ी सुशोभित है। इनमें से एक महाशय का नाम श्री भैरवदासजी तथा दूसरे सज्जन का नाम भगवानदासजी हैं। श्री मुरारजी व पाण्डे बालमुकुन प्रभु के सम्मुख कर-बद्ध खड़े हैं। भगवान के समवशरणजी को उठाने वाले भाग्यशाली श्रावकों में सर्वप्रथम बद्रीदासजी, कल्लूमलजी तथा शिखरचन्दजी हैं। दूसरे भाइयों के नाम नहीं लिखे गये हैं। भगवन्त के समवशरण के पांच शिखर व कई स्तम्भ सुशोभित हैं। इस स्वर्णमय समवशरण के ऊपरी भाग में फहराने वाली ध्वजाएं भी स्वर्णमय हैं। समस्त दर्शकों के आशाकेन्द्र श्री धर्मनाथ स्वामी समवशरण में विराजमान हैं जिनके मुकुट, कुण्डल, हार, बाजूबन्द, श्रीफलादि अलंकार सुशोभित हैं। समवशरण के पृष्ठ भाग में पंखा, किर्राणया व छत्रवाहक लोग चल रहे हैं। तदुपरांत लखनऊ गद्दी वाले त्यागमूर्ति खरतरगच्छाचार्य श्रीपूज्य श्री जिनकल्याणसूरिजी महाराज की दुर्बल किन्तु तेजस्वी देह के दर्शन होते हैं। सूरिजी के पीछे दो चामरधारी तथा आठ यतियों का समुदाय चल रहा है और दाहिने और पीछे तक श्रावक समुदाय परिवेष्ठित है।

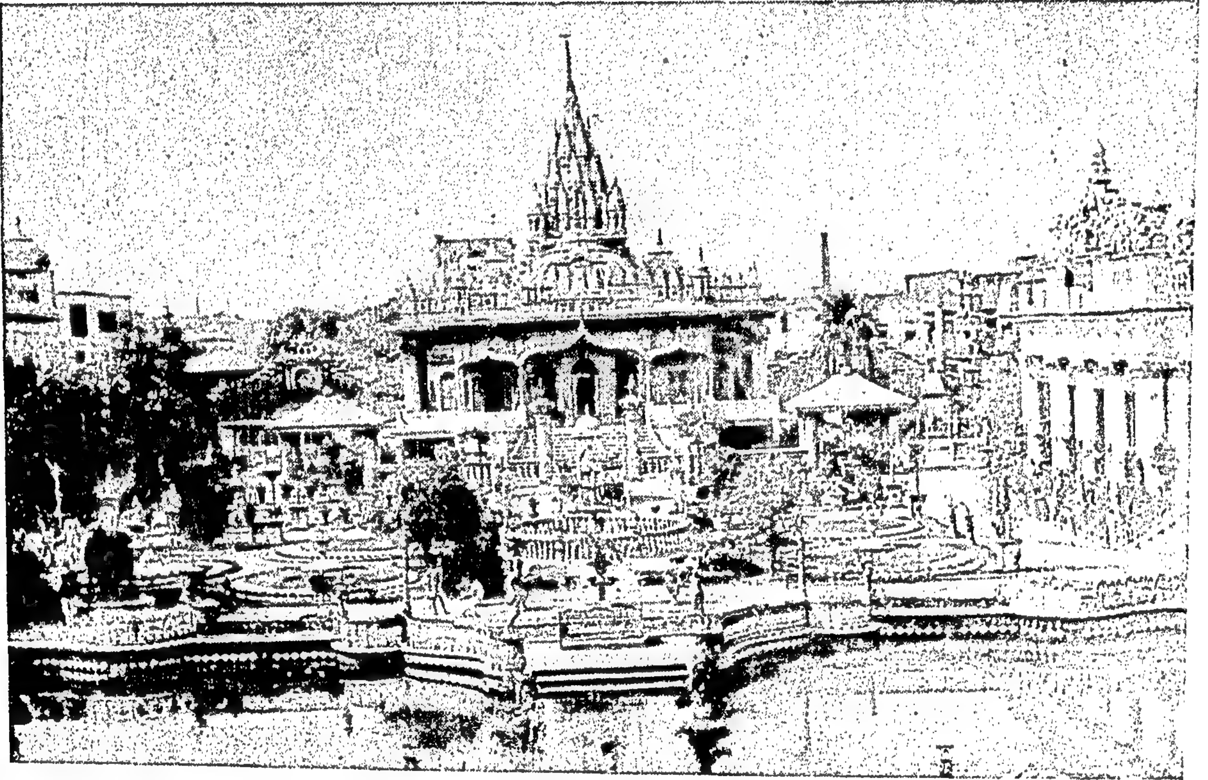
इस कार्तिक महोत्सव की शोभा-यात्रा में सम्मिलित होने वाले सभी महानुभावों के मुखमण्डल आनन्दोल्लास पूर्ण एवं हृदय भक्तिसिक्त मालूम पड़ते हैं। चित्र के ऊपरी भाग में निम्नलिखित शीर्षक है :—

"श्रीधर्मनाथ स्वामी की असवारी कार्तिक महोच्छव का"

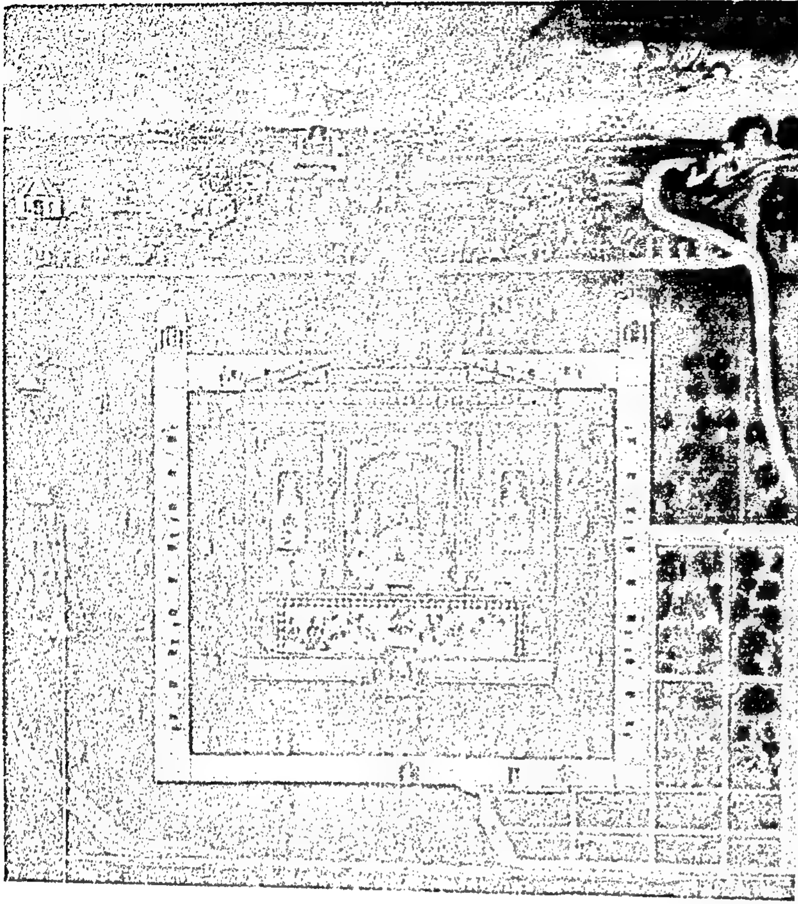
कार्तिक महोत्सवजी की असवारी का इतिहास और प्राचीन रूप का संक्षिप्त दिग्दर्शन कराने के पश्चात् पाठकों को वर्तमान स्वरूप का परिचय देना भी आवश्यक है। यह शोभा-यात्रा भगवान के विहार का प्रतीक है। जिस प्रकार भगवान के आगे इन्द्रध्वज चलता हुआ शोभा देता था, उसी प्रकार सबसे आगे पंचवर्णी पताकाओं वाला इन्द्रध्वज सर्व-धर्म समन्वय एवं अनेकान्तवाद का अमर पाठ पढ़ाता है। नानाप्रकार के वाद्ययन्त्र, देवदुन्दुभि आदि प्रतिहार्यों के एवं इन्द्र का विशाल श्वेत ऐरावत हाथी सौम्यता एवं अतुल्य बल का प्रतीक है। रजतमय नौबतखाना और उसके ऊपर घूमने वाली पुतलिकाएं नृत्यनाटकादि का आभास कराती हैं। नाना प्रकार के वाद्य और वाजित्रों का आयोजन रहता है जिनमें बंगीय सम्भ्रान्त युवकों की कतिपय वाद्यमण्डलियां अपने विविध वाद्ययन्त्रों सहित केवल भक्ति भाव व्यक्त करने के लिए उपस्थित होकर वाद्य-ध्वनि प्रसारित कर व्योममण्डल को गुंजायमान कर देती है। डङ्काओं का निनाद निकटस्थ व्यक्ति की वाणी सुनने में बाधा देता हुआ सुदूर गगनमण्डल में परिव्याप्त हो जाता है। जैन क्लब, जैन श्वेताम्बर मित्र मण्डल, श्री जैन सभा, वीर मण्डल, आदीश्वर मण्डल आदि की संगीत टोलियां अपने सुमधुर कंठध्वनि से भक्ति एवं उल्लासपूर्वक भजन गाती हुई दर्शकों का ध्यान आकर्षित करती हुई कर्णमधुरिताभिभूत व्यक्तियों द्वारा अधिक ठहरने



श्री बद्रीदास जौहरी कारापित



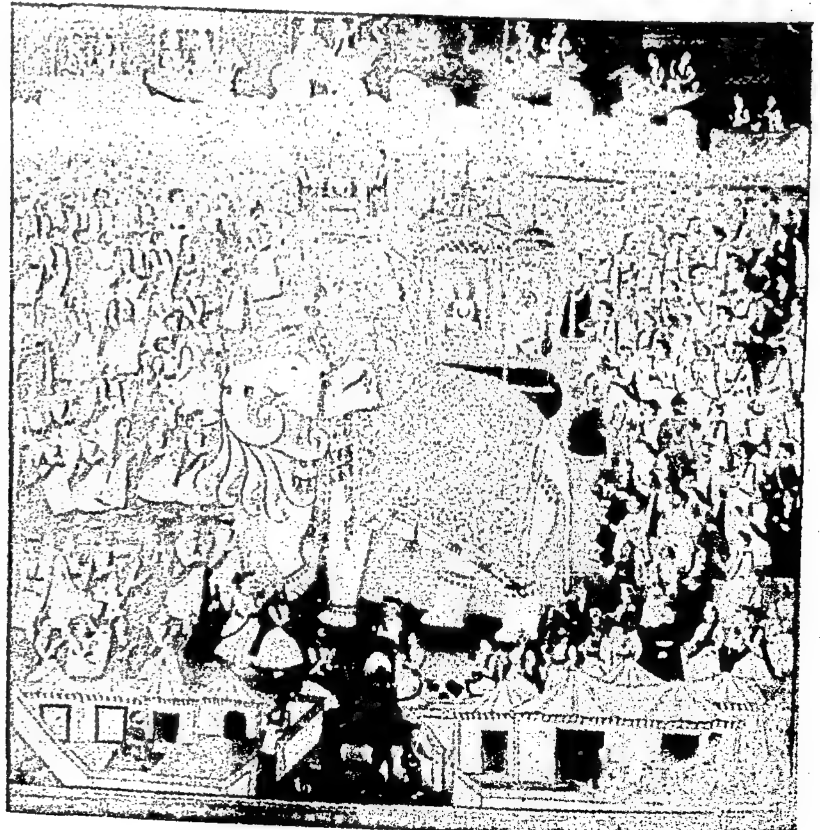
श्री शीतलनाथ जिनालय (देखिये पृष्ठ ३४)



श्री गोडी पार्श्वनाथजी का चित्र
(पृष्ठ ४३ चित्रांक १)



श्री हस्तिनापुर तीर्थ
शान्तिनाथ जिनालय
(पृष्ठ ४५ चित्रांक ७)



का आग्रह करती है। सवारी में सजावट की सामग्री भी बोधदायक एवं भाव-पूर्ण है। रजतमय षड्लेश्या वृक्ष, शिविका, सिंहासन, फूलघरा, दीपमन्दिर, कल्पवृक्ष, चतुर्दश महास्वप्न, सुमेरुगिरि, लघु समवशरण, धूपदान और दीपक आदि नाना अलंकरणों में भगवान महावीर के चण्डकोशिक सर्प-दंश एवं कानों में कील ठोकने के उपसर्ग के भावपूर्ण अलंकार बंगीय मूर्तिकला के सुन्दर उदाहरण हैं। विविध भक्तिभाव युक्त अलंकरणों के पश्चात् अन्त में धर्मनाथ स्वामी के समवशरण का दर्शन होता है। इस स्वर्ण रजत-मय गुरुतर समवशरण को आठ भाग्यशाली भक्त अपने कन्धों पर वहन करते हैं। जिस प्रकार प्रातः स्मरणीय पूज्यपाद श्री भगवन्त अष्ट कमलों पर पैर रखते हुए विचरते थे, उसी प्रकार आठ भव्यात्माओं के वहन करने का भाव ठीक भग-वान की विद्यमानता की झांकी भक्त-हृदय में उत्पन्न करती है। समवशरण के उभय पक्ष में चामर-युगल, छत्र, किरणि-यादि वहन किये जाते हैं। इतने लम्बे जुलूस की व्यवस्था के हेतु लाल, हरी एवं नानारंगी झंडियों का सावधानता पूर्वक प्रयोग किया जाता है ताकि मार्ग में सूनापन दृष्टि-गोचर नहीं हो। जुलूस में सम्मिलित होने वाले महानुभाव प्रभु के प्रति बहुमानार्थ नंगे पांव चलते हैं। जुलूस के संचा-लन की सुचारु व्यवस्था श्री जैन क्लब करती आ रही है। इस अवसर पर ट्रामवे कम्पनी एवं बिजली कम्पनी अपने विद्युत् तारों को खोलकर इन्द्रध्वज का मार्ग उन्मुक्त करने में संलग्न रहती है तथा नगर की ट्राफिक पुलिस यातायात के नियन्त्रण की व्यवस्था करती है।

कार्तिक महोत्सव की रथ-यात्रा में दिगम्बर समाज की मान्यता भी एकसी है और उनकी सवारी भी साथ-ही-साथ निकल कर बांसतल्ला गली की मोड़ पर आ जाती है और धर्मनाथ भगवान की सवारी निकल जाने पर दिगम्बर समाज की भगवान पार्श्वनाथ स्वामी की सवारी भी आ मिलती है। दोनों समाज के व्यक्ति एक दूसरे की सवारी में प्रेमपूर्वक सम्मिलित होते हैं और भजन मण्डलियां भी पार-स्परिक योग-दान करती हैं। दर्शन करने के लिए लाखों जैनेतर आते हैं और राज्यपाल, मन्त्रीगण एवं वरिष्ट शासक वर्ग और राजदूत इत्यादि भी जोड़ासाकू राजवाड़ी में उप-स्थित होकर जिन-दर्शन से लाभान्वित होते हैं। बंगाल की जनता भावुक है और वह वीतराग जिनेश्वर का दर्शन कर आत्मविभोर हो उठती है। भक्ति और तल्लीनता में तो वह जैनों से भी दो कदम आगे प्रतीत होती है।

श्वेताम्बर समाज की सवारी माणिकतल्ला स्थित दादाजी महाराज के बगीचे में जाती है और मार्गशीर्ष कृष्णा २ को तुलापट्टी जैन मन्दिर में वापस आती है तथा दिगम्बर समाज की सवारी मिति मार्गशीर्ष कृष्णा ५ को चावल पट्टी स्थित जैन मन्दिर में लौटकर इसी समारोह के साथ आती है। इसी बीच वहां सहधार्मिक वात्सल्य जीमन, पूजन, भजन आदि का आयोजन रहता है तथा वापस मन्दिरजी में प्रवेश होने पर नानाप्रकार की बोलियों द्वारा अपना द्रव्य सफल करते हैं।





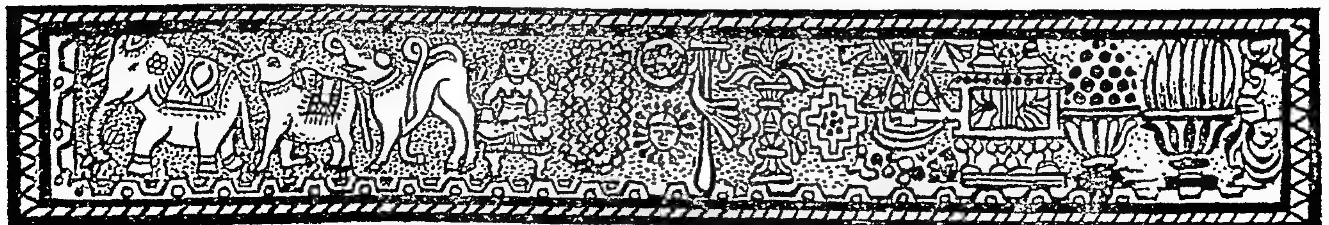
दादावाड़ी

जैन धर्म में गुरु का महत्व देव के समकक्ष है। पंच-परमेष्ठी में अरिहंत, सिद्ध देव और आचार्य, उपाध्याय व साधु गुरु पद में हैं। तीर्थङ्करों के स्थापित चतुर्विध संघ के संचालक और मार्गदर्शक सद्गुरु आचार्य होते हैं। समय-समय पर शैथिल्य दोष परिहार एवं शासन पर आई हुई आपत्तियों से रक्षा करने में उनका बड़ा भारी हाथ रहता है और इसी कारण संघ सनाथ कहलाता है। जैन शास्त्रों में पंचम काल में ऐसे महान् प्रभावक २००४ युग-प्रधान महापुरुषों का प्रादुर्भाव वर्णित है, जो क्षायिक सम्यक्त्वी और प्रायः एक या अल्प भवधारी होंगे। मनुष्यों की तो बात ही क्या, देव और देवेन्द्रादि भी युगप्रधान पुरुषों की चरण-सेवा में संलग्न रहते हैं और उनकी पूजा की जाने की शास्त्राज्ञा है। दादा श्री जिनदत्तसूरिकृत उपदेश पद की निम्न गाथाएँ द्रष्टव्य हैं :—

दुप्पसहोजा साहू होहिंति जुगप्पहाण आयरिया।
अज्ज सुहम्मप्पभिइं चउरहिया दुन्निओ सहस्सा ॥२१॥
सोचेवणायमोदय वयण सूरित्थ (ग) णा व सेसाइं (सेण)।
तं तह आराहेज्जा जहतित्थयरेय चउव्वीसं ॥२२॥
खाइग सम्मद्दिट्ठिं जुगप्पहाणागमं च दुप्पसहं।
दसवेयालिय कहिगं जिणं व पूएज्जतियसवई ॥२५॥
एवं निय नियकाले जुगप्पहाणो जिणव्व दट्ठव्वो।
सुविणे विभाण सोयं मन्नई पड़िसोय गामीय ॥२६॥

युगप्रधान पुरुष आत्मज्ञानी और अनुभवमूलक सत्प्रवृत्तियों के केन्द्र होते हैं। जिस प्रकार भावी तीर्थङ्करों की उपासना भी तीर्थङ्करों के सदृश ही की जाती है, उसी प्रकार क्षायिक-दर्शन वाले महापुरुषों को भी समझना चाहिये। जिस प्रकार जिनालय साक्षात् भगवान के समवशरण के प्रतीक हैं और मुमुक्षु प्राणियों के मोक्ष-साधन में प्रबल प्रेरणामूलक अवलम्बन हैं, उसी प्रकार प्राचीन काल से गुरुजनों के स्मारकों के प्रमाण व अवशेष भी हमारी पूर्व परम्परा के समर्थक हैं। उनका सुसंगठित रूप दादावाड़ी संज्ञक उपासनागृह भी गत आठ सौ वर्षों से जैन समाज में विशिष्ट आदरणीय और उपयोगी प्रमाणित हुए हैं। उनमें युगप्रधान महापुरुषों की चरण-पादुकाएं एवं प्रतिमाएं विराजमान होती हैं और उनकी उपासना और अनन्त उपकारों को स्मरण करना सम्यग्दर्शन प्राप्ति में अनन्य सहायता की उपलब्धि का विशिष्ट हेतु है। भारतवर्ष में ऐसी दादा-वाड़ियां हजारों की संख्या में हैं और वे जैन समाज की अमूल्य आध्यात्मिक सम्पत्ति है।

कलकत्ता नगर के उत्कर्ष के साथ-साथ जैनों की जब बस्ती बढ़ने लगी, तो उपासनालयों का निर्माण भी अनिवार्य हो गया। इसलिए मानिकतल्ला के निकट कलकत्ता जैन संघ ने विशाल भूमि-खण्ड खरीद कर बगीचे में दादा-वाड़ी का निर्माण कराया और सं० १८६७ मिति आषाढ़



शुक्ला ९ बुधवार को दादा श्री जिनदत्तसूरिजी, श्री जिनचन्द्रसूरिजी, श्री जिनकुशलसूरिजी एवं श्री जिनभद्रसूरिजी महाराज के चरणपादुके एवं सं० १८६८ मिति वैसाख सुदी ६ गुरुवार के दिन श्री स्थूलिभद्र स्वामी के चरण पार्श्वचन्द्रगच्छीय जैनाचार्य श्री लब्धिचन्द्रसूरिजी के कर कमलों से प्रतिष्ठित करवाये। उस वाटिका में सरोवर, कोठी आदि का निर्माण हुआ तथा समय-समय पर इमारतों का निर्माण, जीर्णोद्धार, आदि हुआ। जौहरी बाजार के धर्मकांटे की आमदनी में एक पांती दादासाहब के बगीचे की भी है जिसके द्वारा हजारों रुपये प्रति वर्ष आते रहते हैं।

बंगाल की दादावाड़ियों में रंगपुर, ढाका, हुगली, बालुचर, अजीमगंज और कलकत्ता की दादावाड़ी का उल्लेख कवि अमरसिंधुर ने सं० १८९२ बम्बई में निर्मित ६५ गाथा के स्तवन में इस प्रकार किया है :—

राजे गुरु रंगपुरै भल रीत,
पाटलिपुर मांझ वाधी वहु प्रीत ॥५७॥
वालोचरे अजीमगंज वखाण, कहुं कलिकितै कीरत जाण।
ढाकै हुगलीपुर पूरे प्रेम, दीपे गुरु देरै साचो तेम ॥५८॥

बड़े मन्दिरजी से कार्तिक-महोत्सव की सवारी भी लगभग १५० वर्षों से दादाजी के वगीचे में ही प्रति वर्ष आती है और सं० १८८३ अर्थात् १३८ वर्ष के प्राचीनतम विवरण, मन्दिरजी के खाता वही से यह प्रमाणित है जिसका वर्णन कार्तिक महोत्सव के प्रकरण में किया गया है। इस दादावाड़ी में विदेशी पर्यटकों एवं दर्शकों का जमघट लगा रहता है। कलकत्ता संघ के सभी जीमनवार भी प्रायः यहां ही होते हैं। यहां सभी तरह की सुविधाएं प्राप्त हैं।

दादासाहब के दर्शन-पूजन के निमित्त कई महानुभाव प्रतिदिन एवं सोमवार को तो सैकड़ों व्यक्ति वहां जाते हैं। यहां पर जिन पाँच महान् जैनाचार्यों के चरणपादुकाएँ प्रतिष्ठित हैं, उनका संक्षिप्त परिचय यहां देना भी आवश्यक है। अतः वह भी पाठकों की जानकारी के लिए प्रस्तुत किया जा रहा है।

चौदह पूर्वधर श्री स्थूलिभद्र स्वामी

ब्रह्मचर्य सभी व्रतों में सर्वोपरि है। जिसकी आत्मा सबल है वही अपने व्रत को हर परिस्थितियों में अखण्ड रख सकता है अन्यथा अवसर आने पर फिसलने से कोई विरला ही व्यक्ति संभल सकता है। जो महापुरुष इस अग्नि परीक्षा में खरे उतरते हैं और अखण्ड शील-गुणयुक्त हैं उनके चरणों में देव, दानव और हिंस्र पशु तक नत हो जाते हैं, मानव की तो बात ही क्या है? श्री स्थूलिभद्र स्वामी एक ऐसे ही शीलसम्पन्न अद्वितीय महात्मा हुए हैं जिनकी चौरासी चौवीसी तक कीर्ति पताका फहराती रहेगी।

एक समय स्थूलिभद्र स्वामी ने गुरु की आज्ञा से कोशा वेश्या के यहां चातुर्मास किया। दूसरे गुरुभ्राता साधु ने सिंह गुफा में, तीसरे ने सांप की वांबी पर और चौथे ने कुएं की मेखला पर चातुर्मास किया। यद्यपि देखने में सबसे सरल और सुखदायी निवास स्थूलिभद्र स्वामी का प्रतीत होता है, परन्तु सर्वाधिक कठिन कार्य उन्हीं का था क्योंकि वर्षाकाल में मेघ का गर्जारव, विजली की चमक, मयूर, दादुर और पपीहों के उत्तेजक शब्द, वेश्या की कामुक दृश्यों से परिपूर्ण चित्रशाला में रहते हुए प्रतिदिन षटरस भोजन



करते हुए हाव-भाव नाटक और उस पर भी चिर परिचिता सुन्दरी वेश्या के द्वारा किये गए सारे प्रयोगों को महामुनि स्थूलिभद्र ने निरर्थक कर दिया। उनका रोम मात्र भी विचलित नहीं हुआ। इतना ही नहीं उन्होंने अपनी जितेन्द्रियता और उपदेशों द्वारा उस कोशा वेश्या को ही शीलवती श्राविका बना दिया। काजल की कोठरी में रहते हुए भी वह बेदाग निकले।

चातुर्मास पूर्ण होने पर चारों मुनि गुरु के पास पहुँचे। जब तीनों मुनि आए तो गुरु ने दुष्कर कारक शब्दों द्वारा स्वागत सत्कार किया, परन्तु जब स्थूलिभद्र स्वामी आए तो गुरु ने उठ कर दुष्कर-दुष्कर कारक कहते हुए स्वागत किया। सिंह गुफावासी साधु ने अमर्षपूर्वक दूसरे चातुर्मास कोशा वेश्या के यहां करने की इच्छा व्यक्त की और गुर्वाज्ञा की अवगणना करके उसके यहां गया। वह वेश्या के रूप से विचलित हो गया तो वेश्या ने कहा—'धन लाओ' साधु ने धन-प्राप्ति का उपाय पूछा तो कोशा ने कहा कि नेपाल जाओ। वहां के महाराजा याचकों को सवा लाख सोनैयों के मूल्य का रत्नकम्बल देते हैं, उसे ले आओ। वह मुनि वर्षाकाल में ही नेपाल जाकर रत्न-कम्बल लाया और वेश्या को भेंट किया। वेश्या ने उससे पांव पोंछकर उसे मोरी में फेंक दिया। मुनि ने कहा कि मैं तो उसे बहुत कष्टपूर्वक लाया था और तुमने उसे अज्ञानतावश नाली में डाल दिया। वेश्या ने उसे प्रतिबोध देने के लिए कहा—'मूर्ख और अज्ञानी कौन है? उभय लोग में सुखदायी और इस रत्न-कम्बल से भी अनन्त मूल्यवान महान् दुर्लभ चारित्र-रत्न को तुमने मेरे अपवित्र शरीर पर डाल दिया।' वेश्या के वचनों से प्रतिबोध पाकर मुनि ने गुरु के समक्ष अपने अपराधों का प्रायश्चित किया।

एक बार राजा ने कोशा वेश्या के पास एक सारथी को भेजा। उसने गवाक्ष में बैठे-बैठे बाणावलि की परम्परा से आम्र गुच्छ को तोड़ कर कोशा को समर्पण कर अपनी कला का प्रदर्शन किया। कोशा ने थाल में सरसों की ढेरी पर सूई रख कर उस पर पुष्प रखा और उस पर अद्भुत नाटक किया और गाथा सुनायी :—

न दुक्करं अंबय लुंबि तोडणं, न दुक्करं सिक्खिय नच्चियाए।
न दुक्करं तंच महानुभावो, जंसो मुनि पमय वणम्मिवुच्छो॥११॥

अर्थात् आम्र लुम्ब तोड़ना दुष्कर नहीं है, सरसों पर नाचना भी दुष्कर नहीं है। पर दुष्कर तो वह है जो महामुनि स्थूलिभद्र ने स्त्रियों में रहकर भी अखण्ड ब्रह्मचर्य पालन किया।

वेश्या ने कहा कि वह १२ वर्षों तक मेरे साथ रहे, फिर दीक्षा ली, फिर चौमासा करने आए, मेरे हाव, भाव आदि सारे अस्त्र-शस्त्रों को निष्फल करके अखण्ड ब्रह्मचर्य पूर्वक वापस गए। सारथी ने भी इस उदाहरण से वैराग्य पाकर दीक्षा ली।

एक बार द्वादश वर्षी दुष्काल के अन्त में पटना में साधु संघ एकत्रित हुआ और पुनरावृत्ति के अभाव में कितने ही साधु सिद्धान्त विस्मृत हो गए तो दृष्टिवाद पढ़ाने के लिए भद्रबाहु स्वामी को नेपाल के दो साधुओं के साथ निमन्त्रित किया। भद्रबाहु स्वामी ने महाप्राणायाम ध्यान प्रारम्भ किया था। अतः न जाने पर संघ ने संघाज्ञा उल्लंघन का दण्ड पूछा, तो भद्रबाहु स्वामी के कारण दर्शाने पर संघ ने स्थूलिभद्रादि पांच सौ साधुओं को नेपाल भेजा।



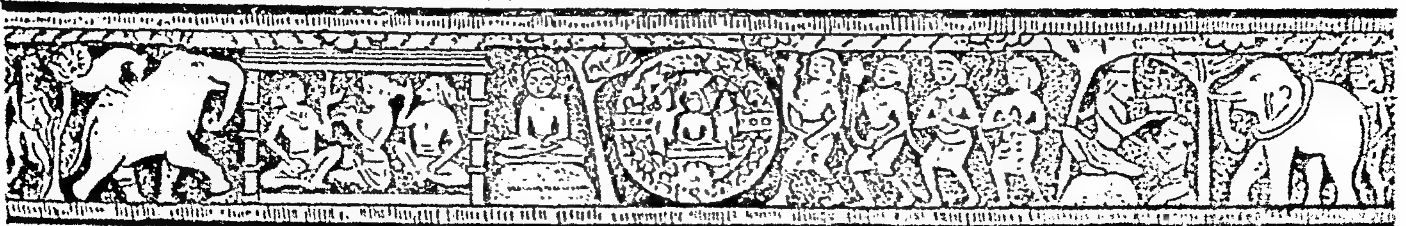
सात वार वाचना ग्रहण करने से घवरा कर अन्य साधु तो चले आए, परन्तु स्थूलिभद्र स्वामी दो वस्तु कम दश पूर्व पढ़े। एक वार स्थूलिभद्र स्वामी की यक्षा आदि सात वहिन साध्विएँ वन्दनार्थ आईं। भद्रवाहु के संकेत पर जब वे गुफा में गई तो स्थूलिभद्र स्वामीने सिंह का रूप धारण कर लिया। दूसरी वार जाने पर उन्हें भाई के दर्शन हुए। स्थूलिभद्र स्वामी ने अपने ब्राह्मण मित्र के घर में जाकर उसकी अनुपस्थिति में उसकी स्त्री के घर में निधान होने का संकेत कर दिया। ब्राह्मण ने आने पर स्त्री के कहने से उस स्थान को खोद कर महानिधान प्राप्त किया। भद्रबाहु स्वामी ने सिंह रूप करने व निधान वतलाने के अपराधों के कारण उन्हें आगे पूर्वों की वाचना देना अस्त्रीकार कर दिया। अन्त में संघ की प्रार्थना से आगे के चार पूर्व मूल मात्र पढ़ाये, अर्थ की वाचना नहीं दी। इस प्रकार स्थूलिभद्र स्वामी महाजितेन्द्रिय और चौदहपूर्वधर श्रुतकेवली हुए। वह गौतम गोत्रीय थे। उनके शिष्य एलावत्य गोत्रीय आर्य महागिरि और वाशिष्ट गोत्रीय आर्य सुहस्तिसूरि हुए। आप भगवान महावीर के निर्वाण के २१५ वर्ष वाद स्वर्गस्थ हुए।

दादासाहब श्री जिनदत्तसूरिजी

युगप्रधान सत्पुरुष दादा जिनदत्तसूरिजी जैन शासन में वड़े भारी प्रभावक और महान उपकारी आचार्य हुए हैं। उनके उत्कृष्ट चारित्र और लोकोत्तर प्रभाव के कारण जैन धर्म एवं समाज की वड़ी प्रभावना एवं उन्नति हुई। उन्होंने सवा लाख नए जैन वनाकर ओसवाल जाति में पचासों नये गोत्र स्थापन किये। आज का जैन समाज अधिकांश उनके द्वारा प्रतिवोधित है। अतः उनका पुण्य प्रभाव एवं मान्यता सर्वाधिक होना स्वाभाविक ही है।

आपका जन्म गुजरात प्रान्त की धौलका नगरी में हुंवड़ ज्ञातीय श्री वाछिग मन्त्री की पत्नी वाहड़देवी की कुक्षी से सम्वत् ११३२ में हुआ। धर्मिष्ठा माता के साथ वाल्यकाल में ही साध्वियों के सत्संग से धर्म की ओर इनका झुकाव अधिक था।

श्री जिनेश्वरसूरिजी के विद्वान शिष्य धर्मदेव उपाध्याय के पास ९ वर्ष की आयु में सं० ११४१ में ये दीक्षित हुए और इनका नाम सोमचन्द्र रखा गया। सर्वदेवगणि के पास विद्याध्ययन किया, अशोकचन्द्राचार्य के पास वड़ी दीक्षा हुई तथा हरिसिंहाचार्य और देवभद्राचार्य का सान्निध्य मिला। सं० ११६९ में नवांगी वृत्तिकारक अभयदेवसूरिजी के पट्टधर श्री जिनवल्लभसूरिजी के पट्ट पर चित्तौड़ में आचार्य पद प्राप्त किया। नाना देशों में विचर कर अनेक चैत्यवासी मुनियों को उपसम्पदा देकर सुविहित मार्ग में स्थिर किया। अजमेर के अर्णोराज व त्रिभुवनगिरि के यादव कुमारपाल आदि राजाओं को प्रतिवोध दिया। विक्रमपुरादि में लाखों जैन वनाये तथा हजारों साधु-साध्वियों को दीक्षित किया। अजमेर, विक्रमपुर आदि अनेक स्थानों में जिन मन्दिरों की प्रतिष्ठाएं की। ५२ वीर और ६४ योगिनी को प्रतिवोध दिया, पांच नदी के पांचों पीर अनुकूल होकर भक्त वने। गणधर सार्द्धशतक, सन्देह दोलावलि, गणधर सप्ततिका, उपदेश धर्म रसायन, चर्चरी, आदि पचीसों छोटे-मोटे अर्थगम्भीर ग्रन्थों की रचना की। जयदेवाचार्य, जिनप्रभाचार्य आदि कइयों ने अपने विशिष्ट ज्ञान से आपको युगप्रधान रूप में पहचाना।



नागदेव श्रावक के अष्टम तप से आकृष्ट हो अम्बिका-देवी ने आपको युगप्रधान घोषित करने वाला श्लोक उसके हाथ में लिखा जिसे प्रकट करने पर आप युगप्रधान घोषित हुए। आपके नाम में भी जबरदस्त प्रभाव है—कड़कती हुई बिजली से रक्षा, भूत-प्रेत बाधा, सर्प-दंश आदि में आपके नाम का अद्भुत प्रभाव देखा जाता है। जैन साधुओं में फैले हुए शिथिलाचार अर्थात् चैत्यवास का विरोध दूर कर विधिवाद का प्रचार किया; मन्दिरों की आशातनाएं दूर कर विधिचैत्यों की स्थापना की। आज भी भक्तजनों के मन वांछित पूरक सद्गुरु प्रत्यक्ष हैं। यों तो सभी अपनी-अपनी आराधनानुसार फल की प्राप्ति करते हैं, पर केवल आत्म-साधना के हेतु इन सद्गुरु की आराधना की जाय तो अपरिमित आनन्द और कल्याण का मार्ग उन्मुक्त कराने वाले और प्रत्यक्ष दर्शन देनेवाले सद्गुरु आप हैं।

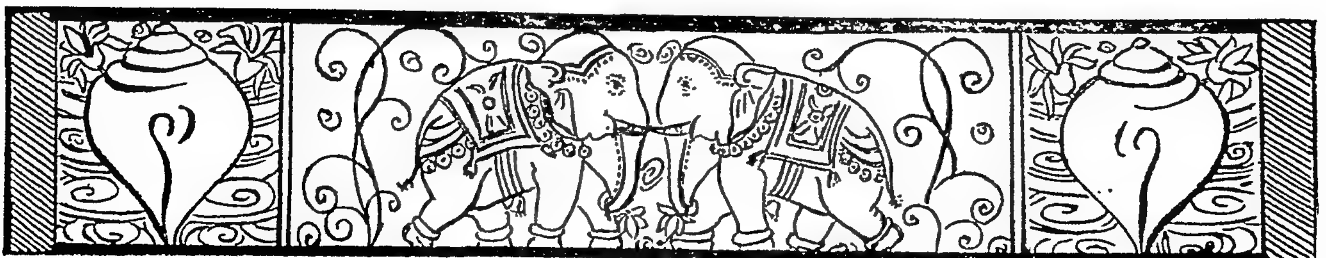
मणिधारी दादा श्री जिनचन्द्रसूरिजी

परम-पितामह युगप्रधान जिनदत्तसूरिजी के पट्टधर मणिधारी जिनचन्द्रसूरिजी असाधारण प्रतिभासम्पन्न और लोकोत्तर प्रभावशाली थे। २६ वर्ष की अल्प आयु में आपने जो शासन की सेवाएं की वह अवश्य ही आश्चर्यकारी एवं स्मरणीय है। आपका जन्म सं० ११९७ भाद्रपद शुक्ल ८ को मरुमण्डल के विक्रमपुर में हुआ था। आपके पिता रासल और माता का नाम देल्हणदेवी था। जन्मजात प्रतिभा और पूर्व पुण्य के कारण आत्मोन्मुखी होने से अतिशय ज्ञानी श्री जिनदत्तसूरिजी ने आपको ७ वर्ष की अल्प अवस्था में सं० १२०३ मिति फाल्गुन शुक्ला ९ के दिन दीक्षित किया और सं० १२०५ मिति वैशाख शुक्ला ६ के दिन विक्रमपुर के महावीर जिनालय में 'सूरि मन्त्र' प्रदान कर श्री जिनचन्द्रसूरि नाम से प्रसिद्ध किया। सं० १२११ में दादा साहब का अजमेर में स्वर्गवास हो जाने पर आपके तरुण कन्धों पर शासन का भार आया जिन्हें आपने बड़ी योग्यता से निभाया।

एक बार वोरसिदान गांव के पास संघ सहित दिल्ली जाते हुए आप ठहरे। उस समय म्लेच्छ सेना का भय प्राप्त होने पर आपने दादासाहब के नाम से संघ के चारों ओर दण्ड से रेखा खींच दी जिससे म्लेच्छ लोग संघ को न देख कर पास से निकल गए और इस प्रकार संघ की रक्षा हुई।

पद्मचन्द्राचार्य चैत्यवासी से रुद्रपल्ली की राजसभा में शास्त्रार्थ में विजय पाई। दिल्लीपति महाराजा मदनपाल को प्रतिबोध दिया तथा अनेक श्रीमाल वंशों को प्रतिबोध देकर गोत्र स्थापन किये। महत्तियान जाति भी आपसे ही प्रति-बोधित थी जिनके द्वारा पूर्व देश के तीर्थों का उद्धार तथा अनेकों धर्म-कार्य हुए। दिल्ली में मिथ्यात्वी देवता को प्रति-बोध देकर अतिबल अधिष्ठायक प्रसिद्ध किया।

आपने अनेक साधु-साध्वियों को दीक्षा दी और कइयों को पदस्थ भी किया। सागरपाड़ा, महावन, इन्द्रवन, तगला, वादली, रुद्रपल्ली आदि नगरों में जिनालय आदि की प्रतिष्ठाएं करवायी तथा अजमेर में श्री जिनदत्तसूरि स्तूप की प्रतिष्ठा की। एक समय दादा श्री जिनदत्तसूरिजी ने आपकी आयु शेष जानकर दिल्ली न जाने का संकेत किया था, पर सं० १२२३ में महाराजा मदनपाल की प्रबल प्रार्थना से आपने वहां चातुर्मास किया और भाद्रपद कृष्ण १४ को



अनशन आराधना पूर्व स्वर्गगामी हुए। आपने अन्त समय में श्रावकों को कहा कि हमारा अग्नि-संस्कार शहर से जितना दूर किया जायेगा, उतनी ही आवादी वढ़ेगी। तदनुसार वैसा ही किया गया और कुतुवमिनार से आगे महरौली गांव के वाहर आपका स्थान अब भी वड़े दादाजी नाम से प्रसिद्ध और वहुत चमत्कारपूर्ण है। आपके मस्तक में मणि थी जिसे प्राप्त करने के लिए अग्नि-संस्कार के समय दुग्धपात्र रखने के लिए आपने कहा था। श्रावकों के भूल जाने पर एक योगी ने मणि प्राप्त कर ली। आपने व्यवस्था-शिक्षा-कुलक नामक ग्रन्थ की रचना की थी।

दादा श्री जिनकुशलसूरिजी

दादासाहव श्री जिनकुशलसूरिजी युगप्रधान महापुरुष थे। आज भी उनका प्रभाव प्रत्यक्ष कल्पवृक्ष के सदृश्य है। भक्तवत्सल सद्‌गुरु प्रकाण्ड विद्वान्, शासन-प्रभावक और चारित्र चूड़ामणि थे। आपके गुण-वर्णन में सैकड़ों कवियों ने भक्तिपूर्ण प्रचुर रचनाएं की हैं।

मारवाड़ के समियाणा नगरगढ़सिवाणा-में छाजहड़ गोत्रीय मन्त्री देवराज के पौत्र और मन्त्री जिल्हा के आप सुपुत्र थे। सं० १३३७ मार्गशीर्ष कृष्णा ३ सोमवार के दिन पुनर्वसु नक्षत्र में आपका जन्म हुआ। आपका जन्म नाम कर्मण रखा गया। ज्यों-ज्यों आप वढ़ते गए, सद्‌गुणों की असंख्य गुणी वृद्धि होती गई। आपका घराना राजनीति दक्ष होने के साथ-साथ पूर्ण धर्मनिष्ठ भी था। आपके गुरु कलिकाल केवली श्री जिनचन्द्रसूरिजी आपके संसारी चाचा होते थे। सं० १३४६ मिति फाल्गुन शुक्ला ८ के दिन उन्होंने दीक्षित करके इनका कुशलकीर्ति नाम रखा। ये समस्त शास्त्रों के पारंगत, व्याख्यान कुशल और दिग्गज विद्वान हो गए। सं० १३७५ माघशुक्ला १२ को नागपुर में आपको वाचनाचार्य-पद मिला। सं० १३७७ ज्येष्ठ कृष्णा ११ को पाटण में श्री राजेन्द्रचन्द्राचार्य ने श्री जिनचन्द्रसूरिजी की आज्ञानुसार आपको उनके पट्ट पर आचार्य श्री जिनकुशलसूरि नाम से अभिषिक्त किया।

आपने महातीर्थ शत्रुंजय पर 'मानतुंग विहार' की प्रतिष्ठा की। अणहिलपुर पाटण, भीमपल्ली, जालोर, देरावर, जेसलमेर आदि स्थानों में भी जिनालयों की प्रतिष्ठा की। दिल्ली के श्रीमाल सेठ रयपति ने सं० १३८० में दिल्ली से व सं० १३८१ में भीमपल्ली से ओसवाल सेठ वीरदेव ने आपके उपदेश से शत्रुंजय का संघ निकाला। जैन शासन में दीक्षा, व्रत ग्रहण, मालारोपण आदि विविध प्रभावक कार्य आपके द्वारा हुए हैं। गुजरात, मारवाड़, सिन्ध आदि देशों में विचर कर महती शासन प्रभावना की। "चैत्यवंदन कुलक वृत्ति" नाम ४००० श्लोक परिमाण का ग्रन्थ, श्री जिनचन्द-सूरि चतु:सप्ततिका, शान्तिनाथ चरित्र, आदि अनेक स्त्रोत्रादि विद्वत्तापूर्ण ग्रन्थों की रचना की। सं० १३८९ में आपका चातुर्मास देरावर में हुआ। वहां अपने पट्ट पर श्री जिनपद्मसूरि को प्रतिष्ठित करने की आज्ञा देकर अनशन आराधनापूर्वक मिति फाल्गुन कृष्णा* १५ के दिन स्वर्गवासी

* प्रचलित स्वर्गतिथि यह है, पर युगप्रधानाचार्य गुर्वावली में कृष्णा ५ एवं चतु:सप्ततिका में कृष्णा ६ लिखा है। सम्भव है पंचमी की रात्रि को स्वर्गवास हुआ हो और षष्टी को अन्तिम संस्कार होने से षष्टी लिखा हो। पंचमी के कुछ और भी प्राचीन प्रमाण मिलते हैं। पंचमी और अमावस्या के पाठ भेद क्यों कर हो गये, पता नहीं।



हुए। आपके द्वारा जैन धर्म का विशिष्ट प्रचार हुआ। स्वर्गवास के पश्चात् भी आप सतत् उपकारी और जागती ज्योति हैं। भारत के कोने-कोने में आपके चरण, मूर्तियां दादावाड़ियों में प्रतिष्ठित हैं और जिनकी पूजा होती है। आपने भी ५०,००० श्रावक बनाये। यहां पर सीमित स्थान में आपका संक्षिप्त परिचय ही अभीष्ट है। इससे अधिक जानने के लिये "दादा जिनकुशलसूरि" ग्रन्थ देखना चाहिए।

शासन-प्रभावक श्री जिनभद्रसूरिजी

दादा-वाड़ी में तीनों दादासाहब के साथ शासन प्रभावक श्री जिनभद्रसूरिजी महाराज के चरण-कमल भी स्थापित है। खरतरगच्छ में कई शाखाएं हुई पर वर्तमान में सभी शाखाएं श्री जिनभद्रसूरिजी से सम्बन्धित हैं। अतः आपके चरण राजगृह आदि कई स्थानों में प्रतिष्ठित हैं। आपका संक्षिप्त परिचय पाठकों की जानकारी के लिए यहां पर प्रस्तुत है।

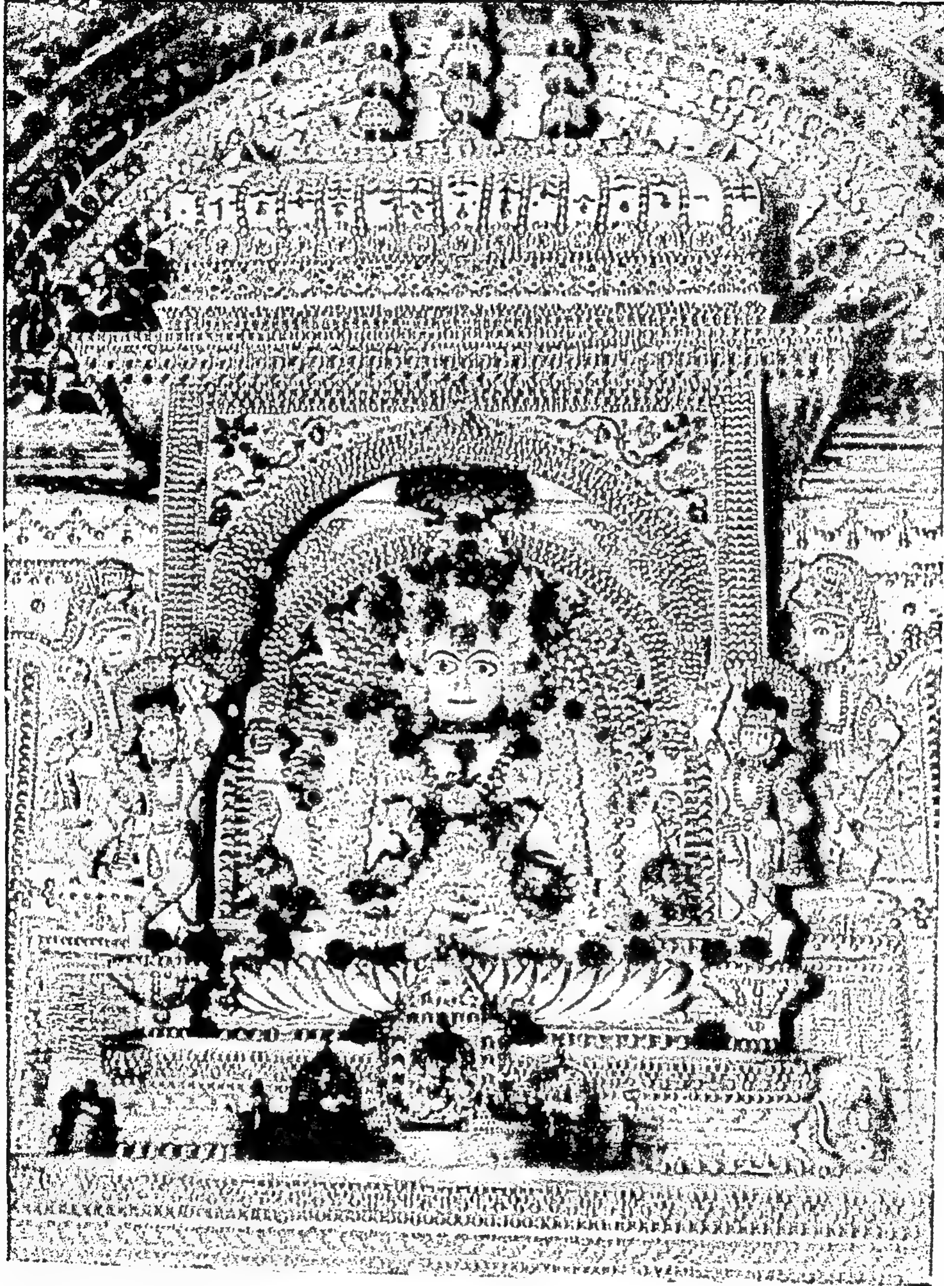
आचार्य श्री जिनराजसूरि प्रथम के पट्ट पर आचार्य श्री जिनवर्द्धनसूरि बैठे थे पर दैवी प्रकोपवश उनके स्थान पर श्री जिनभद्रसूरि को सं० १४७५ में स्थापित किया गया। आपका जन्म नाम रामण कुमार था। आपने सं० १४४९ मिति चैत्र शुक्ला ६ को मेवाड़ के देउलपुर में राजा लखपति के राज्य में सेठ धीणिग छाजहड़ की स्त्री खेतल देवी की कुक्षी से जन्म लिया। सं० १४६१ में श्री जिनराज सूरि से दीक्षित होकर वाचक श्री शीलचन्द्रगणि के पास विद्याध्ययन करने लगे। आपका दीक्षा नाम कीर्तिसागर रखा गया। सं० १४७५ मिति माघ शुक्ला १५ को श्री जिनभद्रसूरि नाम से आप आचार्य पद पर आरूढ़ हुए। भाणसउलिपुर निवासी नाल्हिग साह ने आपका आचार्य पदोत्सव किया।

आपने जैसलमेर, जालोर, देवगिरी नागौर, पाटण, मांडवगढ़, आशापल्ली, कर्णावती, खम्भात आदि स्थानों में ज्ञानभंडार स्थापित किये। वहां हजारों प्राचीन और नवीन ग्रन्थों को लिखवाकर सुरक्षित किया गया। आज भी जैसलमेर के सम्भवनाथ जिनालय स्थित जिनभद्रसूरि ज्ञान भण्डार पर्याप्त प्रसिद्ध है और ताड़पत्रीय ग्रन्थ के लिए प्रथम श्रेणी का है। आपने आबू, गिरनार और जैसलमेर में मन्दिरों की प्रतिष्ठा करवायी। आपने प्रचुर परिमाण में जिन बिम्बों की प्रतिष्ठा की थी जिसमें सैकड़ों प्रतिमाएं अब भी उपलब्ध है। श्री भावप्रभाचार्य और कीर्तिरत्नाचार्य को आपने ही आचार्य पदालंकृत किया था। सं० १५१४ मिति मार्गशीर्ष कृष्णा ९ के दिन कुम्भलमेर में आपका स्वर्गवास हुआ।

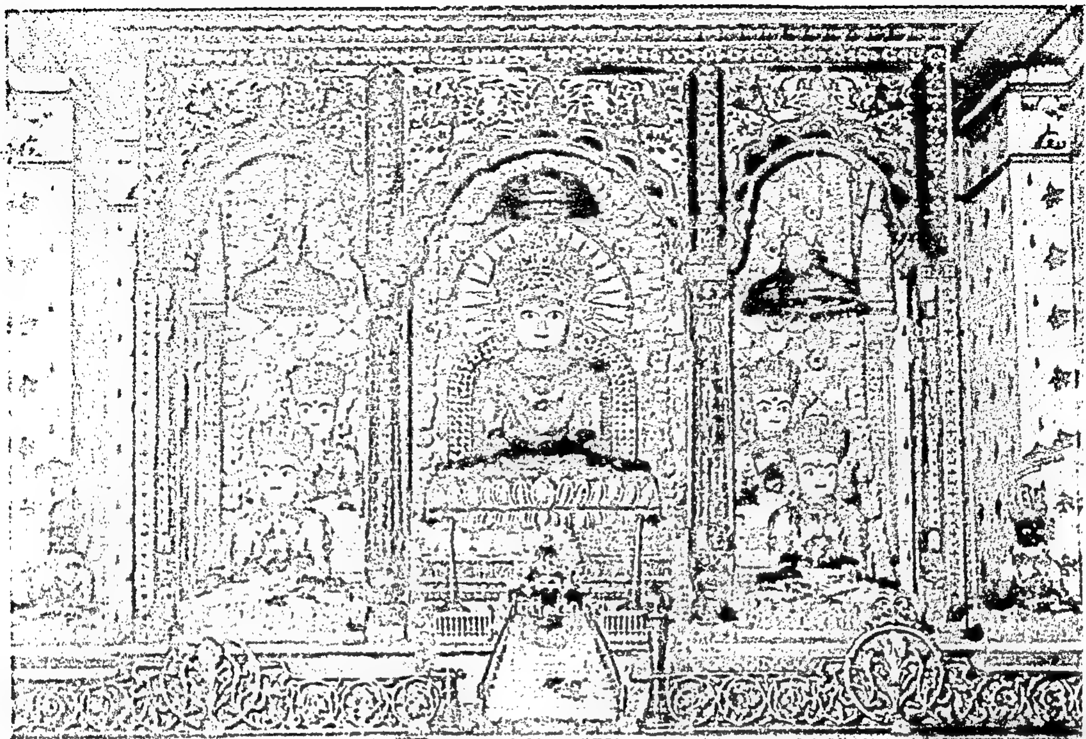
इस दादावाड़ी का भव्य उद्यान और इमारतें बड़ी शानदार और कलकत्ते के अनुरूप ही है। विशाल प्रतोली द्वार में मकराने का सुन्दर शिल्प है एवं सर्वत्र मकराना जड़ा हुआ है। दादासाहब का मन्दिर, फौव्वारा आदि सभी संगमरमर के हैं। दादा साहब की वेदिका निर्माण सं० १९९१ में हुआ था। इस पर चांदी की कटोरियां लग जाने से इसकी सुन्दरता आकर्षक लगती है। दादासाहब श्री जिनदत्तसूरिजी और श्री जिनकुशलसूरिजी के स्वर्ग-जयन्तियों में बड़ी पूजा, फूल, बंगला भजन व स्वधर्मीवात्सल्यादि होते हैं।

दादावाड़ी की प्रतिष्ठा पार्श्वचन्द्र गच्छीय श्रीपूज्य श्री लब्धिचन्द्रसूरिजी के कर कमलों से हुई थी अतः यहां आपका भी संक्षिप्त जीवन परिचय द्रष्टव्य है—

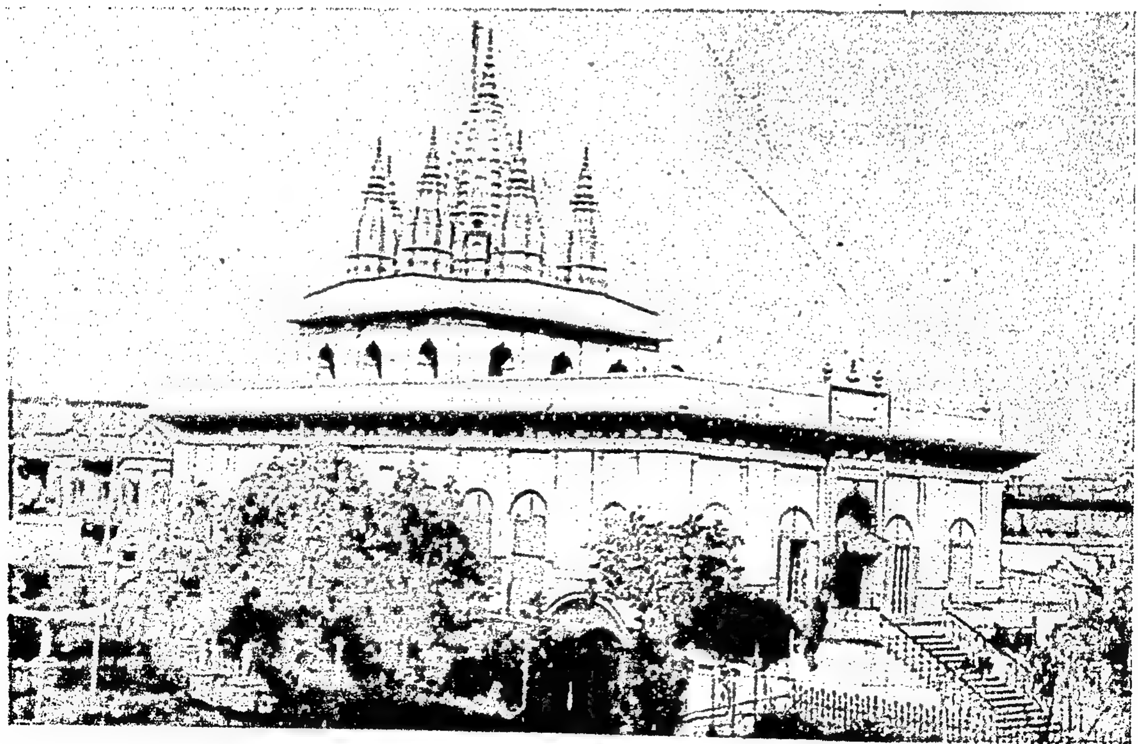




श्री शीतलनाथ भगवान (मूलनायक)
परिचय पृष्ठ ३४



श्री महावीर स्वामी (मूलनाथजी सहित गर्भगृह) देखिये पृष्ठ ३७



श्री महावीर स्वामी का मन्दिर (मानिकतल्ला) देखिये पृष्ठ ३७

श्री लब्धिचन्द्रसूरि (जीवन परिचय)

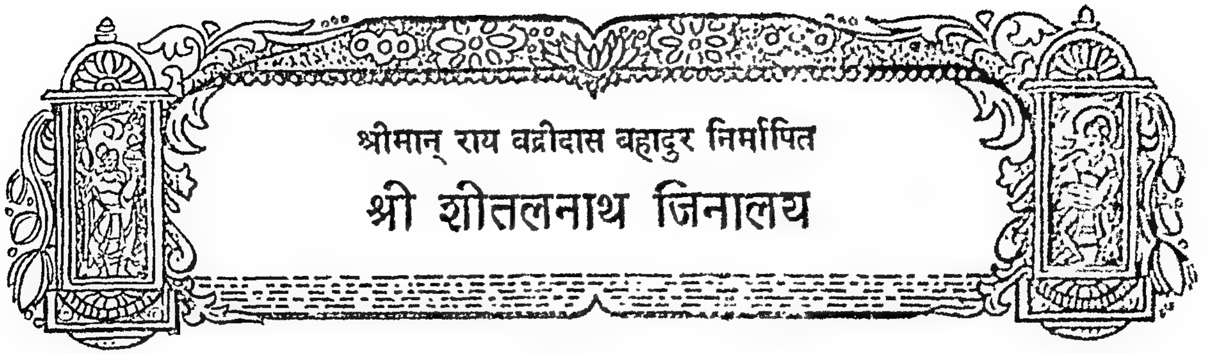
आपका जन्म बीकानेर निवासी छाजेड़ गोत्रीय शाह गिरधर की पत्नी गौरमदेवी की कुक्षी से सं० १८३५ में श्रावण वदी में हुआ था। सं० १८४६ अक्षय-तृतीया के दिन खम्भात में आपकी दीक्षा हुई तथा सं० १८५४ श्रावण वदी ६ को आचार्य पद तथा मार्गशीर्ष कृष्णा ५ को उज्जैन में भट्टारक पद प्राप्त हुआ। आपने मारवाड़, मालवा, गुजरात, दक्षिण और बंगाल प्रान्त में विहार किया और कलकत्ता पधार कर सं० १८६७ मिति आषाढ़ शुक्ला ६ को दादावाड़ी में दादासाहब के चरणों की प्रतिष्ठा की। तथा श्री स्थूलिभद्र स्वामी के चरणों की प्रतिष्ठा आपने ही सं० १८६८ मिति वैशाख शुक्ला ६ के दिन की। जिस दिन दादावाड़ी में स्थूलिभद्र स्वामी के चरणों की प्रतिष्ठा की, उसी दिन तुल्लापट्टी के आदिनाथ देहरासर में (पञ्चायती मन्दिर के निर्माण के पूर्व) दोनों दादासाहब के दो चरण युग्मों की तथा सं० १८६७ में ११ गणधरों के चरणों की प्रतिष्ठा करवायी थी। इन्होंने सिद्धान्त रत्निका व्याकरण, ज्योतिषजातक, ग्रन्थादि की रचना की। सं० १८८३ मिति कार्तिक वदी १० को बीकानेर में आपका स्वर्गवास हुआ और आपके पट्टधर श्री हर्षचन्द्रसूरिजी हुए। आपने उन्हें अपने स्वर्गवास के तीन दिन पूर्व आचार्य पद प्रदान किया था। श्री पायचन्दसूरिजी की बगीची में आपके चरण प्रतिष्ठित हुए जिनके लेख को यहां उद्धृत किया जाता है।

"संवत् १६०२ शाके १७६७ प्र। मासोत्तमे आषाढ़ मासे कृष्ण पक्षे ८ अष्टम्यां तिथौ शुक्रवासरे श्री पार्श्वचन्द्रसूरि गच्छाधिराज भट्टारकोत्तम भट्टारक पुरन्दर भट्टारकाणां श्री १०८ श्री श्री श्री लब्धिचन्द्रसूरीश्वराणां पादुके प्रतिष्ठापिता। तच्छिष्य भट्टारकोत्तम भट्टारक श्रीहर्षचन्द्रसूरिजिद्भिः श्रीरस्तुतराम्।"

(बीकानेर जैन लेख संग्रह लेखाङ्क २०१२)



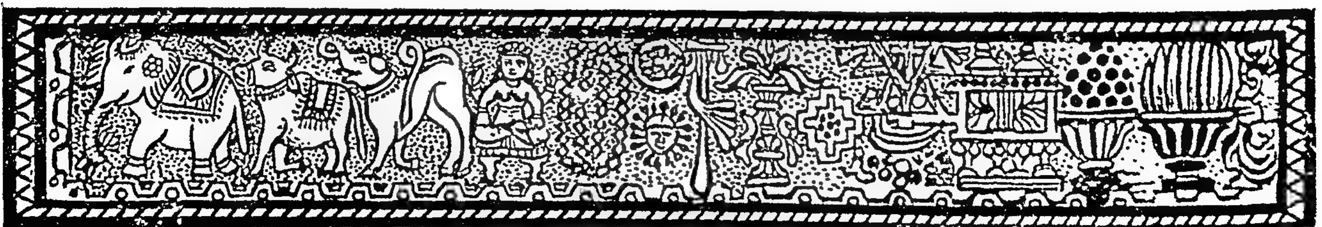




पारसनाथ मन्दिर के नाम से अन्तर्राष्ट्रीय ख्याति-प्राप्त यह जिनालय बंगाल प्रान्त का एक अपूर्व शृंगारपूर्ण कलाधाम है। इसकी सर्वाङ्ग सुन्दरता के प्रत्येक अणु एवं कण-कण में इसके निर्माता की उदारता एवं जिनभक्ति परिलक्षित होती है। इस मन्दिर के बगीचे में हमेशा दर्शनार्थियों का तांता लगा रहता है जिनमें देश-विदेश, जैन एवं जैनेतर सभी प्रकार के लोग रहते हैं और इस मन्दिर एवं इसकी कलाकृति का दर्शन कर अपने जीवन को धन्य समझते हैं और उनके हृदय में इसके कला-शौष्ठव की अविस्मरणीय छाप अंकित हो जाती है। इस जिनालय का संक्षिप्त परिचय प्रस्तुत करने से पहले उसके निर्माता एवं उनका वंश-परिचय उल्लेखनीय है।

राय बद्रीदास लखनऊ के सोधड़-श्रीमाल वंश के एक साधारण परिवार में जन्मे थे। आपका जन्म सं० १८८९ मार्गशीर्ष शुक्ला एकादशी (मौन एकादशी) तारीख २६ नवम्बर, १८३२ के दिन हुआ था। बद्रीदासजी के पितामह लाला विजयसिंहजी और उनके भ्राता बुधसिंहजी थे। आपके पिता का नाम लाला कालकादासजी तथा माता का नाम खुशालकुंवरि था जिनके स्मारक अभी भी बगीचे में विद्यमान हैं। खुशालकुंवरि का जन्म सं० १८५५ में और निधन सं० १९२१ में मिति श्रावण शुक्ला ६ को हुआ था। ये बड़ी ही धर्मिष्ठा थीं और अपने जीवन में बीस स्थानक तप के साथ-साथ नवपदजी की ओली ४५ वर्ष तक की थी। बद्रीदासजी २०-२२ वर्ष की अवस्था में कलकत्ता आये। कहा जाता है कि उसके पूर्व लखनऊ में आपकी स्थिति बड़ी ही सामान्य थी और श्रीपूज्यजी की कृपा और आशीर्वाद से आपको एक बहुमूल्य रत्न की प्राप्ति हुई और उसे बेचकर जवाहरात के व्यवसाय में आपने लाखों की सम्पत्ति का उपार्जन किया। कलकत्ता में आपका व्यवसाय चमक उठा और थोड़े ही दिनों में आप प्रामाणिक जौहरी के रूप में प्रसिद्ध हो गए। सन् १८६९ में तो आप भारत सरकार के जौहरी नियुक्त हुए और उसके दो वर्ष बाद लाटसाहब के मुकीम नियुक्त हुए। इसी समय से आप मुकीम कहलाने लगे। सन् १८७६ में सम्राट सप्तम एडवर्ड जब युवराज के रूप में भारत आये, तो आपने उन्हें दुष्प्राप्य अलंकार और मूल्यवान जवाहरात दिखाये थे। सन् १८७७ में भारत सरकार ने आपकी बहुमूल्य सेवाओं को देखकर आपको रायबहादुर की उपाधि से सम्मानित किया था।

बद्रीदास अपनी धर्मिष्ठा माता के धर्मिष्ठ पुत्र थे। वह ईमानदारी से काम करते हुए समाज और धर्म की सेवा में



सदा तत्पर रहते थे। कलकत्ता पिंजरापोल एवं धर्मकांटा—जौहरी-बाजार—की स्थापना और मर्यादा बांधने में आपका ही प्रमुख हाथ था। बड़े मन्दिर के आप ट्रस्टी तो थे ही, आपके हरीसन रोड स्थित मकान में भी भगवान का देहरासर था। भद्दिलपुर तीर्थ को पुनः कायम करने के लिए भी आपने वहाँ की पहाड़ी को खरीद लिया था। परन्तु आप स्वयं अपने जीवन में वहां के तीर्थ-स्थापना के स्वप्न को साकार न देख सके जिसकी स्थापना कर जैन समाज को अपना कर्तव्य निभाना चाहिए। समेतशिखर महातीर्थ पर पार्श्वनाथ भगवान की टोंक का निर्माण एवं तीर्थ को पालगंज के राजा से खरीदवाने में आपका ही प्रमुख हाथ था।

एक बार दादावाड़ी के सामने के प्लॉट को बिकाऊ जानकर उसे बद्रीदासजी ने तालाव एवं उद्यान का निर्माण करने के लिए खरीद लिया। उन्होंने प्लॉट खरीदने की बात अपने माताजी से कही तो माताजी ने उसका कुछ भी उत्तर नहीं दिया और मौन धारण कर लिया। मातृभक्त पुत्र को यह बात अच्छी नहीं लगी कि माता को अपना कार्य रुचिकर नहीं हो। उन्होंने जब पुनः माताजी से पूछा तो उन्होंने कहा कि बाग, बगीचा, और तालाव का निर्माण कर तुम कौनसा प्रशंसनीय कार्य करोगे? हां, यदि जिनेश्वर भगवान का मन्दिर बनवाओ तो केवल मैं ही क्या, लाखों प्राणी उसकी प्रशंसा करेंगे और वह चिरकाल तक लोक-कल्याण का प्रबल साधन होगा! कहना न होगा कि विवेकी पुत्र बद्रीदासजी माता के उस लोक-कल्याणकारी मनोरथ की पूर्ति हेतु जिनालय-निर्माण के कार्य में लग गए। इस कार्य के लिए आपने मुक्त हस्त से दिल खोलकर खर्च किया और इस मन्दिर के निर्माण में उन्होंने जिस प्रचुर धन-राशि का व्यय किया, वह आश्चर्यजनक एवं बेजोड़ है। यदि उस मन्दिर एवं उद्यान का सांगोपांग वर्णन किया जाय तो आसानी से एक ग्रन्थ तैयार हो सकता है। अतः यहां पर उसकी मात्र झांकी प्रस्तुत कर रहे हैं।

जब मन्दिर का निर्माण कार्य पूर्ण हो गया तो जैनाचार्य श्री जिनकल्याणसूरिजी महाराज ने मूलनायक भगवान शीतलनाथ की प्रतिमा लाकर विराजमान करने के लिए मुहूर्त दिया। बद्रीदासजी सर्वांग सुन्दर प्रतिमा की प्राप्ति के लिए अनेक स्थानों में घूमते हुए निराश होकर आगरा में इसके लिए चिन्तित बैठे थे कि एक वृद्ध महात्मा ने आकर उनकी चिन्ता को दूर करने के लिए आश्वासन देकर उन्हें रोशन-मुहल्ला के मन्दिर में ले जाकर एक भूमिगृह का निर्देश किया। वहां पर से एक शिला के हटाने पर सीढ़ियां मिली। बद्रीदासजी ने उस महात्मा के साथ अन्दर प्रवेश किया और वहां जाकर भगवान शीतलनाथजी की तेजस्वी प्रतिमा को देखकर आश्चर्यचकित रह गए, जिसके पास घृत का दीपक जल रहा था। बद्रीदासजी आनन्दपूर्वक उस प्रतिमा को बाहर लाये और आभार व्यक्त करने के लिए जब महात्मा जी की ओर ध्यान दिया तो एकाएक उनको गायब पाया और बहुत श्रमपूर्वक खोज करने पर भी वे उन्हें पुनः नहीं पा सके। तत्पश्चात् बद्रीदासजी ने शीतलनाथ भगवान की उक्त प्रतिमा को लाकर श्री जिनकल्याणसूरिजी के कर कमलों से उसकी प्रतिष्ठा उक्त जिनालय में कराई। शीतलनाथ भगवान की यह प्रतिमा आगरा निवासी संघपति चन्द्रपाल द्वारा सतरहवीं शताब्दी की प्रतिष्ठित है। इस



मन्दिर में विराजमान गणधर गौतम स्वामी, गणधर आणंदरथ, शासन यक्ष ब्रम्ह एवं शासनदेवी अशोका की मूर्तियों के अभिलेख के अनुसार यह प्रतिष्ठा सं० १९२४ मिति माघ शुक्ला ५ को हुई थी जब कि बगीचे व मन्दिर का निर्माणकाल सं० १९२३ फाल्गुन शुक्ला २ का उल्लेख है। यहां पर एक और प्रतिष्ठा खरतरगच्छ पट्टावली पट्टक की श्रीजिनरत्नसूरिजी द्वारा हुई थी। संभवतः यह प्रतिष्ठा उसी समय हुई होगी जब श्री जिनकल्याणसूरिजी की प्रतिमा प्रतिष्ठित की थी। इसके अतिरिक्त वहां पर बद्रीदासजी के पितामह लाला विजयसिंहजी तथा पिता लाला कालिकादास जी की प्रतिमाएं भी मन्दिरजी के दाहिनी ओर उद्यान-स्थित एक देहरी में प्रतिष्ठित है। इन सब का प्रतिष्ठा समय सं० १९५२ ज्येष्ठ कृष्णा ६ बुधवार है। बद्रीदासजी ने अपने पितामह के लघु भ्राता लाला बुधसिंहजी की एक प्रतिमा सं० १९६० ज्येष्ठ कृष्णा २ बुधवार को विराजमान कराई थी।

राय बद्रीदासजी ने माता के मनोरथों को आदर देकर जिस मन्दिर का निर्माण कराया था, वे उसे सम्पूर्ण देखें बिना ही अर्थात् सं० १९२१ श्रावण शुक्ला ६ को स्वर्ग सिधार चुकी थीं जिनकी स्मारक चतुष्किका उद्यान से संलग्न निवास कक्ष के सामने विद्यमान है। बद्रीदासजी के बगीचे में पद-पद पर मूल्यवान पत्थर व मीनाकारी का काम, कांच का काम, आदि दृष्टिगोचर होता है। मन्दिर में दाहिनी ओर अखण्ड दीपक जलता है जिसकी लौ का काजल काला न उतर कर केसरिया रंग का उतरता है। मण्डपों पर लगे हुए चित्र भी अत्यन्त मूल्यवान तथा उसके निर्माता की विलक्षण सूझ-बूझ के परिचायक हैं। इनमें जैन कथा-साहित्य एवं ऐतिहासिकता की ऐसी व्यापकता और विशालता छिपी हुई है जिसका सांगोपांग वर्णन सीमित स्थान में संभव नहीं।

इस मन्दिर के उद्यान में मीटिंग हॉल में राग-रागिनियों के चित्र एवं सुसज्जित कला-कृतियां लगी हुई हैं। संलग्न म्यूजियम में तामिल, तेलगु के ताड़पत्रीय व नागरी लिपी के प्राचीन ग्रन्थ आदि की अच्छी सामग्री भरी हुई है जो शोध की अपेक्षा रखती है। यह सामग्री इतिहास कला और साहित्य की एक अमूल्य निधि है। जिसका उपयोग अपेक्षित है।

मन्दिरजी के ठीक सामने राय बद्रीदासजी बहादुर की तदाकार मूर्ति चैत्यवन्दन करती हुई बड़ी ही मनोज्ञ और प्रेक्षणीय है जिसकी स्थापना सन् १९१० में की गई थी। मन्दिरजी की स्थापत्य कला और शिल्प-समृद्धि अत्यन्त प्रशंसनीय है तथा वहां की चित्र-समृद्धि भी किसी प्रकार न्यून नहीं है। दो-तीन वर्ष बाद इस जिनालय की प्रतिष्ठा के सौ वर्ष पूरे हो जायंगे। इस अवसर पर उपयुक्त रूप से शताब्दी समारोह मनाया जाय और तद्हेतु जीर्णोद्धार, साहित्य प्रकाशन, आदि के विशद कार्यक्रम के द्वारा उत्सव मनाने के लिए व्यवस्थापक गण का प्रबल पुरुषार्थ वांछनीय और आवश्यक है।





श्री महावीर स्वामी का मन्दिर

श्री दादाजी महाराज के वगीचे से संलग्न श्री महावीर स्वामी का एक भव्य जिनालय है। शिलापट्ट प्रशस्ति के अनुसार इसका निर्माण सं० १९३६ में जौहरी सुखलाल टाँक ने करवाया था। गर्भगृह के ऊपर लगी हुई प्रशस्ति इस टाँक वंश एवं मन्दिर के प्रतिष्ठापक जैनाचार्य श्री शांति-सागरसूरिजी की गौरव गरिमा उद्भासित करती है। शिला-लेख में इस मन्दिर की तुलना हिमालय के शिखर से की गई है और उसमें टाँक वंश के इतर धार्मिक कृत्यों का भी उल्लेख किया गया है। इस मन्दिर में मूलनायक भगवान महावीरकी प्रतिमा बड़ीही मनोहर है। यहाँ की वहुत-सी दूसरी प्रतिमाओं की प्रतिष्ठा सं० १८८८ में खरतर गच्छा-चार्य श्री जिनअक्षयसूरिजी के पट्टधर श्री जिनचन्द्रसूरिजी के द्वारा हुई थी, जिनके लेखों में मन्दिर निर्माता के पूर्वजों के द्वारा निर्माण करवाने का उल्लेख है। सं० १९२९ वैशाख शुक्ला ६ की प्रतिष्ठित भी कई प्रतिमाएं इसी वंश की कीर्ति की परिचायक है जिसकी प्रतिष्ठा विजयगच्छाचार्य श्रीशान्तिसागरसूरिजी ने की थी। सं० १९३१ के कई प्रतिमा-लेखों से यह विदित होता है कि उन प्रतिमाओं का निर्माण भांडिया उमरावसिंह और उनके परिवार वालों ने करवाया था। इस मन्दिर में जाने के लिए दादासाहव के वगीचे में से एवं वद्रीदास टेंपल स्ट्रीट से भी प्रवेश-द्वार वना हुआ है। इस मन्दिर की सुदृढ़ता के सम्बन्ध में इतना ही लिखना पर्याप्त होगा कि इसके स्तम्भों की विशालता अन्यत्र दुर्लभ है। मन्दिरजी के वाहर तथा रसीदों में इसका निर्माण समय सं० १९२४ लिखा है।

श्री चन्द्रप्रभु जिनालय

श्री शीतलनाथ जिनालय के वगीचे से दाहिनी ओर श्री चन्द्रप्रभु भगवान का सौध शिखरी जिनालय है। इसके प्रवेश द्वार पर वनी हुई कोठी प्रस्तर शिल्प का एक अच्छा नमूना है। प्रवेश करने के पश्चात् एक छोटी-सी पुष्प-वाटिका है जिसके वाद चन्द्रप्रभु भगवान का भव्य मन्दिर है। इसका निर्माण जौहरी गणेशीलाल खारड़ के सुपुत्र कपूरचन्द्रजी ने करवाया था और उसकी प्रतिष्ठा सं० १९५२ मिति वैशाख शुक्ला ७ बुधवार के दिन लखनऊ गद्दी के खरतर गच्छाचार्य श्री जिनरत्नसूरिजी ने की थी। मूलनायक भगवान चन्द्रप्रभुजी की प्रतिमा वि० सं० १६७१ में आगरा के सुप्रसिद्ध लोढ़ा कुँअरपाल सोनपाल के परि-वार के द्वारा वनवायी गई थी और जिसे किसी ब्राह्मण से प्राप्त कर कुछ दिन वड़े मन्दिरजी में रखी गई थी और वाद में मन्दिर के निर्माण हो जाने पर वहां उसकी प्रतिष्ठा की गई थी। धर्मनाथ स्वामी और पद्मप्रभु भगवान की प्रति-माएं सं० १८८८ की प्रतिष्ठित हैं। मन्दिरजी की प्रतिष्ठा के समय प्रतिष्ठित गौतम स्वामी, दिन्न स्वामी गणधर, विजय यक्ष एवं दादासाहव श्री जिनदत्तसूरिजी व श्री जिन-कुशलसूरिजी की चरण पादुकाएं हैं।

इस मन्दिर की सुव्यवस्था एक प्राइवेट ट्रस्ट के अन्तर्गत है। मन्दिर के संलग्न स्थान में छोटे-मोटे जीमनवार व थोड़े यात्रियों के उपयोग में आने योग्य स्थान की सुन्दर व्यवस्था है। इस मन्दिर के व्यय-निर्वाह के लिए २ मकान भी हैं।



श्री महावीर जिनालय

(वीरविक्रम प्रासाद)

श्री जैन श्वेताम्बर गुजराती तपागच्छ संघ का श्री महावीर जिनालय ९६, कैनिंग स्ट्रीट में है। इस स्ट्रीट का नाम अब विप्लवी रासविहारी बसु रोड है।

सं० १९८६-८७ में मुनिराजश्री दर्शनविजयजी-त्रिपुटी ने चातुर्मास किया, यहां पर श्राविकाओं द्वारा एकत्र ग्यारह हजार की धनराशि से छत पर देहरासर स्थापित हुआ। सं० १९८७ में आबूजी से सपरिकर महावीर प्रतिमा को लाकर देहरासर में मिति ज्येष्ठ शुक्ला ५ को विराजमान किया। कई वर्ष बाद विशाल मन्दिर बनवाने का निर्णय किया गया और पांच लाख की लागत से कलापूर्ण भव्य जिनालय बन कर तैयार हुआ। सं० २००६ मिति मार्गशीर्ष सुदी १० को बिम्ब-प्रवेश हुआ व सं० २०१० मिति ज्येष्ठ सुदी १० सोमवार के दिन जैनाचार्य श्री विजय रामचन्द्रसूरिजी द्वारा प्रतिष्ठा हुई। महावीर स्वामी, आदिनाथ स्वामी और शान्तिनाथ भगवान की प्रतिमाएं एवं गूढ़मण्डप व नृत्यमंडप के गवाक्षों में भगवान पार्श्वनाथ, शान्तिनाथ, मुनिसुव्रत स्वामी, अजितनाथ, गौतम स्वामी, सुधर्मा स्वामी, मातंग यक्ष, सिद्धायिका देवी की प्रतिष्ठा भी उसी दिन हुई है। यहां पूजा व दर्शन करने वालों की अच्छी संख्या रहती है।

मन्दिर का शिखर, गुम्बज, सभामण्डप, नाट्य-मण्डप, आदि सभी स्थापत्य शास्त्रीय पद्धति से निर्मित है और काफी सुन्दर है।

श्री पार्श्वनाथ जिनालय

(११ ए हेसाम रोड, कलकत्ता-२०)

श्री पार्श्वनाथ जिनालय—भवानीपुर के भाइयों ने इस जिनालय की सं० २०१८ मार्गशीर्ष वदि ११ के दिन स्थापना की थी। विशाल प्लाट में बना हुआ छोटा-सा सुन्दर जिनालय जिनेश्वर भक्तों को वरदान स्वरूप है। मूलनायक पार्श्वनाथ स्वामी की प्रतिमा मनोहर और सम्प्रतिकालीन कही जाती है, उभय पक्ष में आदिनाथ और महावीर स्वामी विराजमान है। उस अंचल में जैनों की बस्ती बढ़ जाने से पूजन करने वालों की भी अच्छी उपस्थिति रहती है।

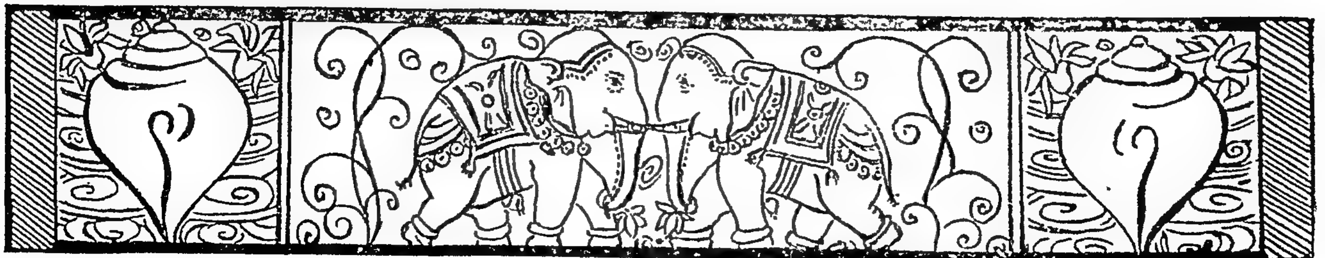
श्री आदिनाथजिनालय (कुमारसिंहहाल)

(४६ इण्डियन मिरर स्ट्रीट, कलकत्ता)

सुप्रसिद्ध पुरातत्त्वज्ञ बाबू पूरणचन्द्रजी नाहर के भ्राता कुमारसिंह की स्मृति में स्थापित यह हॉल पर्याप्त प्रसिद्ध है। यहां नाहरजी ने कलात्मक वस्तुओं के संग्रहालय, ग्रन्थालय को बहुत बड़े रूप में सुशोभित किया था। हॉल में कई प्रकार के आयोजन, सभाएं तथा पर्यूषण पर्व के अवसर पर व्याख्यानादि भी हुआ करते हैं। इस हॉल के तीसरे तल्ले पर सन् १९१६ में सुन्दर जिनालय प्रतिष्ठित करवाया गया। मन्दिर के एक कक्ष में स्फटिक रत्न की तीन विशाल प्रतिमाएं भी बड़ी दर्शनीय हैं।

गृह चैत्यालय

इन मन्दिरों के अतिरिक्त कुछ गृह चैत्यालय भी हैं, जिनकी सूची इस प्रकार है—



१. कुंथुनाथ भगवान—श्री सवाईलाल केशवलाल शाह के निवास स्थान ११३ चितरंजन एवेन्यु में चौथे तल्ले पर सं० २०११ श्रा० सु० १५ के दिन जैनाचार्य श्री विजयरामचन्द्रसूरिजी महाराज द्वारा अंजन शलाका-प्रतिष्ठित प्रतिमा है।

२. श्री पार्श्वनाथ चैत्यालय—श्री छोटमलजी सुराना के निवास स्थान १A चेतन सेठ लेन में दुतल्ले पर यह देहरासर है।

३. श्री पार्श्वनाथ देहरासर—नं० ४१ शिवतल्ला ढाकापट्टी में श्री राजमलजी कोचर के निवास स्थान में पार्श्वनाथ भगवान की रजतमय प्रतिमा है।

४. आदिनाथ चैत्यालय—श्री भूपतसिंहजी दूगड़ के निवास स्थान नं० ४ क्रीक रो में आदिनाथ स्वामी का है।

५. श्री विजयसिंहजी बोथरा के यहां पथरियाहट्टा में अभी देहरासर विराजमान हुआ है।

६. श्री वासुपूज्य देहरासर—श्री सुरपतसिंहजी दूगड़ के आवास नं० ३४।१ A बालीगंज सर्कुलर रोड में सन् १९४६ में स्थापित हुआ। वासुपूज्य भ० की रजतमय, पार्श्वनाथ व स्फटिकमय अभिनन्दनजी की रत्तक प्रस्तर की पद्मप्रभजिन प्रतिमा, ह्रींकार, नवपदजी के यंत्र व केसरियाजी का पट है।

ये सब देहरासर थोड़े वर्षों से यहाँ स्थापित हुए हैं। पहले भी कतिपय गृह चैत्यालय थे, जो अब नहीं रहे। उनका यहां नामोल्लेख होना आवश्यक है, क्योंकि वह एक ऐतिहासिक कड़ी थी। अब उनकी प्रतिमाएं, चरण आदि कितने ही बड़े मंदिरजी में और कितने ही शीतलनाथ जिनालय आदि अन्यत्र मन्दिरों में भेज दिये गये।

१. बद्रीदासजी का देहरासर—उनके नं० १५२, हरिसन रोड स्थित मकान में था।

२. माधोदासजी का घर देहरासर—संभवनाथजी का, बड़तल्ला में था।

३. माधोलालजी दूगड़ का घर देहरासर—संभवनाथजी का, कैनिंग स्ट्रीट में था।

४. जीवनदास प्रतापचंद का देहरासर—भ० शान्तिनाथजी का, हरिसन रोड में था।

५. यति पन्नालालजी का देहरासर—यह देहरासर मानिकतल्ला में था जिसके अभिलेख नाहरजी के लेखांक ३९१ से ३९३ में छपे हैं।

६, राय बुधसिंह हीरालाल मुकीम का देहरासर—यह १९ सिकदरपाड़ा में था।







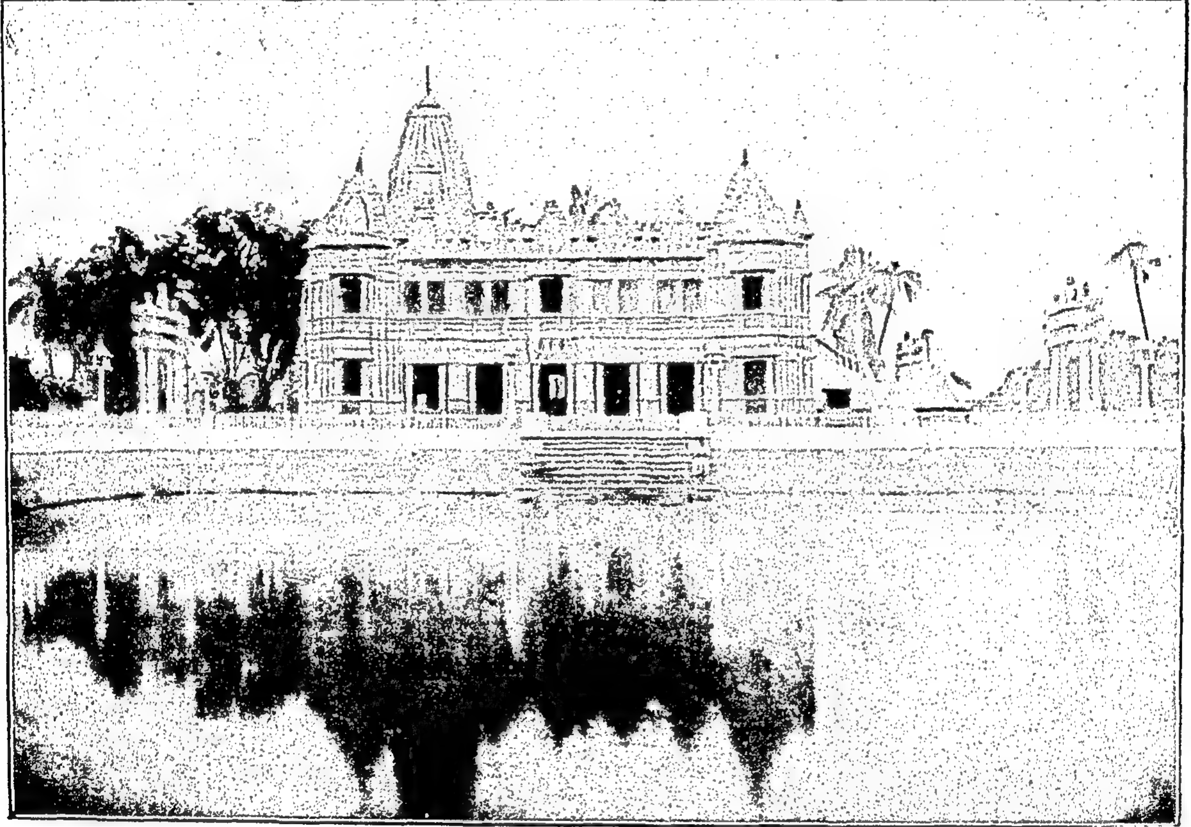
कलकत्ता के दिगम्बर जैन मन्दिर

भगवान महावीर के अनुयायी उनके निर्वाण के छह शताब्दी बाद श्वेताम्बर एवं दिगम्बर दो भागों में विभक्त हो गए। यह भेद स्थविर-कल्प और जिन-कल्प की मान्यता को लेकर था। कालक्रम से आगम की मान्यताओं एवं क्रिया-कलापों में छोटे-मोटे अन्तर बढ़ते गए और आगे चल कर अपने-अपने क्षेत्रों में शासन-भेद के बाद भी भगवान की आध्यात्मिक देन को सुरक्षित रखते हुए आराधना में रत रहे। पूर्व काल में उभय सम्प्रदायों में एक सरीखी ही मूर्तियां होती थी और मूर्ति-पूजा को अमान्य करने वाला कोई था ही नहीं। बाद में पूजा पद्धति में भेद बढ़ जाने से पार्थक्य की सृष्टि हुई और सहस्राब्दि में मुद्रा-भेद स्पष्टतः परिलक्षित होने लगा। फिर भी सैकड़ों प्रतिमाएं एक दूसरे सम्प्रदाय के मन्दिरों में आज भी बिना किसी भेद-भाव के पूज्यमान हैं। कई स्थानों में तो एक ही वेदी पर उभय सम्प्रदाय की प्रतिमाएँ विराजमान रहती आई हैं। बीसवीं सदी के मनोमालिन्य ने बंटवारे करवा दिए। फिर भी भेलुपुर, पालगंज, आगरा आदि अनेक स्थानों में आज भी उसके उदाहरण विद्यमान हैं। चिनसुरा और हुगली का जिनालय और भैरोंजी का मन्दिर भी सम्भवतः बंगाल के प्रवासी जैनों के सम्मिलित स्वरूप का ही परिचायक है। ढाका में भी श्री गुलाबदास अग्रवाल ने सन् १६७५ में प्रतिष्ठा करवाई। कलकत्ता महानगरी के बसने के बाद अंग्रेजों के उत्कर्ष के साथ-साथ बन्दरगाह की सुविधा एवं व्यापारी मण्डी, आदि के चमकने पर सभी वर्गों एवं सम्प्रदायों के लोगों का यहां बड़ी तेजी से आगमन हुआ। दिगम्बर जैन सम्प्रदाय के लोग भी आए और दिगम्बर जैन बन्धुओं के सत्प्रयत्न से इस महानगरी में वीतराग परमात्मा के मन्दिरों की अभिवृद्धि हुई जिनका संक्षिप्त परिचय प्रस्तुत किया जा रहा है, जिससे पाठकों को यहां के मन्दिरों के सम्बन्ध में संक्षिप्त परन्तु सर्वांश ज्ञान हो सके।

श्री दिगम्बर जैन बड़ा मन्दिर

श्री दिगम्बर जैन बड़ा मन्दिर तुलापट्टी जैन मन्दिर या सत्यनारायण पार्क से करीब एक फर्लांग की दूरी पर नं० १ वैशाख लेन में अवस्थित है। यह मन्दिर सर हरीराम गोयनका स्ट्रीट एवं पार्श्वनाथ टेम्पुल स्ट्रीट के कोने पर दाहिनी ओर है। सन् १८२६ ई० में श्री हुलासीलाल



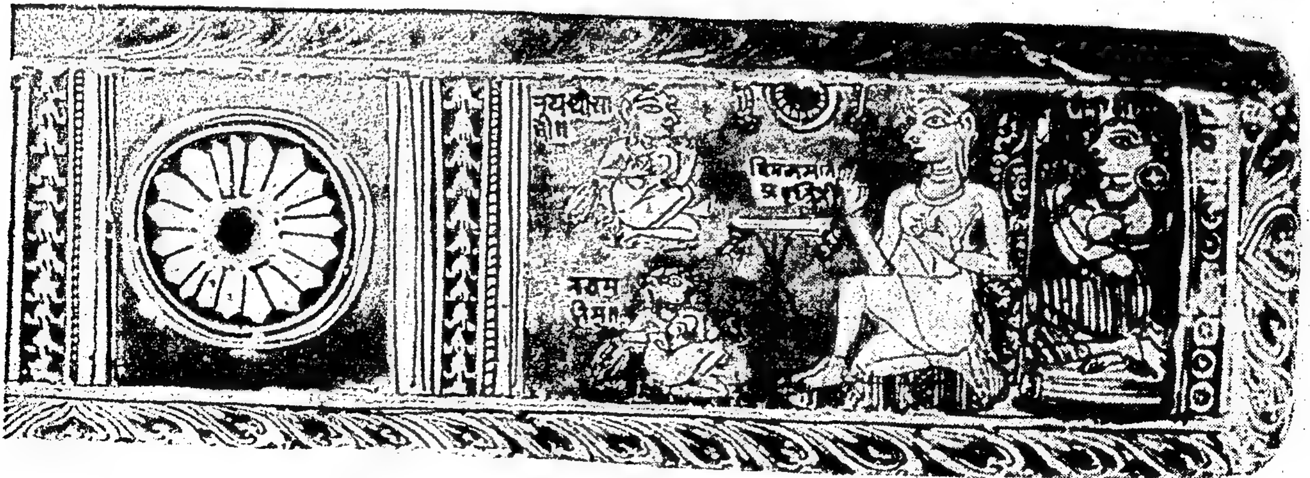


श्री पार्श्वनाथ जिनालय (बेलगछिया, देखिये पृष्ठ ४१

काष्ठफलक पर अंकित श्री जिनदत्तसूरिजी का चित्र
अनुमानित सं० ११५० (देखिये पृष्ठ १२५)



श्री गुणसमुद्राचार्य और सोमचन्द्र (श्री जिनदत्तसूरि)



उपाश्रय में प्रवर्त्तिनी विमलमति आदि

अग्रवाल ने इसका निर्माण कराके समाज को सुपुर्द किया था। वे निःसन्तान थे। उनकी बिरादरी की एक वहन उनकी सेवा-सुश्रुषा किया करती थी जिसकी एक पुत्री थी। उसका विवाह श्री हुलासीलालजी ने श्री हरसहाय बाबू नाम के एक नवयुवक से कर दिया और अपनी मृत्यु के बाद सारी सम्पत्ति धर्मार्थ लगा कर उसकी व्यवस्था का भार हरसहाय बाबू के जिम्मे कर दिया।

पुरानी बाड़ी

पुरानी बाड़ी के नाम से प्रसिद्ध दिगम्बर जैन मन्दिर बड़ा दिगम्बर जैन मन्दिर से आधा मील उत्तर ३५,व्रजदुलाल स्ट्रीट में अवस्थित है। यहां श्री हुलासीलालजी पहले रहते थे और उन्होंने अपने लिए वहां एक चैत्यालय बना रखा था। उनकी मृत्यु के बाद यह मन्दिर के रूप में परिणत हो गया। तत्कालीन एक दानी सेठ श्री वृद्धिचन्दजी सरावगी ने उसका जीर्णोद्धार कराकर व संगमर्मर आदि लगा कर उसे रमणीक बनवा दिया। ढाके की प्राचीन जैन मन्दिर की प्रतिमा यहां लाकर विराजमान की हुई है। यह मन्दिर काफी दर्शनीय है। मन्दिर के बाहर निर्माताओं की एक १७ संस्कृत श्लोकों की प्रशस्ति लगी हुई है।

बेलगछिया पार्श्वनाथ उपवन

बेलगछिया का पार्श्वनाथ उपवन एवं मन्दिर बड़ा बाजार से करीब ४ मील की दूरी पर बेलगछिया पुल के पास है। यहां पार्श्वनाथ भगवान का दर्शनीय मन्दिर है। इसे हर-सहाय बाबू के वंशज छन्नूलाल जौहरी ने सन् १८९७ में खरीदा और सन् १९१९ में यह समाज के नाम हो गया। इसी समय समाज के प्रतिष्ठित श्री दयाचन्द सरावगी ने काफी रुपये लगाकर वर्तमान मन्दिर का निर्माण कराया। इसके बाद भी दिगम्बर समाज के द्वारा इसमें काफी व्यय किया गया और यह एक अत्यन्त ही रमणीक एवं दर्शनीय स्थान हो गया, जहां जैनियों के अतिरिक्त बंगाली, मद्रासी, गुजराती आदि एवं विदेशी पर्यटक भी बराबर आते रहते हैं। जिन प्रतिमाएं, शिल्प, चित्र-समृद्धि, तालाब, बागीचा, इमारतें, कृत्रिम पहाड़ी, आदि इस मन्दिर एवं उपवन की सुन्दरता एवं मनोहारिता की अभिवृद्धि करने वाली है।

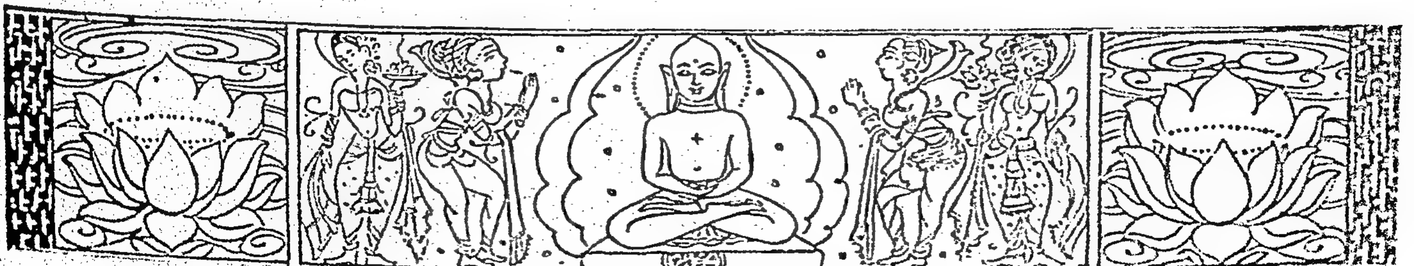
नया मन्दिर

नया मन्दिर रवीन्द्र सरणी, जिसका पुराना नाम चितपुर रोड था, के ८३ नम्बर में अवस्थित है। इस मन्दिर का निर्माण सन् १९०४ और सन् १९०५ के बीच हुआ। इसके निर्माण में श्री हरकिशनदास सरावगी का मुख्य हाथ था। बाहर से देखने में यह एक गृहस्थ का साधारण मकान-सा दीखता है, परन्तु भीतर से मार्बल जड़ा हुआ बहुत सुन्दर है। नया व्यक्ति जाकर देखता है तो स्तम्भित रह जाता है। इस मन्दिर के मूलनायक चन्द्रप्रभु भगवान हैं। इस मन्दिर में दो वेदियां हैं, एक उत्तराभिमुख चौमुख है।

चैत्यालय

१—चैत्यालय ढाका पट्टी में नं० २१, हंसपोखरिया फर्स्ट लेन के तीन तल्ले छत पर अवस्थित है। इसका निर्माण श्री भगवानदास जैन ने करवाया था। इसके मूलनायक भगवान नेमिनाथजी हैं।

२—यह ४ नम्बर सेक्सपियर सरणी, जिसका पुराना नाम थियेटर रोड था, में अवस्थित है। यह स्थान बिड़ला प्लेनेटोरियम से पूर्व की ओर करीब २०० गज की दूरी परहै।



इसे श्री गजराजजी सरावगी ने अपने लिए बना रखा है। परन्तु बाहर से भी लोग दर्शन करने जा सकते हैं। यह संगमर्मर का सुन्दर बना हुआ है और पास में छोटी-सी सुन्दर वाटिका भी है।

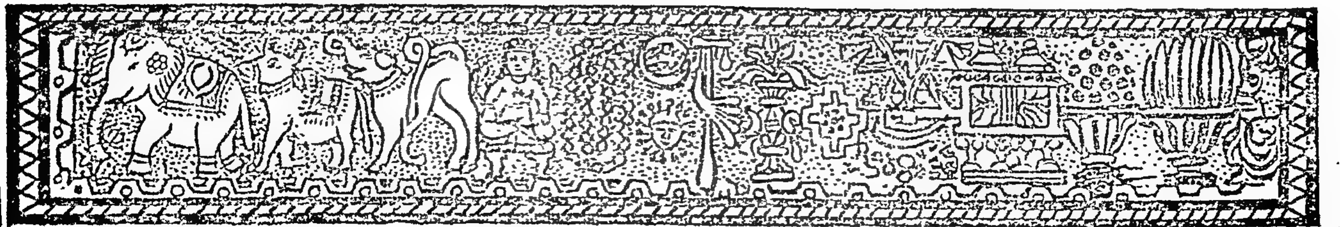
३—नं० ६ अलीपुर पार्क प्लेस स्थित साहू निलय में साहू शान्तिप्रसाद जैन ने अपने परिवार के लिए एक चैत्यालय बनवाया है। यह सुन्दर वाटिका के बीच कांच की छत वाले घर में अवस्थित है। यहां भी लोग दर्शन के लिए जा सकते हैं।

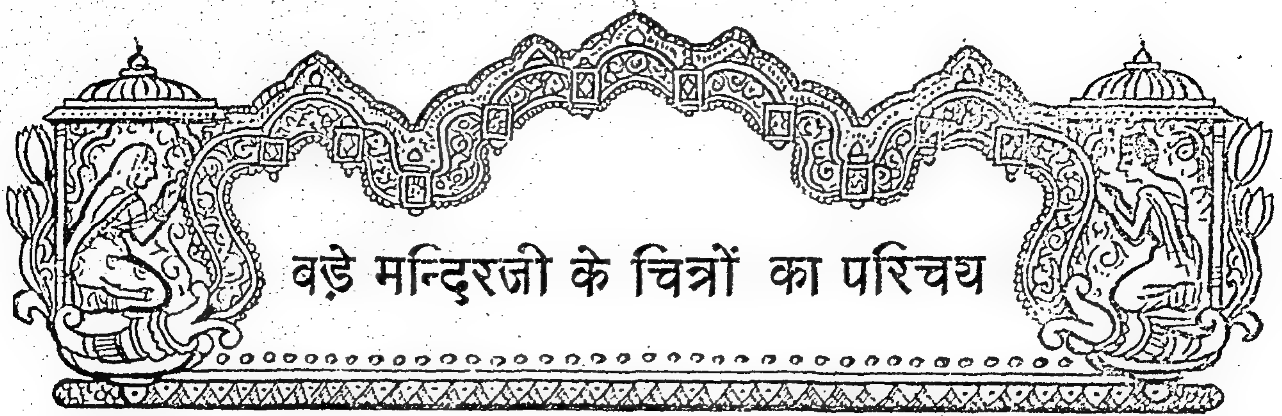
४—जैन कुंज हाइड रोड, खिदिरपुर में है जिसका निर्माण श्री बैजनाथ सरावगी ने अपने एवं अपने कारखानों में काम करने वाले कर्मचारियों के लिए बनवाया था। छोटी सी वाटिका में संगमर्मर एवं मोजाइक का सुन्दर बना हुआ है।

५—नं० ५१ बड़तल्ला स्ट्रीट में एक तल्ले पर अर्जुनदास घनश्याम सरावगी (बिसाऊ निवासी) द्वारा स्थापित महावीर स्वामी का चैत्यालय है। इस मकान को उन्होंने ट्रस्ट द्वारा सरावगी बालिका विद्यालय को दान कर दिया है।

कलकत्ता के चारों दिगम्बर जैन मन्दिरों की व्यवस्था 'श्री कलकत्ता दिगम्बर जैन मन्दिर पंचायत' नामक पंजीकृत संस्था के अधीन है। इनके अतिरिक्त कलकत्ता के पार्श्ववर्ती स्थानों के १, जटिया रोड स्थित बाली का मन्दिर, ४२ ग्रांड ट्रंक रोड, स्थित उत्तरपाड़ा का मन्दिर, जोगीपाड़ा स्थित चिन्सुरा का मन्दिर तथा रानीगंज के मन्दिर की व्यवस्था भी इसी संस्था के अधीन है।







बड़े मन्दिरजी के चित्रों का परिचय

मानव मस्तिष्क की सुकुमार एवं सूक्ष्म अनुभूतिपूर्ण कल्पनाओं को मूर्त रूप प्रदान कर साकार करने में चित्र-कला का एक अत्यन्त ही महत्वपूर्ण स्थान है। मानव-मस्तिष्क आदि काल से ही अपनी मन की कल्पनाओं को तथा सौन्दर्य की खोज में उसके काल्पनिक रूपों को चित्रों के रूप में साकार देखने का प्रयास करता रहा है। इसी प्रयास में समय-समय पर उसका परिवर्तित दृष्टिकोण एवं काल विशेष के प्रभावों के अनुसार अनेक प्रकार की चित्र-कलाओं का विकास होता रहा है। आज भी हम उसे इतिहास के पृष्ठों के रूप में गुफाओं, भित्ति-चित्रों, प्राचीन मन्दिरों या अवशेषों में देख सकते हैं और उससे उसका अन्दाजा लगा सकते हैं तथा उसके माध्यम से इतिहास की कड़ियों को मिला सकते हैं।

गुफाओं के भित्ति चित्रों की परम्परा, अपभ्रंशकालीन ताड़पत्रीय ग्रन्थों, काष्ट फलकों एवं वस्त्रपटों पर आलेखित एवं चित्रित होती हुई भारतीय चित्रकला विकसित हुई। उसमें पर्शियन, कांगड़ा और मुगल चित्रकला का क्या प्रभाव पड़ा तथा जयपुरी, बीकानेरी, उदयपुरी, जोधपुरी, किशनगढ़, कोटा-बूंदी, मालवा आदि विविध राजस्थानी शैली के चित्रों में जो धारा प्रवाहित हुई, उसका निर्देश करने का यहां पर न अवकाश ही है और न स्थान ही। परन्तु यह निर्विवाद है कि जैनों का इस कला एवं चित्र-परम्परा में अपना एक विशिष्ट स्थान है। जैन कला अपभ्रंश शैली के चित्रों में बाल गोपाल स्तुति आदि कुछ थोड़े से उदाहरण को छोड़कर समूची चित्र-समृद्धि केवल जैन विचारों पर ही आधारित है जिसकी संख्या एवं अवदान अत्यन्त ही विशाल है। यहां पर कलकत्ता के श्वे० जैन पंचायती मन्दिर में ही लगे चित्रों के सम्बन्ध में परिचय कराना अभीष्ट है।

बड़े मन्दिरजी में निम्नोक्त चित्र हैं जो इतने सुन्दर और आज के से बने हुए प्रतीत होते हैं, इस ग्रन्थ में उनके कतिपय इकरंगे चित्र इसलिए दिये जा रहे हैं कि पाठकों को उनकी चित्रकला का थोड़ा आभास मिल जाय।

मन्दिर के सभामण्डप में १० चित्र लगे हुए हैं। जिनका बाँयी ओर से दाहिनी ओर यथाक्रम परिचय प्रस्तुत है।

१—गौड़ी पार्श्वनाथजी—यह चित्र ३१×३० इञ्च माप का है। इसके मध्य में सात सूंड़ वाले हौदा युक्त श्वेत गज-राज पर भगवान की प्रतिमाजी विराजमान है, पास में प्रकट



होने का उल्लेख है। उभय पक्ष में नरनारी वृन्द अपने हाथ में कलश व पूजन सामग्री लिए उपस्थित है। चित्र के ऊपरी भाग में मेघ घटाओं से ऊपर छः विमान हैं जो अश्वमुखी, गजमुखी, हंसमुखी आदि विभिन्न हैं और दो-दो देव उनमें बैठे हुए पुष्प वर्षा कर रहे हैं। चित्र के निम्न भाग में तम्बू-डेरा-कनातें लगी हुई हैं।

इस चित्र के परिचय स्वरूप बोर्ड में निम्नोक्त अभिलेख है :—

"गौड़ी पार्श्वनाथ स्वामी प्रगट हुआ तिसका भाव"

"कलम गणेश मुसवर की मुकाम जयपुर शहर कलकत्ता में वनी।

"सम्वत् १९२५ मिति कार्तिक सुदि १५ वार शनि श्रीमाल ज्ञाती फोफलिया रीधुलाल तः पुत्र शिखरचंद्रेन कारापितम्"

२—राणकपुर तीर्थ—यह चित्र ३०×३० माप का है। चारों ओर शिखरवद्ध देव कुलिकाओं के मध्य विशाल दुमंजिला जिनालय है। नीचे चौमुखजी की चारों प्रतिमाएं व ऊपर के तल्ले में भगवान की एक प्रतिमा के दर्शन होते हैं। सामने दो छोटे मन्दिर दिखाये हैं, दाहिनी ओर धर्मशाला आदि हैं। अन्तरिक्ष में मेघ घटाओं के ऊपरी भाग में चार विमानों में देव दृष्टिगोचर होते हैं। मन्दिर का स्थापना चित्र है जिसके स्तम्भ जयपुरी शैली के ही हैं।

इसमें निम्न लेख चित्र के हांसिये में उल्लिखित है —

"कलम गणेश मुसवर की मुकाम जयपुर शहर कलकत्ता में वनी—

"श्री सम्वत् १९२५ मिति कार्तिक सुदि १५ वारशनी श्रीमाल ज्ञाती फोफलिया रीधुलाल: त पुत्र शिखरचंद्रेण कारापितं"

३—अष्टापद् महातीर्थ – यह चित्र ३०×३१ इञ्च का है। पर्वत शिखर पर भरत चक्रवर्तीकारित स्वर्णमय सिंह निषद्या प्रासाद में दो, चार, आठ-दस क्रम से चौवीस भगवान की तद्वर्णी प्रतिमाएं विराजमान हैं। प्रान्त भाग में १०० भ्राताओं के चरणपादुका युक्त स्तूप हैं। जिनालय में रावण-मन्दोदरी नृत्य कर रहे हैं। सूर्य किरणों के अवलम्बन से चढ़ते हुए एवं चैत्यवंदना करते और दूसरी ओर तिर्यकजृम्भक देवको प्रतिवोध देते हुए गौतम स्वामी दिखाये हैं। नीचे की सीढ़ियों पर तापस लोग योग-ध्यान रत दिखाये हैं जिनकी संख्या २२ हैं। नीचे भागीरथी तट पर खड़े श्रावक (संभवत: शिखरचन्द्रजी) हाथ जोड़े खड़े हैं। अष्टापदजी के नीचे लब्धिनिधान गौतम स्वामी तापसों को पारना करा रहे हैं। इसके हांसिये में अभिलेख निम्नोक्त है।

"अष्टापदजी का भाव रिषभदेवजी का निर्वाण कल्याणक-कलम गणेश मुसवर की मुकाम जयपुर शहर कलकत्ता में वनी।

"सम्वत् १९२५ मिति कार्तिक सुदि १५ वार शनी श्रीमाल ज्ञाती फोफलिया रीधुलालजी पुत्र शिखरचंद्रेन करापितम्"

४ भ० महावीर का समवशरण—यह छोटा चित्र २०×२६ इञ्च माप का है और परवर्ती काल में निर्मित है

५—केशरियाजी तीर्थ – यह चित्र ३१×३१ इञ्च का है। धुलेवा ग्रामस्थ ऋषभदेव भगवान के मंदिर को वावन जिनालय के मध्य सुन्दर और सुनहरा निर्मित किया है। मन्दिर में



चारों ओर भक्तजन समुदाय अवस्थित है। परकोटे में सामने कोने में दो मन्दिर और दुमंजिला घर दिखाया है। नौवत-खाने के उभय पक्ष में और प्राचीर के द्वार के उभय पक्ष में भी हाथी हैं। मन्दिर के वाहर नगर के मकानों के दृश्य हैं तथा वाहर में भी दादाजी का वगीचा और इमारतें बनी हुई हैं। पर्वतमाला और मेघ घटाओं के मध्य में ६ विमान हैं, जिनमें देव-देवियां हैं। चित्र परिचयाभिलेख निम्न उल्लिखित हैं :—

"श्री केशरियानाथजी का भाव" वनाई गणेश मुसवर की मु० जयपुर शहर कलकत्ता में वनी।

श्री संवत् १९२६ मिति ज्येष्ठ सुदि १५ वार विसपती श्रीमाल ज्ञाति फोफलिया रीधुलाल तत्पुत्र शिखरचन्द्रेन कारापितम्"।

६. सिद्धाचल महातीर्थ—यह चित्र ३२×४५ इञ्च का सुनहरा और मन्दिरों से परिपूर्ण है। विमलवसही, उसके चतुर्दिक् व आगे मन्दिरों का समूह सुशोभित हैं। अद्भुत वावा की विशाल प्रतिमा के नीचे मोतीवसही एवं वाम पार्श्व में नौ वसहियों के मन्दिर व मध्य में गिरिराज-मार्ग के थोड़े दृश्य हैं। तलहटी का छोटा-सा मन्दिर व नीचे गाँव व धर्मशालाओं का संक्षिप्त निदर्शन है।

इसका परिचय लेख :—

"सकल तीर्थाधिराज श्री श्री १०८ श्री सिद्धगिरि दरसनपट। बनाई गणेश मुसवर श्री मु० जयपुर शहर कलकत्ता में वनी।

"संवत् १९२६ मिति जेठ सुदि १५ वार वीसपत श्रीमाल ज्ञाती फोफलिया रीधुलाल तत्पुत्र शिखरचन्द्रेन करापितं॥

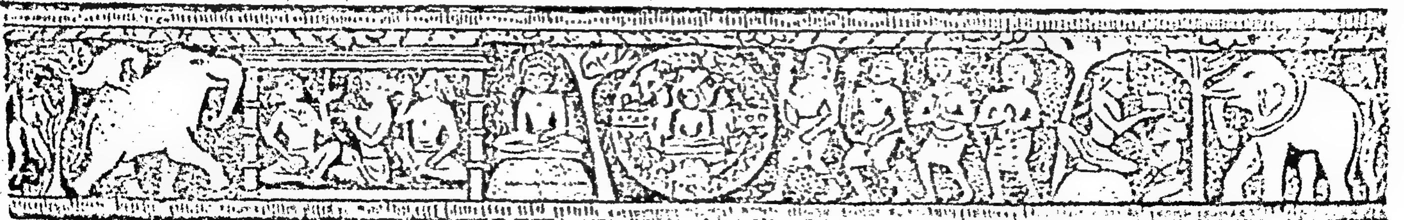
७. हस्तिनापुर तीर्थ—यह चित्र ३२×३१ इञ्च माप का है। दुग्ध श्वेत धर्मशाला के मध्यवर्त्ती वावू प्रतापचन्द्रजी पारसान द्वारा निर्मापित नव्य जिनालय के विशाल चित्र हैं। गर्भगृह के तीन विम्व और उभय पक्ष की देहरियों में श्रीप्रभु के दर्शन होते हैं। प्रांगण में भक्त मण्डली नृत्य-वाजित्र रत है। धर्मशाला के वाँयी ओर वाहर में वगीचे हैं। पीछे दो पहाड़ी-टीले हैं जिन पर मन्दिर अवस्थित हैं। तम्बू-डेरों में श्रावक संघ उतरा हुआ है और यत्र-तत्र घूमते-फिरते लोग दिखाई देते हैं धर्मशाला के दाहिनी ओर की पहाड़ी के ऊपर मन्दिर व नीचे एक शिवालय भी हैं। आगे भी नाला प्रवाहित हो रहा है। अन्तरिक्ष में चार विमान पुष्पवर्षक देव और मेघ घटाओं की प्रेक्षणीय छटा है। परिचय लेख निम्नोक्त है :—

"श्री हस्तिनापुरजी का भाव।

श्री शांतिनाथ स्वामी के मन्दिर का भाव श्री शुभ दिन कलकत्ता में भाव वना। श्री संवत् १९३५ मिति आसोज सुदि ५।

८. तारंगाजी तीर्थ—यह छोटा चित्र २१×१७ इञ्च माप का है। तारंगाजी का ही एक चित्र और ३०॥×३०॥ माप का ऊपर की वालकनी में लगा हुआ है, उसके जैसा ही यह चित्र होने से पुन: परिचय देना अनावश्यक है।

९. चम्पापुरी तीर्थ—यह चित्र ३०×३० इञ्च माप का वना हुआ है। चम्पा नाले के पास गाँव के वीच विशाल भूखण्ड में धर्मशाला के वीच दो सुनहरे दुमंजिले वासुपूज्य जिनालय अवस्थित है। अन्तरिक्ष में आठ विमान-स्थित देव युगल पुष्प-वृष्टि कर रहे हैं। परिचय इस प्रकार है—



"श्री चम्पापुरीजी को भाव श्री वासुपूज्य स्वामी के पंच कल्याणक।"

"वनाई गणेश मुसवर की मु० जयपुर शहर कलकत्ते में वनी।"

"श्री संवत् १९२५ मिति कार्त्तिक सुदि १५ वार सनी श्रीमाल ज्ञाती फोफलिया रीधुलाल तत्पुत्र शिखरचन्द्रेन करापितं।"

१०. श्री पावापुरी महातीर्थ –यह चित्र ३०×३१ इञ्च का वना हुआ है। कमल सरोवर के मध्य में सुप्रसिद्ध जल मन्दिर और उसके सामने वर्त्तुलाकार समवशरण मन्दिर व सामने की ओर धर्मशाला व वगीचे के वीच गाँव। मन्दिरजी व उससे संलग्न नवरतन धर्मशाला है। सामने एक बड़ासा मकान वना हुआ है। सड़क पर यात्रीगण चलते दिखायी देते हैं। घोड़े, हाथी, वैल रथादि भी अवस्थित हैं। अन्तरिक्ष के विमान पुष्पवृष्टि करते दिखाये हैं। तालाव के सामने दिगम्वर मन्दिर के पास जहाँ अभी नाहरजी की दीनशाला है, विशाल भूखण्ड में कनात के घेरे में दो तम्बू लगे हुए हैं। चित्र परिचय इस प्रकार है—

"श्री पावापुरीजी को भाव श्री महावीर स्वामी निर्वाण कल्याणक।

कलम गणेश मुसवर की मुकाम जयपुर शहर कलकत्ता में वनी।

श्री संवत् १९२५ मिति कार्त्तिक सुदि १५ वार शनी श्रीमाल ज्ञाती फोफलिया रीधुलालजी तः पुत्र शिखरचन्द्रेन कारापितम्।"

११. श्री केशरियाजी—यह चित्र १५×१९ इञ्च का है। ऊपर वड़े चित्र नं० ५ में केशरियाजी का परिचय दिया जा चुका है। अतः पुनः लिखना अनावश्यक है।

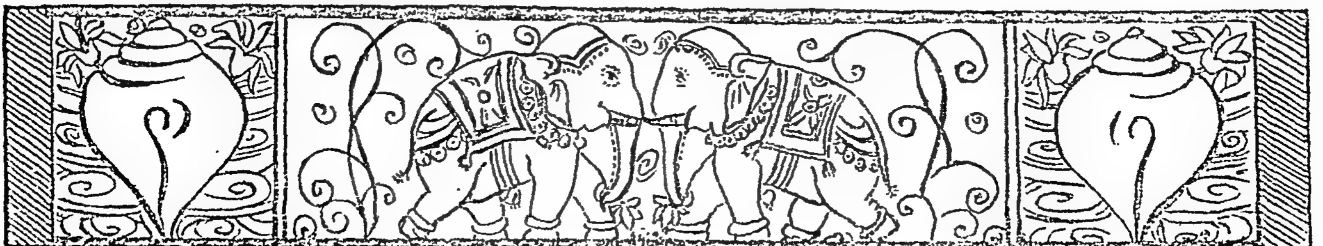
१२. वर्त्तमान चौवीसी—यह चित्र २१॥×२४॥ इञ्च का है। इसमें वर्त्तमान चौवीसी के मनोहर चित्र है। प्रत्येक में उभय पक्ष में इन्द्रादि अवस्थित हैं।

१३. मुनिसुव्रत स्वामी—यह चित्र ३१॥×३१ इञ्च माप का है। इसमें मुनिसुव्रत स्वामी की विशाल प्रतिमा है जिसके परिकर में दोनों ओर खड्गासनस्थ एवं पद्मासनस्थ प्रतिमाएं हैं। चित्र के सामने नीचे के भाग में गौतम स्वामी और उभय पक्ष में दादासाहव के चरणों की देहरी है। दोनों ओर दो भैरवजी महाराज भी विराजमान हैं। मुनिसुव्रत स्वामी की प्रतिमा पर "श्री संवत् १९३५ आषाढ़ सुदि २ श्रीमुनि सुव्रत स्वामी" लिखा हुआ है।

१४. नेमिनाथ वरात—यह २०॥×२६॥ इञ्च का वना हुआ परवर्ती चित्र है।

१५. नेमिनाथ वरात व गिरनारजी—यह चित्र १५×१९ इञ्च का प्राचीन है।

१६. तारंगाजी तीर्थ—यह चित्र ३०×३० इञ्च का है। इस चित्र में तारंगा तीर्थ-पर्वत पर श्री अजितनाथ भगवान का स्वर्णाभ चित्र है। इस पहाड़ पर चार दिगम्वर देवालय तथा कई श्वेताम्वर देहरे हैं जिनमें चरण पादुकाएं या प्रतिमाएं विराजमान हैं। इस चित्र में श्वेताम्वर समाज की दो और एक दिगम्वर धर्मशाला भी अंकित हैं। साधु, मुनिराज एवं यात्री गण गिरिराज पर स्थल-स्थल पर फिरते हुए दिखाई देते हैं। एक तालाव भी वना है। आकाश में मेघ घटा के ऊपर से चार विमान पुष्पवृष्टि करते हुए



दिखाये गये हैं। नीचे धर्मशाला और तन्निकटवर्त्ती एक मन्दिर भी आलेखित है।

श्री तारंगाजी का भाव" कलम गणेश मुसवर की शहर कलकत्ता में बनी।

श्री संवत् १९२५ मिति कार्तिक सुदि १५ श्रीमाल ज्ञाती फोफलिया रीधुलालजी तः पुत्र शिखरचन्द्रेण कारापितम्—

१६. मरुदेवामाता—यह चित्र १९॥×१४ माप का है।

१७. बगीचे के मन्दिर में पार्श्वनाथ—इस चित्र का माप १४×१०॥ इञ्च है। भगवान के समक्ष एक ओर एक श्रावक वन्दन करते दिखाये हैं।

१८. गौड़ी पारसनाथजी को भाव।

१९. चम्पापुरी तीर्थ—यह चित्र १७×२१ इंच का है जिसकी सार-सम्भाल ठीक से न होने से रंग कुछ खराब हो गया है। परिचय इस प्रकार लिखा है :-

श्री चम्पापुरीजी का भाव पांच कल्याणक।

श्री संवत् १९३७ मिति जेठ सुदि १० कलम गणेश चितारा साकीन जयपुर बनाई कलकत्ता शुभ दिन ॥१॥

२०. श्री पावापुरी महातीर्थ—इस पर निम्न परिचय लिखा है—

श्री पावापुरीजी का भाव श्री संवत् १९३७ मिति जेठ सुदि १५ सोमवार को तैयार हुई गणेश चीतेरा साकीन जयपुर हाल कलकत्ता।

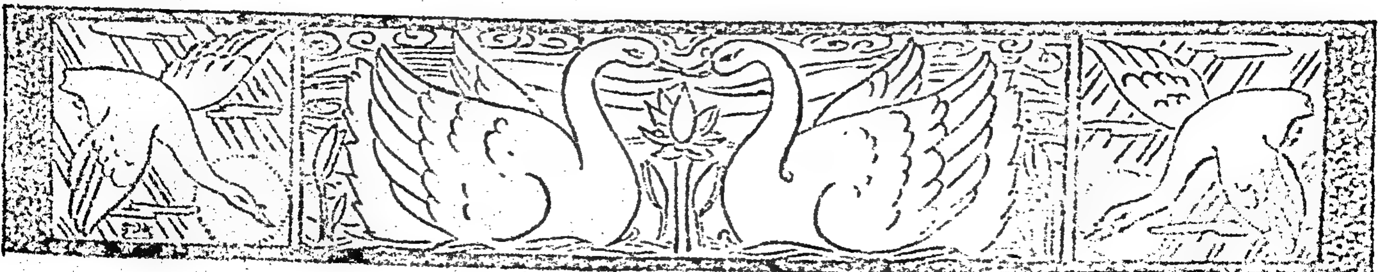
२१. समेतशिखरजी—यह चित्र १६×१९ इंच का गदी में लगा हुआ है। इसमें भी चित्रकार। गणेश, मुसवर का नाम है और उसी शैली का सुन्दर चित्र है मधुवन धर्मशाला, मन्दिर, पगडंडी, मार्गवर्ती स्थान व जल मन्दिर का स्वर्णमय चित्र है। वीस भगवान की टोंके भी कुशलतापूर्वक चित्रित की गई हैं।

२२. गट्टाजी-यंत्रादि— इसमें १३ यन्त्र हैं और चित्र का १९×१९ इंच माप है।

२३. बड़ा चित्र चौवीसी व यन्त्र—बीच में चौवीसी व ८ नवपद जी के यन्त्र हैं।

२४. अष्टापदजी २५ पांच तीर्थङ्कर २६ समवशरण में नवपदजी, २७ से ३४ चामर, पंखा, दर्पण, वाजित्रादि धारक तथा पार्श्वनाथ भगवान, ह्रींकार सह पार्श्वनाथ, मत्स्यलांछन प्रतिमा, महाकाली, चौवीसी, पार्श्वनाथजी, शांतिनाथजी आदि तीर्थङ्करों के चित्र हैं। ३५ एक छोटा चित्र श्री मुनिसुव्रत स्वामी का है जिनके सम्मुख "श्रीरतनमुनिजी महाराज" विराजमान हैं जिनके पीत वस्त्र धारण किये हुए हैं। ज्ञानभंडार के पास एक चित्र में पद्मावतीयुक्त पार्श्वनाथ तथा दोनों ओर दादासाहब व नीचे भैरवजी अधिष्ठाता की स्थापना है। यह चित्र १०×७॥ इंच का है। इस मंदिर में शत्रुंजय के दो पट आधुनिक है जो ४५॥×६९ तथा ४७×६९ माप के हैं। इन चित्रों के अतिरिक्त एक १६×१६ फुट परिमाण का वस्त्र पर बना हुआ चतुष्कोण वस्त्र पट है जिस पर जम्बूद्वीप से लगाकर नन्दीश्वर द्वीप तक का भाव है।

दादाजी महाराज के बगीचे में प्रख्यात चित्रकार श्री इन्द्र दूगड़ द्वारा बनाया हुआ दादाजी महाराज की जीवनी सम्बन्धी एक बड़ा चित्र है।



उपसंहार

अपने विस्मृत आत्मस्वरूप की चेतना जाग्रत करने के लिए जिन प्रतिमा और जिन मन्दिर का अवलम्बन बड़ा ही प्रशस्त और परमादरणीय है। जिस प्रकार घड़ी में एक बार चाभी भरने पर वह दिन भर या सप्ताहभर अबाध गति से चलती रहती है, उसी प्रकार प्रतिदिन का जिनदर्शन मनुष्य को सदाचार च्युत होने से बचाकर अध्यात्मिक चेतना को अनुप्राणित करता रहता है। इस देश में जहाँ श्रमण संघ का सहस्राब्दि पर्यन्त तिरोभाव रहा, वहाँ इन्हीं पुष्टालम्बन हेतु भूत जिनविम्बों के कारण सब कुछ विस्मृत होकर भी सराक जाति सदाचार और शुद्ध खानपान में दृढ़ रह सकी थी। श्रावक वर्ग सुदूर देशों में रहते हुए भी अपने धर्म पर दृढ़ रहे हैं और रहते हैं, यह जिनेश्वर भगवान की प्रतिकृतियों का ही प्रताप है। जिनालयों के कारण ही आज देश विदेश में जैनों की ख्याति है उनकी कलाकृतियाँ, संस्कृति और इतिहास प्रत्येक भारतीय के लिये गौरव की वस्तु है। कलकत्ते पर ही विचार करें तो जैन मन्दिर और कार्तिक महोत्सव की सवारी के अतिरिक्त कौन-सा साधन रह जाता है कि जिससे यहाँ के लोग जैन धर्म का नाम भी जानें? अतः मन्दिरों की उपयोगिता अनिवार्य है और गत १५० वर्षों में इस मन्दिर से जो अनुपम प्रतिदान उपलब्ध हुआ है

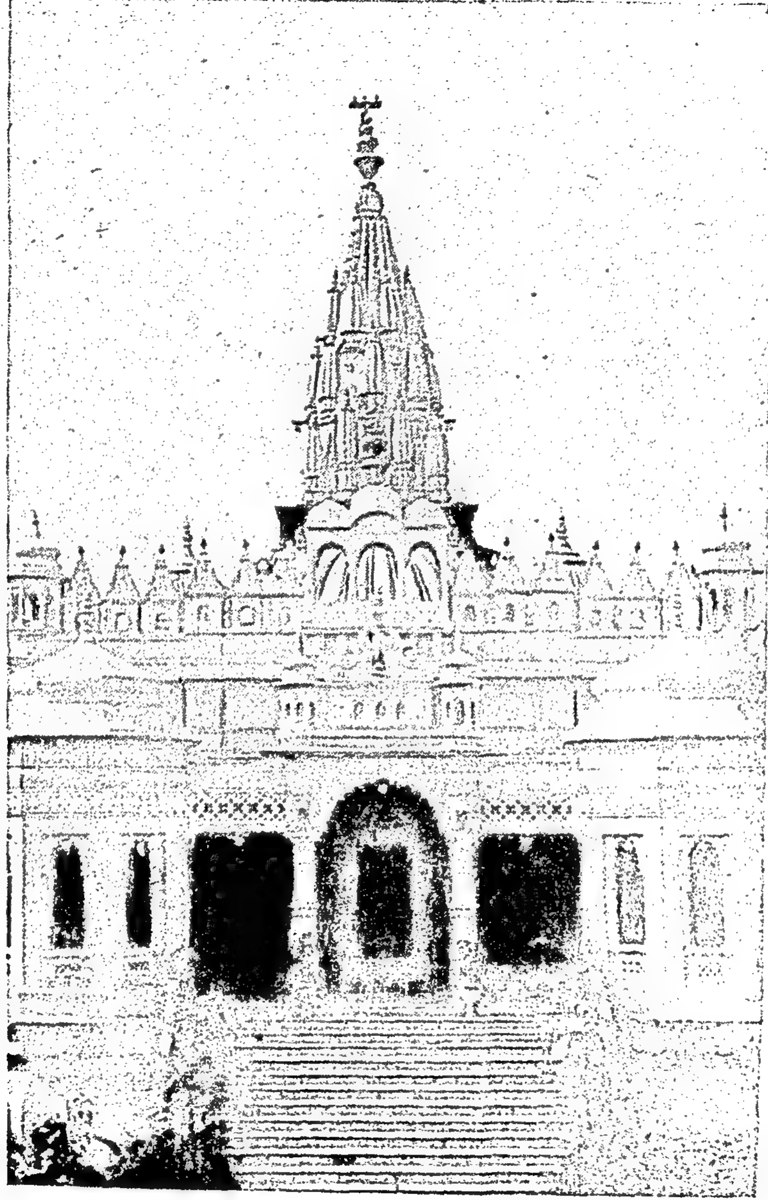


वह वर्णनातीत हैं। इस ट्रष्ट के कोष से समय-समय पर अन्य जिनालयों को द्रव्य सहयोग भी दिया जाता है, जिससे पुराने मन्दिरों का जीर्णोद्धार हो सके, सेवा पूजा का क्रम विधिवत् चलता रहे। पिछले कई वर्षों तक, बिहार राज्य के श्वे० धार्मिक न्यास के संचालन के लिये यहाँ से धनराशि प्रदान की जाती रही थी। राजगृह के मन्दिर के लिये भी रु० २०,०००) दिये गये तथा श्रीशीतलनाथ जिनालय के मरम्मत आदि के लिये सहयोग दिया गया तथा अन्य प्रान्त के मन्दिरों के जीर्णोद्धार हेतु भी बजट के अनुसार बराबर सहायता दी जाती है। जिनेश्वर भगवान के दर्शनों से आत्मा में अनुपम शान्ति मिलती है। साम्यभाव, शान्ति, सहिष्णुता, अहिंसा, सात्विकता, पवित्रता और वीतरागता के भाव आराधक लोग यत्किंचित् रूप में भी लाते हैं तो इससे बढ़कर और क्या उपयोगिता हो सकती है। इन्हीं पवित्र संस्थाओं के सहारे धार्मिक, सामाजिक उत्कर्ष और संगठन अधिकाधिक सुदृढ़ बनाये जा सकते हैं स्वाध्याय, ध्यान, संयम, तप आदि सभी का अनायास ही जिनालय में जाने से आराधन हो जाता है।

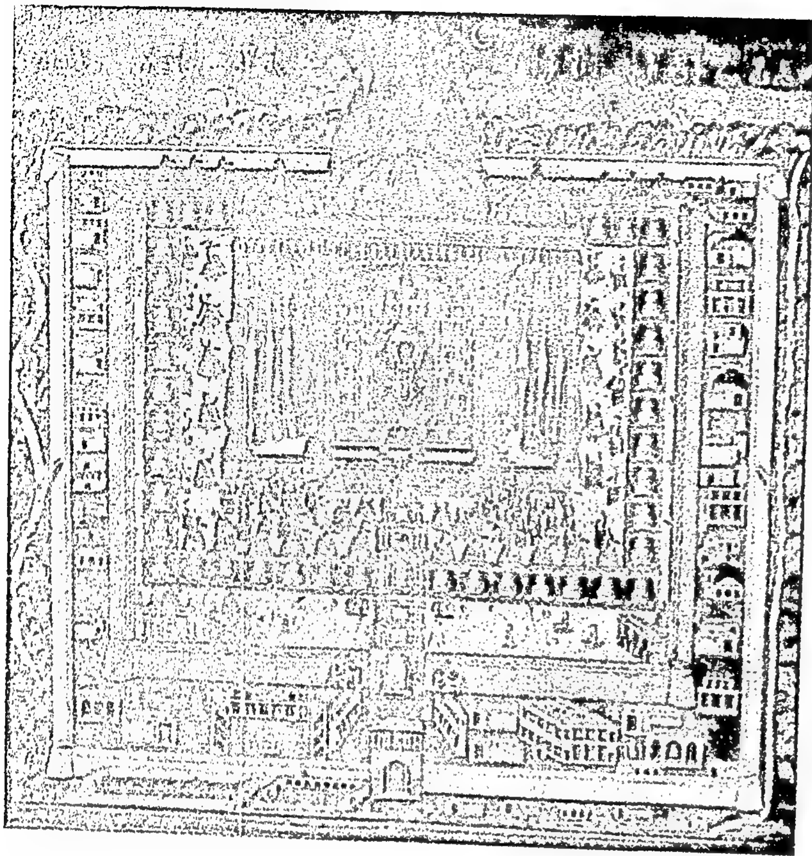
इण काले सवि जीव नै रे आगम थी आणंद।
ध्यावो सेवो भविजना रे जिन पड़िमा सुख कंदो रे॥

(भगवान् देवचन्द्र)

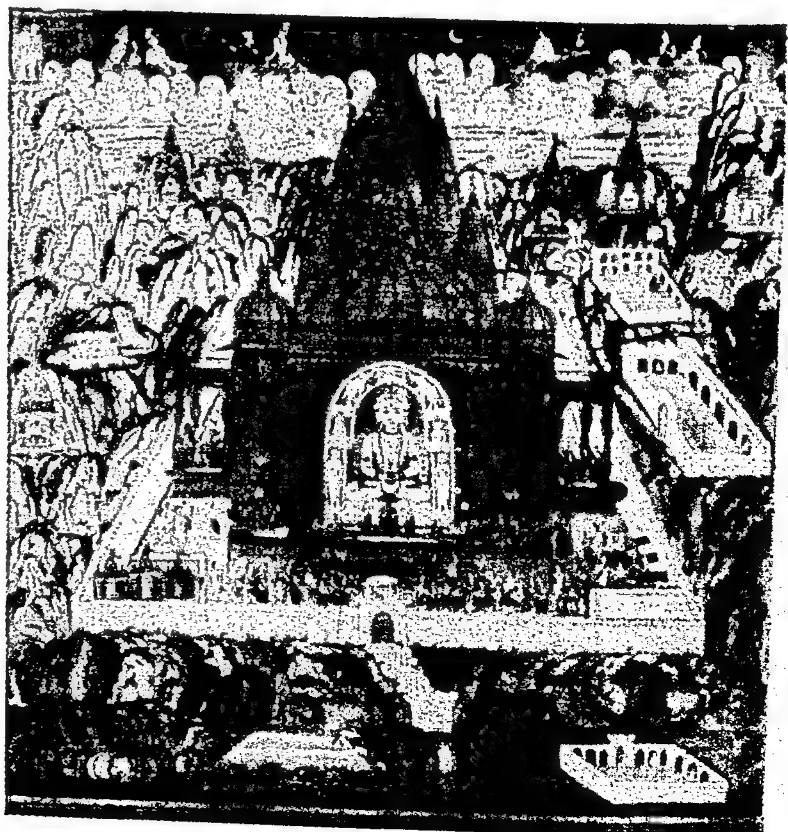




श्री चन्द्रप्रभु जिनालय
(परिचय पृष्ठ ३७)



श्री केशरियाजी (पृष्ठ ४४ चित्र ५)



श्री तारंगाजी तीर्थ का
(देखिये पृष्ठ ४६, चित्रांक १६)



अपने आराध्य देव की मूर्ति में आराध्य का आरोप करना अर्थात् मूर्ति द्वारा मूर्तिमान का दर्शन करना मूर्तिवाद है। अथवा प्रतिमा द्वारा प्रभु की पूजा करना, उन्हें नमन-वंदन करना और उनकी स्तुति, सेवा, पूजा आदि द्वारा उपासना करना ही मूर्तिवाद है।

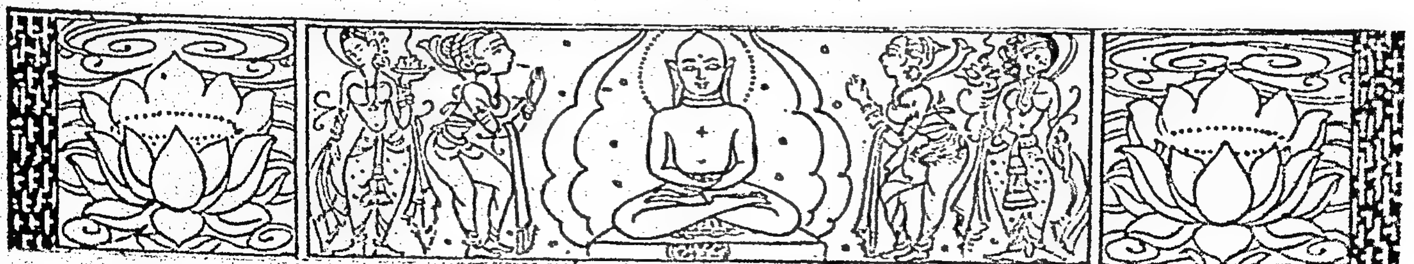
आस्तिक व्यक्तियों के लिए मूर्तिमान का स्वरूप समझने में मूर्तिवाद बड़ा ही सहायक सिद्ध हुआ है। शास्त्रकारों ने आत्मज्ञान कराने में इसे पुष्टावलम्बन माना है। कई महानुभावों ने इसके महत्व को न समझ कर इसे जड़-पूजा कहा है। और यहां तक कह दिया है कि "पाथर पूजे हरि मिले, तो मैं पुजूं पहाड़।" यहां हमारे भाइयों का यह समझना भूल है कि पूजनेवाला व्यक्ति पत्थर पूजता है और उसे नमन-वन्दन करता है। वास्तव में वह तो नमन-वन्दन करता है जिस महापुरुष की वह मूर्ति है—उनको और उनके गुणों को। जैसा कि पंडित प्रवर उपाध्याय श्री मानविजयजी महाराज लिखते हैं—

"भाव दृष्टि मां भावनां, व्यापक सवि भासे।
उदासीनता अवरसुं, लीनो तुज गुण वासे॥"

भाव-दृष्टि से अवलोकन करते हुए हमें सभी स्थलों एवं आपकी सभी अवस्थाओं में आपका ही व्यापक स्वरूप दिखाई देता है, अर्थात् केवल आप-ही-आप दिखाई देते हैं; क्योंकि उस समय हम अन्य पदार्थों से उदासीन और एकमात्र आपके गुणरूपी सुवास में ही लीन रहते हैं।

वास्तव में वह स्तवना करता है अपने आराध्य देव की। यदि वह पत्थर पूजता होता, तो गुणगान करता पत्थर का कि हे पत्थर! तुम बड़े उज्ज्वल, अत्यन्त स्निग्ध और निपट निष्कलंक हो तथा नमस्कार भी करते पत्थर को ही कि—"नमो मूर्तये", लेकिन हम सब प्रत्यक्ष देखते हैं कि ऐसा नहीं होता।

जिन-मन्दिर में जाकर प्रभु की मूर्ति के दृष्टिगत होते ही वह "णमो जिणाणम्" कहकर प्रभु को नमस्कार करता है और विचार करता है कि हे भगवान्! आपकी कितनी प्रशान्त मुद्रा है, आप में कितनी सरस शान्ति है और आप कितने महा पवित्र हैं! गुणों के तो आप आगार ही हैं आदि रूप से वह स्तवन करता हुआ उनके गुणों को अपने में उतारने की प्रेरणा प्राप्त करता है। प्रतिमा-पूजक को यह स्पष्ट मालूम होता है कि यह प्रभु की प्रतिमा है, पत्थर नहीं। जैसे एक हजार का नोट एक साधारण कागज नहीं है, परन्तु एक हजार रुपयों का वास्तविक प्रमाण-पत्र है। ठीक यही उदाहरण प्रतिमा आदि में भी घटित होता है। अब सोचिये कि हम पत्थर-पूजक कैसे हुए? हम तो वास्तव में मूर्ति द्वारा मूर्तिमान की पूजा करते हैं! मूर्ति तो केवल



मात्र उनका भान, स्मरण एवं चिन्तन करा देने का माध्यम मात्र है।

जैन मूर्ति-वाद एवं उसकी पूजा के स्वरूप का दिग्दर्शन कराती हुई, जर्मन विदुषी डा० चारलोट क्राउजे अपनी "दी कैलेडस्कोप आफ इण्डियन विजडम" नामक पुस्तक के "जैनिज्म" प्रकरण में लिखती हैं—

"The worship of these Jinas and their idols, is far from being "idol-worship" in its idea. But it has, with much better right, been called "ideal-worship" for' the worshipper expects from his "God" neither help nor favour. But he plays the pious play merely in order to concentrate his mind and activity on his actul ideal and standard, and to find, as it were, some substantial support for his striving after the far off aim of perfection.

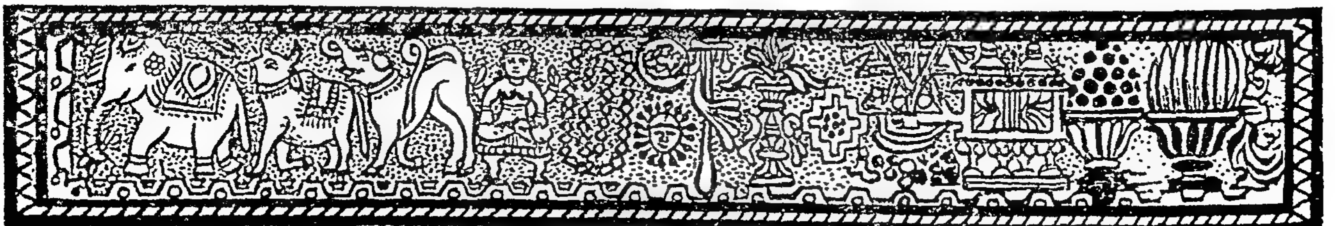
"जिन परमात्माओं या इनकी मूर्तियों की पूजा केवल विंब पूजा नहीं है।विचारत : यह जड़ पूजा के बहुत दूर है। वास्तव में इसे आदर्श पूजा व उपासना कहना चाहिए। क्योंकि पूजक-आराधक अपने परमात्मा से किसी प्रकार की मदद व कृपा की उम्मीद नहीं रखता, बल्कि वह तो इस पवित्र खेल (चर्चा) में भाग ले रहा है मात्र अपने मन एवं क्रिया को अपने इष्ट व ध्येय पर केन्द्रीभूत करने के लिए। और अपने अन्तिम लक्ष्य-पूर्णता को प्राप्त करने की चर्या में सारगर्भित बल प्राप्त करने के लिए ही।"

उपर्युक्त विषय को समझने में स्वनामधन्य हमारे स्व० राष्ट्रकवि श्री मैथिलीशरण गुप्त का निम्नलिखित पद्य बड़े ही महत्व का है। हालांकि उन्होंने बूंदी निवासी कुंभा नामक व्यक्ति के देश-प्रेम का वर्णन करते हुए यह पद्य लिखा है, पर आप देखेंगे कि मूर्तिवाद का महत्व इससे कितना स्पष्ट व्यक्त होता है—

तोड़ने दूं क्या इसे नकली किला मैं मान के।
पूजते हैं भक्त क्या प्रभु मूर्ति को जड़-जान के॥
अज्ञ जन उसको भले ही जड़ कहें अज्ञान से।
देखते भगवान् को धीमान् उसमें ध्यान से॥

मूर्ति में परमात्मा की भावना करके उसकी पूजा करना मूर्तिपूजा है।

मनुष्य उसी की मूर्ति की स्थापना करता है, जिसके प्रति उसका पूज्य भाव होता है। और जहां पूज्य भाव है, वहां उसमें पूजा निहित है। जब किसी के प्रति आपका पूज्य भाव होगा, तो आप चाहेंगे ही कि आप उसका सम्मान, सत्कार, सेवा-भक्ति एवं पूजादि कर अपने मनोगत भावों को व्यक्त करें। चाहे आप इसे मनुष्य स्वभाव कहें और चाहे मानवता, ऐसा होना नैसर्गिक है। फिर उसकी स्थापना से हम जो प्रेरणा प्राप्त करना चाहते हैं—उसके आदर्शों को अपने जीवन में उतारना चाहते हैं, तब तो हमारे लिए यह अत्यन्त आवश्यक हो जाता है कि हम उसकी पूजा-उपासना करें। और उससे कुछ प्राप्ति भी तभी हो सकेगी, जब कि हम उन्हें पूज्य बुद्धि, श्रद्धाभाव से देखें। यदि द्रोणाचार्य के प्रति एकलव्य की पूज्य-बुद्धि नहीं होती, उनकी वह आराधना नहीं करता, तो क्या एक जंगली भील बाण-



विद्या का महान् आचार्य हो सकता था ! अतएव लाभ तो उसकी पूजा से ही हो सकता है। चाहे उसका तरीका जो भी हो ।

पूजा का अर्थ है—अपने आराध्य के प्रति श्रद्धा और समर्पण के भाव प्रकट करने वाला कार्य। आदर-सत्कार, नमन-वन्दन, अर्चन, आराधन एवं ध्यान आदि इसके कई प्रकार हो सकते हैं, जो अपनी भूमिका एवं भावना के अनुसार अपनाये जा सकते हैं और ये द्रव्य, क्षेत्र, काल एवं भाव के अनुरूप समय-समय पर परिवर्तित भी होते रहते हैं।

जैनागमों में पूजा के स्थूल रूप से दो भेद बताये गये हैं—द्रव्य-पूजा और भाव-पूजा। उक्त दोनों ही प्रकार की पूजाओं का विधान शास्त्रों में बड़े ही विस्तृत एवं व्यवस्थित रूप से बताया गया है। हमारा यह पूजा-विधान सहेतुक, विज्ञानसम्मत एवं अत्यन्त उपयोगमय है। इसमें प्रतिक्षण अपने विवेक को जाग्रत रखने की आवश्यकता रहती है। विधिपूर्वक उपासना से उपासक के रोगादि दोष क्षीण होते हैं और इससे ज्ञानादि गुणों का आविर्भाव होता है।

उक्त पूजाओं में जहां तक भाव-पूजा का प्रश्न है, उस पर विशेष लिखने की आवश्यकता प्रतीत नहीं होती, यहां तो हमें द्रव्य-पूजा पर विचार करना है। साधारणतया पूजा का अर्थ ही है द्रव्यों द्वारा पूजा करना। अतएव इसके महत्व पर विचार करना आवश्यक है। द्रव्य-पूजा की व्याख्या करते हुए संत शिरोमणि श्रीमद् देवचन्द्रजी महाराज ने श्रीचंद्रप्रभु भगवान के स्तवन में लिखा है।

द्रव्य सेव वन्दन नमनादिक, अर्चन वलि गुण ग्रामोजी।
भाव अभेद थवानी ईहा पर भावे निष्कामोजी।

अर्थात्—पर-भाव (धन-सम्पत्ति आदि) की कामना रहित एकमात्र अपने आराध्य देव—अरिहन्तादि के भावों (गुणों) में लीन होने की भावना से उनका वन्दन, नमन, करजोड़न एवं अर्चनादि (जल, चन्दनादि) द्वारा की जानेवाली पूजा, द्रव्य-पूजा है।

फिर हमारी पूजा तो त्याग होती है। हम पूजा की प्रत्येक सामग्री को निर्वपामि (त्याग) करते हैं और त्याग का फल होता है आत्मा में ममत्व भाव की निवृत्ति।

यह स्वाभाविक है कि इन्द्रियासक्त व्यक्तियों की इन्द्रियां अपने-अपने विषयों की ओर दौड़ना चाहती हैं अर्थात् इन्द्रियां अपने विषयों की पूर्ति के लिए कुछ-न-कुछ खुराक खोजती रहती हैं। अतः उनकी पूर्ति के लिए ऐसी सामग्री उपस्थित करने की आवश्यकता है कि जिससे उनकी गति कुमार्ग की ओर प्रवृत्त न होकर सुमार्ग की ओर हो। जैसे नेत्रों के विषय की पूर्ति के लिए उनको शृंगारादिक विषयक वस्तुओं की ओर न जाने देकर संयम और समभाव की ओर ले जानेवाली सामग्री प्रस्तुत की जाय। कर्णों के विषयों की पूर्ति के लिए उन्हें कामादि विकारों की ओर ले जानेवाले गाने आदि न देकर भक्तिभाव की ओर झुकानेवाले मधुर गान आदि दिये जा सकते हैं। लिखने का आशय यह है कि द्रव्य-पूजा में सब इन्द्रियों के लिए काम है। जैसे आंखों से प्रभु का रूप देखें, कानों से प्रभु का कीर्तन सुने, जीभ से प्रभु का नाम उच्चारण करें, नासिका द्वारा प्रति श्वास में प्रभु स्मरण करें, हाथों से



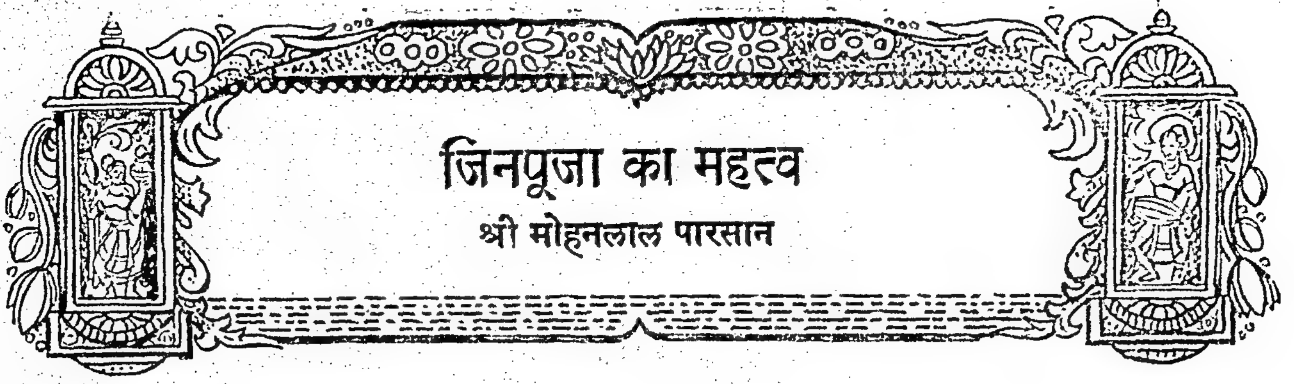
सेवा-पूजा करे और पांवों से चलकर प्रभु-भक्ति करे, तीर्थ-यात्रा करे। इस तरह समस्त इन्द्रियों को वह द्रव्य-पूजा में परमेश्वर को अर्पण कर सकता है। इन्द्रियाँ भोग के लिए नहीं रह जातीं। उपासक के लिए द्रव्य-भक्ति में इन्द्रियां साधन बन जाती हैं। उसकी ऐसी परिणति हो जाती है कि मानो इन्द्रियाँ फूल हैं, जिन्हें उसे परमात्मा को चढ़ाना है। फूल तो भगवान पर चढ़ाने के लिए ही होते हैं। फूलों की माला खुद अपने गले में डालने के लिए नहीं होती। इस तरह इन्द्रियों का उपयोग परमात्मा की सेवा में किया जाय यह हुई द्रव्योपासक की दृष्टि।

मन की चपलता किससे छिपी है ? साधारणतया मन को कूद-फांद करते हुए बन्दर की उपमा दी जाती है। ऐसे मन को एक ही विषय पर एकाग्र करना सरल काम नहीं है। ऐसा करते जाने से मन में निकम्मे विचार उत्पन्न होंगे, वासनाएं एवं चिन्ताएं विक्षेप डालेंगी, बाधाएं उपस्थित करेंगी। ऐसे विक्षेपों से बचाने में द्रव्य सहायक हो सकता है। वास्तव में मन का स्वभाव ऐसा है कि यदि आप उसे एक स्थान पर बैठाना चाहो, तो वह भागना चाहेगा। भिन्न भिन्न इन्द्रियों को उत्तम एवं सुन्दर काम में लगा दें, फिर मन को खुशी से भटकने के लिए मुक्त कर दें, वह कहीं नहीं भटकेगा। द्रव्य-पूजा का उद्देश्य हुआ इन्द्रियों को विषयों में न भटकने देना और प्रभु-भक्ति में तन्मय बना देना। अर्थात् इसके द्वारा मन एवं इन्द्रियों शुभ प्रवृति में लगाई जा सकती हैं और यह इसका बड़ा भारी महत्व है।

प्रभु की प्रतिमा पूजि कर, भावुक भक्त सुजाण।
अन्तर्मुख हो करि विनय, करत आत्म कल्याण ॥







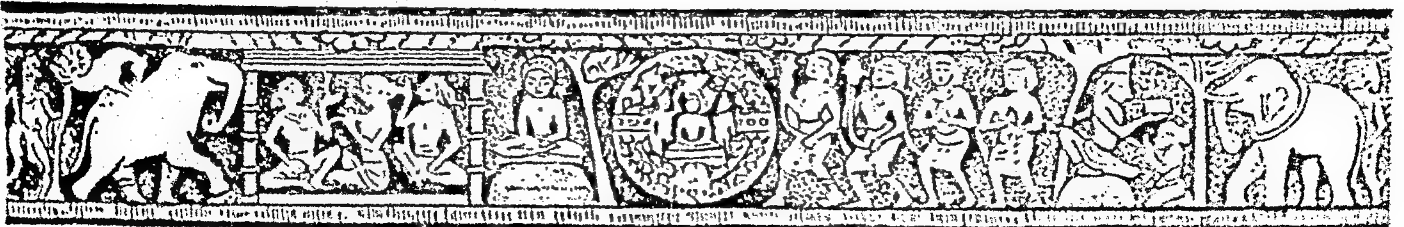
जिनपूजा का महत्व

श्री मोहनलाल पारसान

श्रद्धा, भक्ति, अनुराग या जन्म-मरण का भय अथवा इनके मिश्रण से पूजा की भावना उत्पन्न होती है। अस्मरणीय काल से मानव जाति पूजा तथा मूर्ति-पूजा करती आई है तथा कर रही है। आराध्य देव भिन्न हो, मान्यता में फर्क हो, पूजा की प्रणाली विपरीत हो, परन्तु उद्देश्य हर जगह एक ही है। "आत्म-शुद्धि ही पूजा का प्रधान लक्ष्य है।" मानव अपनी दुर्बलता के कारण सांसारिक सुख-समृद्धि एवं सफलता की लालसा से बहुधा पूजा करता है, किन्तु यह धारणा गलत है।

जिन-पूजा या जिनभक्ति से आत्म-साक्षात्कार होता है। यह जीव अपने आत्मभान को भूलकर अनादिकाल से संसार की चारों गतियों में असह्य दुःखों को सहन करता हुआ भ्रमण कर रहा है। पौद्गलिक सुखों में सुख मानकर इसने निज चेतन स्वरूप को बिलकुल भुला दिया। उन पौद्गलिक सुखों ने इसे कर्मों के जटिल बन्धनों में जकड़ लिया। वह भूल गया कि यह शरीर जड़ वस्तु है, आत्मा चैतन्य स्वरूप है। शरीर नाशवान् है, आत्मा अमर तथा अविनाशी है। वस्त्र जीर्ण हो जाने से जैसे नया वस्त्र धारण किया जाता है, उसी प्रकार यह शरीर अशक्त, शिथिल तथा जीर्ण हो जाने से कर्माधीन आत्मा शरीर बदलता है। मोह, अज्ञान आदि के वश आत्मभान भूलकर किये गये कार्य आत्मा पर काला मैल चढ़ा देते हैं, जिसे धोकर साफ करने की आवश्यकता रहती है। भव्य-प्राणी संसार के घोर कष्टों तथा जन्म-मरण से छुटकारा पाने के लिए सद्देव, गुरु के पास अपनी आत्मशुद्धि के उपाय की जिज्ञासा करता है तथा उनके बताये हुए मार्ग पर चलने का प्रयत्न करता है। परम पुरुष सर्वज्ञ तीर्थङ्कर भगवान से बढ़कर और कौन गुरु इस संसार में हो सकता है? उन्होंने अपने आत्म-साधना के द्वारा केवल ज्ञानस्वरूप को प्रकट किया तथा भव्यजनों को अपने अमृत-तुल्य उपदेश के द्वारा प्रतिबोध देकर उपकृत किया। अनादि काल से मोह निद्रा में सोये हुए भव्यजनों को जगाया। सर्वज्ञ वीतराग प्रभु की अनुपस्थिति में हमें उनकी मूर्ति की विनयपूर्वक पूजा-भक्ति करने से तथा सद्गुरु द्वारा उनके उपदेश सुनने से उनके गुण व जीवन का बोध होता है, जिससे हमें उनके दर्शाये हुए आत्मसिद्धि के मार्ग पर चलने की प्रेरणा मिलती है और अन्त में आत्म-साक्षात्कार (समकित) होने से हम अपनी आत्म-शुद्धि कर सकते हैं। आत्मशुद्धि से परमपद प्राप्त होता है।

अपने-अपने युगों में अवतीर्ण हुए महापुरुषों को प्रबल पुरुषार्थ तथा कठिन तपश्चर्या करने से सिद्धि उपलब्ध



हुई। उनके महान् कार्यों से उन्हें मान्यता प्राप्त हुई। जो उन्हें परख सके, पहचान सके, वे उनके अनुयायी हुए और उन भक्तों को उन महापुरुषों की पूजा का सौभाग्य प्राप्त हुआ। ऐसे महापुरुषों के निर्वाण के पश्चात् उनकी मूर्ति स्थापित हुई, मन्दिर बने, उनके जन्म, निर्वाण तथा विहार के स्थान पवित्र तीर्थभूमि बन गये। भक्तों ने अपने-अपने इष्ट-देवों की मूर्तियां या चरण-पादुकाएं स्थापित करायीं। अपने शास्त्र, प्राचीन ग्रन्थ तथा प्राचीन मन्दिर व देवालय इसके साक्षी हैं।

वास्तव में हम मूर्ति-पूजा द्वारा सर्वज्ञ वीतराग प्रभु के जीवन, गुणों तथा उपदेशों का स्मरण करते हैं। अपने प्रिय-जनों को खो देने के बाद—उनके चिर-वियोग के पश्चात् जब कभी हम उनके चित्र या मूर्ति को देखते हैं तो हमें उनकी याद ताजा हो जाती है। इसी प्रकार भगवान की मूर्ति के दर्शन व पूजा करने से हमें उनके उपदेश स्मरण होते हैं। हम संसार में नाना प्रकार के प्रलोभनों में पड़े हैं, इसलिए यह स्मरण भले ही क्षणिक मात्र हो, परन्तु अच्छी भावना एक क्षण की भी मनुष्य के लिए अत्यन्त लाभदायक है। एक आकर्षक मुख की छवि देखकर मानव हृदय चंचल हो जाता है, तब भगवान की प्रतिमा के दर्शन करके हमें क्यों न अच्छे भाव उत्पन्न होंगे ? अवश्य होंगे तथा शास्त्रों में वर्णन है कि बहुतों को हुए हैं जिससे उन्हें परम लाभ हुआ है।

इच्छा, तृष्णा का कभी अन्त नहीं होता। इस पर काबू पाने के लिए हम द्रव्य-पूजा करते हैं। हम निम्न अष्ट प्रकारी पूजा करते हैं। इसके अर्थ से हमें साफ-साफ विदित है कि जिन भगवान् की मूर्ति पूजा हम क्यों करते हैं।

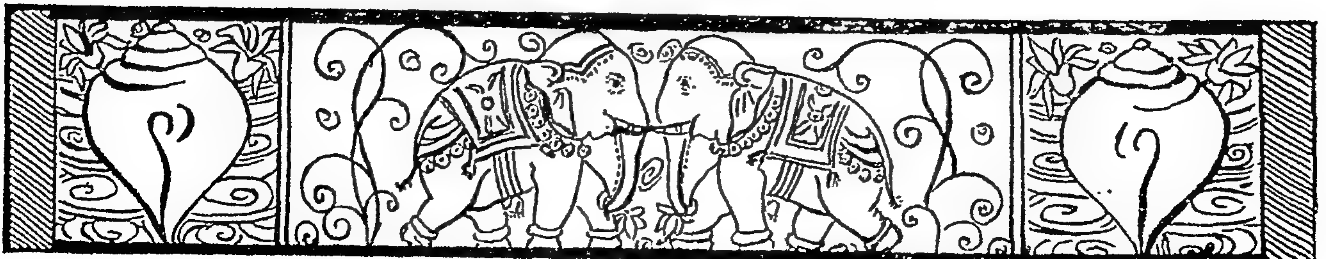
१—विमल केवलभासनभास्करं, जगति जन्तु महोदय कारणं जिनवरं बहुमान जलौघतः शुचिः मनः स्नपयामि विशुद्धये। ॐ ह्रीं परम परमात्मने अनन्तानन्त ज्ञान शक्तये जन्म जरा मृत्यु निवारणाय श्री मज्जिनेन्द्राय जलं यजामहे स्वाहा।

भावार्थ—मैं शुद्ध मन से निर्मल केवलज्ञान रूपी प्रकाश के द्योतक एवं संसारी जीवों के महान् उदय के कारण जिनेन्द्र भगवान को अत्यन्त आदर सहित जल से अपनी आत्म-शुद्धि के लिए स्नान करता हूं। ॐ=परमेष्ठी। ह्रीं=चौबीस भगवान। अनन्तज्ञानी तथा अनन्त शक्तिशाली, जन्म-जरा-मृत्यु से परे, स्वयं मुक्त तथा मुक्ति मार्ग के निर्देशक महान् परमात्मा की अपने आत्मा पर लगे कर्म-मल को साफ करने के लिए जल से पूजा करता हूं।

२—चन्दन पूजा

सकल मोह तमिस्र विनाशनं,
परम शीतल भावयुतं जिनं
विनय कुम्कुम चन्दनदर्शनैः
सहज तत्वविकाश कृतेऽर्चये।

भावार्थ—सम्पूर्ण मोह रूपी अन्धकार को दूर करने के लिए परम शान्त वीतराग स्वभाव युक्त जिनेन्द्र भगवान की केशर-चन्दन से पूजा करता हूं, जिससे अभिमान-हृदय की कठोरता नष्ट होकर कोमलता-विनयगुण प्रकट हों ताकि सम्यग दर्शन का पात्र बन सकूं।



३—पुष्प पूजा

विकच विर्मल शुद्ध मनोरमैः
विशद चेतन भाव समुद्भवैः।
सुपरिणाम प्रसून घनैर्नवैः
परम तत्वमयं हि यजाम्यहं।

भावार्थ—खिले हुए सुन्दर सुगन्धयुक्त पुष्पों से केवल ज्ञानमय जिनेन्द्र भगवान की पूजा कर मनमन्दिर को प्रसन्नता से खिला दो। मन पवित्र-निर्मल बन जाने से, ज्ञानचक्षु खुल जायेंगे व विशुद्ध चेतन स्वभाव प्रकट होगा जिससे अनुभव रूपी पुष्पों से आत्मा सुवासित हो जायगा।

४—धूप-पूजा

सकलकर्म्म महेंधन दाहनं
विमल संवर भाव सुधूपनं।
अशुभ पुद्गल संग विवर्जितं
जिनपतेः पुरतोऽस्तु सुहर्षितः।

भावार्थ—अशुभ पाप के संग से बचने के लिए, समस्त कर्मरूपी (ईंधन) को जलाने के लिए, प्रफुल्लित हृदय से जिनेन्द्र भगवान की सुगंधित धूप-पूजा करता हूं, ताकि शुद्ध संवर रूप आत्मिक शक्ति का विकास हो जिससे कर्मबंधन रुक जायें।

५—दीप पूजा

भविक निर्मलवोध विकाशकं,
जिनगृहे शुभदीपकदीपनं।
सुगुण राग विशुद्ध समन्वितं,
दधतु भाव विकाश कृते जनाः

भावार्थ—भविजीव निर्मल आत्मवोध के विकास के लिए जिन मन्दिर में घृत दीपक जलावे, जिससे उनके मन-मन्दिर में सद्गुण—(अहिंसा, संयम, इच्छारोधतप) रूपी दीप का प्रकाश फैल जाय।

६—अक्षत् पूजा

सकल मंगल केलि निकेतनं, परम मंगल भाव मयं जिनं।
श्रयति भव्यजना इति दर्शयन्, दधतुनाथ पुरोऽक्षत स्वस्तिकं

भावार्थ—आत्मा को पूर्ण आनन्द का विहार केन्द्र बनाने के लिए परम मंगल भावयुक्त जिनेन्द्र के सामने अक्षत से स्वस्तिक बनाकर भव्यजन चार गतियों का बोध करते हैं। स्वस्तिक के ऊपर तीन बिन्दुओं से सम्यग् दर्शन-ज्ञान-चारित्र का, ऊपर चन्द्र से सिद्धशिला का तथा बिन्दु से सिद्धों का बोध करते हैं। इस प्रकार सम्यग् दर्शन, ज्ञान, चारित्र ही भव्य जीव को मोक्ष प्राप्त कराते हैं।

७—नैवेद्य पूजा

सकल पुद्गल संग विवर्ज्जनं, सहज चेतन भाव विलासकं।
सरस भोजन नव्य निवेदनात्, परम निवृत्ति भाव महं स्पृहे

भावार्थ—समस्त पुद्गल भोग एवं संयोग से मुक्त होने के लिए, अपने सहज आत्म स्वभाव का स्वाद लेते रहने के लिए, हे भगवान हम सरस भोजन आपके सामने चढ़ाते हैं। फलस्वरूप हमें समस्त विषय वासनाओं के भोग की इच्छा से निवृत्ति प्राप्त हो।

८—फल पूजा

कटुक कर्म विपाक विनाशनं सरस पक्वफल व्रज ढौकनं।
वहति मोक्ष फलस्य प्रभोः पुर, कुरुत सिद्धिफलाय महाजना



भावार्थ—दु:खदाई कर्म के फल को नाश करने के लिए, मोक्ष मार्ग का बोध देने वाले वीतराग प्रभो ! हम आपके आगे सरस, पके फल चढ़ाते हैं, फलस्वरूप मुझे भी आत्मसिद्धि रूप मोक्ष फल प्राप्त हो।

जिनेश्वरदेव की द्रव्य-पूजा के पश्चात् हम भाव-पूजा करते हैं। प्रभु की प्रार्थना के साथ-साथ उनके गुण-गान में लयलीन होकर अन्त में कायोत्सर्ग ध्यान में हम अपनी आत्म-सत्ता को परमात्मा के सदृश्य जानें, अनुभव करें। आत्म-जागृति से उत्पन्न आत्मश्रद्धा आत्मानुभव में अनुपम शान्ति, अपार आनन्द के स्रोत वहने लगते हैं; केवलज्ञान में गोते लगते हैं। पूजा से यह अपूर्व अवस्था प्राप्त होती है।

हमारे साधु-साध्वी द्रव्य-पूजा नहीं करते। आवश्यक भाव-पूजा करते हैं।

विनय का स्थान जैनधर्म में प्रथम है। मूर्ति-पूजा से विनयभाव उत्पन्न होता है। विनयभाव से अहंकार नष्ट होता है। गुरू में पूज्य बुद्धि से अहंकार-नाश होता है। अहंकार नाश होने से साधना में वड़ी सफलता मिलती है।

मूर्ति-पूजा का मर्म तथा पूरा महत्व श्रीआनन्दघनजी महाराज के श्रीसुविधिनाथ भगवान के स्तवन से पूर्ण रूप से समझने में आता है तथा वह भावार्थ सहित निम्न प्रकार है—

सुविधि जिनेश्वर पाय नमीने, शुभ करणी एम कीजे रे।
अतिघणो उलट अंग धरीने प्रह उठी पूजीजेरे ॥१॥

भावार्थ—सवेरे उठकर प्रसन्न चित्त से श्री सुविधिनाथ जिनेश्वर का दर्शन कर, उनके चरण कमलों में विनय भक्ति पूर्वक वन्दना करें। निम्न सुविधिपूर्वक उल्लासित हृदय से उनका नित्य-पूजन करें।

२—द्रव्य भाव शुचि भाव धरी ने हरखे देहरे जईये रे।
दहतिग पण अहिगम साचवतां, एकमना धुरि थईयेरे ॥२॥

भावार्थ—शारीरिक एवं मानसिक शुद्धिपूर्वक प्रसन्न-चित्त से मन्दिर जावे! पांच अभिगमों को पालते हुए वहां निसिही आदि दश प्रकार त्रिक की आराधना करनी चाहिए। इस प्रकार सद्अनुष्ठान करते हुए अपने इष्ट देव के गुणों में एकाग्रचित्त होवें।

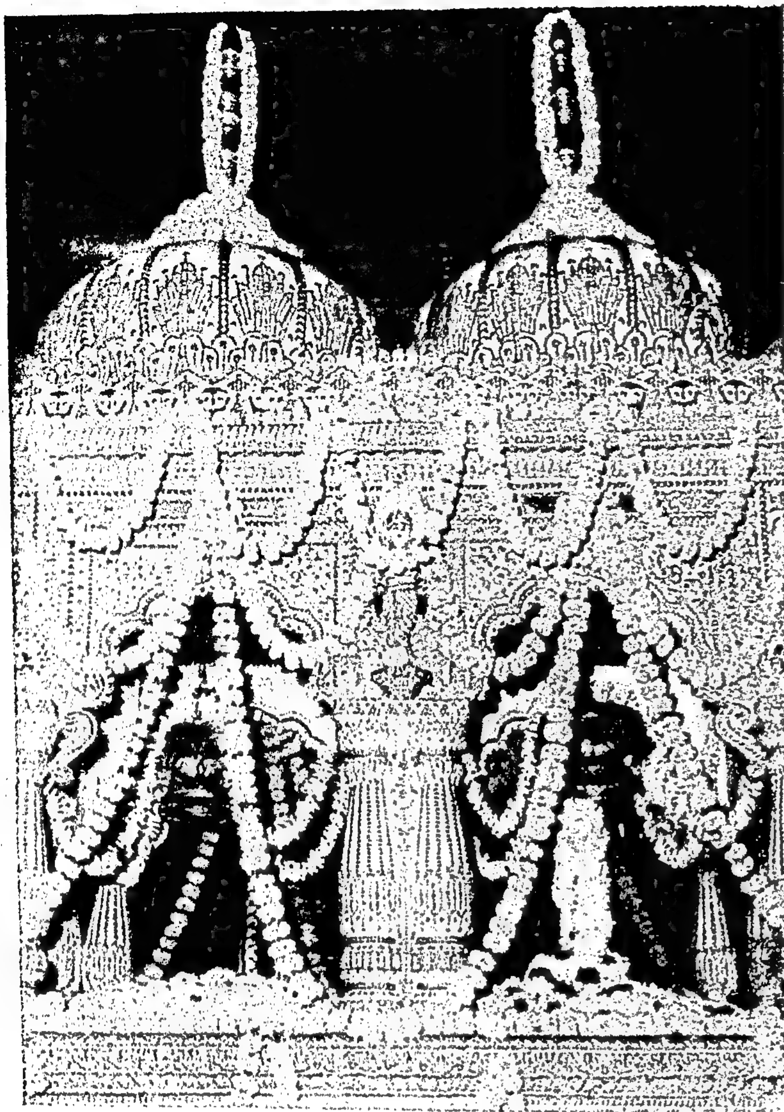
पांच अभिगम :– (१) सचित वस्तु का त्याग (२) अचित ग्रहण (३) सांसारिक चिन्तन छोड़कर प्रभुभक्ति रूप चिन्तन (४) मान-सूचक चिन्हों को वाहर ही छोड़ देना (५) जिन-दर्शन होते ही हाथ जोड़कर नमस्कार करना।

दशत्रिक :—(१) तीन निसिही (२) तीन प्रदक्षिणा (३) तीन नमस्कार (४) तीन दिशाओं में निरीक्षण न करना (५) तीन प्रमार्जना (६) तीन योग का प्रणिधान-अनुष्ठानों में तन्मयता (७) अंग अग्र भाव तीन प्रकार की पूजा (८) तीन अवस्थाओं की भावना (९) तीन प्रकार की मुद्रा (१०) प्रतिमा, गुणग्राम शब्द एवं अर्थ ये तीन ध्यान के अवलम्वन है।

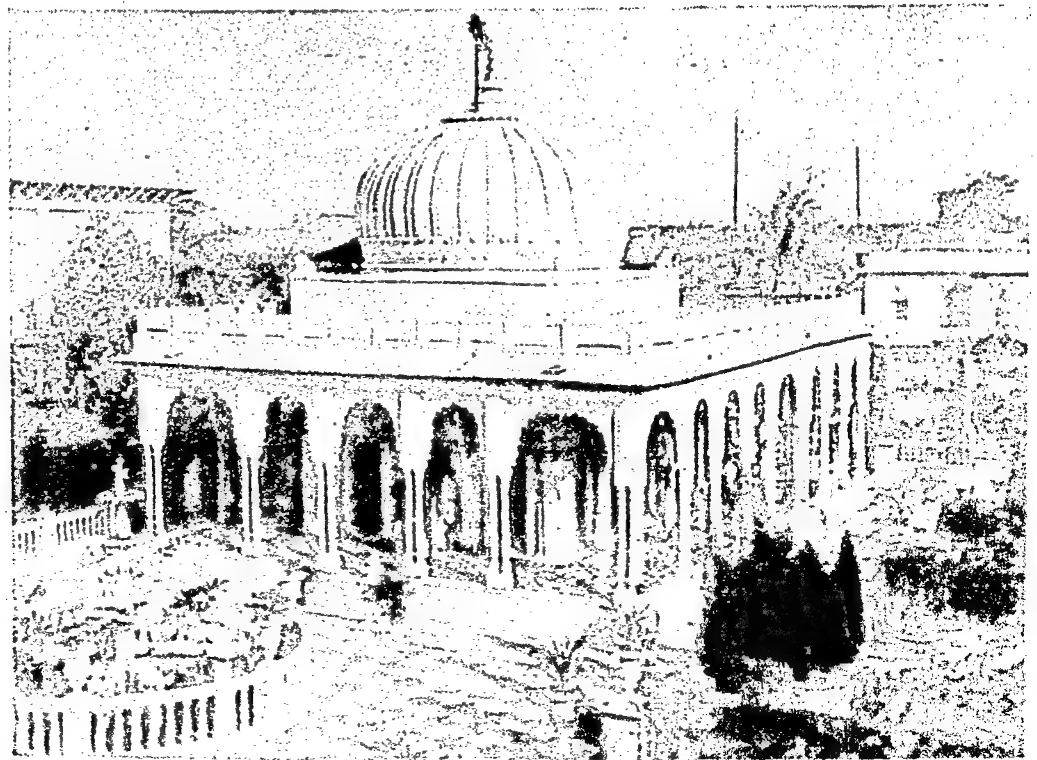
३—कुसुम अक्षत वरवास सगंधी, धूप दीप मन साखीरे।
अंगपूजा पण भेद सुणी इम, गुरू मुख आगम भाखीरे ॥३॥

भावार्थ—आगम के आधार से, सद्गुरू के उपदेश से भलीभांति समझकर प्रभु की अंग-अग्र पूजा चन्दन, पुष्प, धूप, दीप, अक्षतादि से विनय भक्ति-पूर्वक मनसाखी यानी मन स्थिर कर करें।

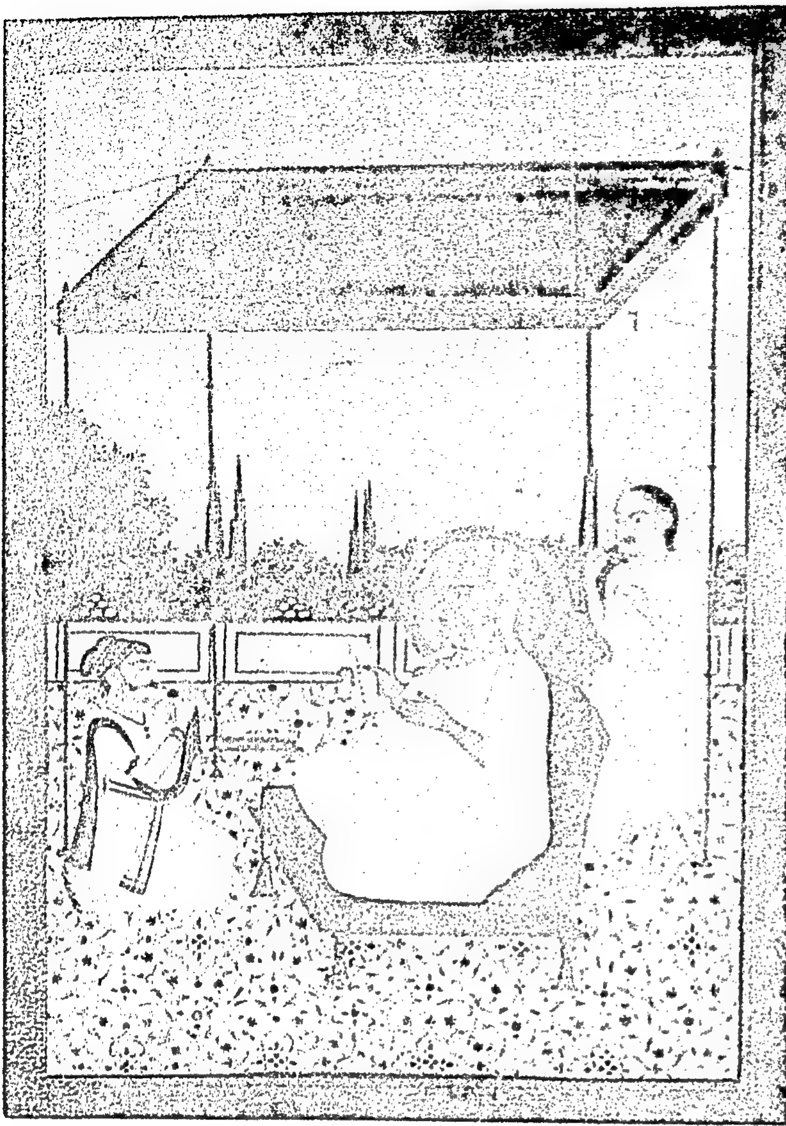




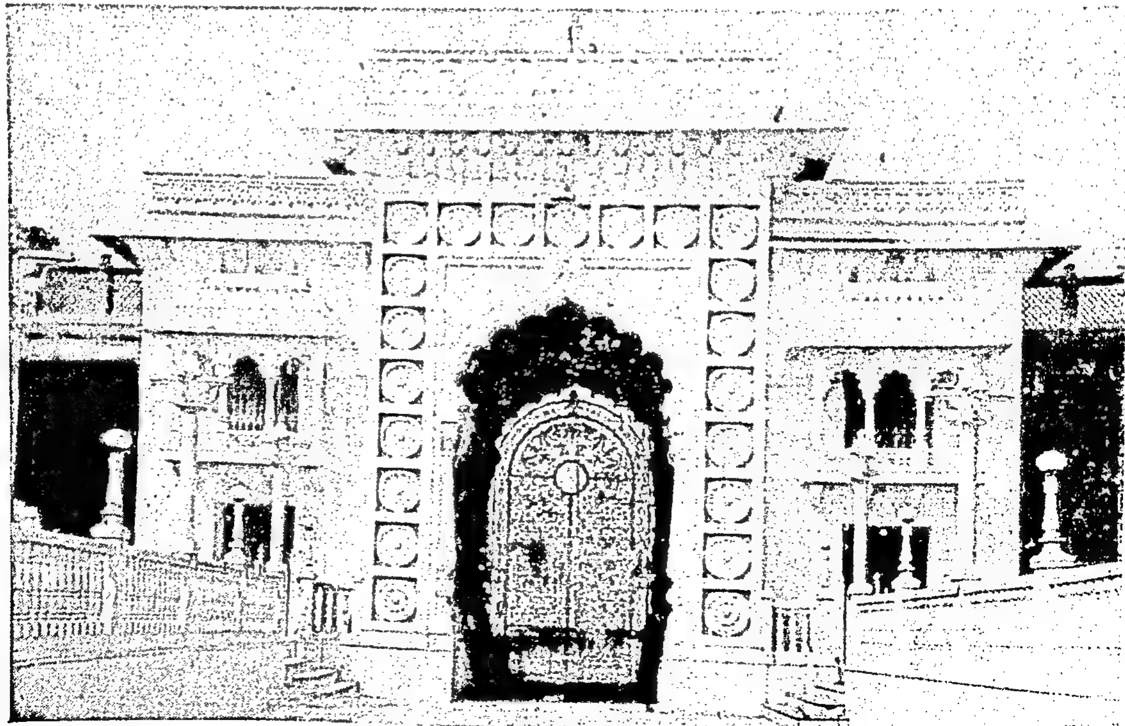
श्री स्थूलिभद्र स्वामी, श्री जिनदत्त सूरि,
श्री जिनचन्द्र सूरि, श्री जिनकुशलसूरि
श्री जिनभद्र सूरि के
चरण वेदी का चित्र



दादावाड़ी
(देखिये पृष्ठ २६)



जिनालय प्रतिष्ठापक
श्री जिनहर्षसूरि का चित्र
(देखिये पृ ठ १६)



दादावाड़ी का
प्रवेशद्वार
(देखिये पृ ठ २६)

४—ऐहतुं फल दोय भेद सुणीजे, अनन्तर ने परम्पर रे।
आणा पालन चित्त प्रसन्नी, मुगति सुगति सुमंदिर रे।

भावार्थ—पूजा का फल अनंतर एवं परम्पर दो प्रकार का जानो (१) आज्ञा का पालन (२) चित्त की प्रसन्नता ये अनन्तरफल हैं। देवरूप से जन्म, उत्तम संयोगयुक्त मनुष्य रूप से जन्म, अन्त में मुक्त होना ये परम्पर फल है।

५—फूल अक्षत वर-धूप पईवो, गंध नैवेद्य फल जल भरी रे।
अंग-अग्र-पूजा भली अडविध, भावे भविक शुभगतिवरी रे ॥५॥

भावार्थ—जलादि से भरे कलशों से सुगन्धी चन्दन, केसर से पुष्प, धूप, दीप, अक्षत, नैवेद्य, फल आदि से जो भविक जीव प्रभु के अंग-अग्र की अष्टप्रकारी पूजा भक्ति-भाव से करते हैं, वे अवश्य अच्छी गति पाते हैं तथा परम्परा से मोक्ष भी।

६—सत्तरभेद ऐकवीश प्रकारे अठ्ठोत्तर शत भेदे रे।
भावपूजा बहुविध निरधारी दोहग्ग दुर्गति छेदे रे।६।

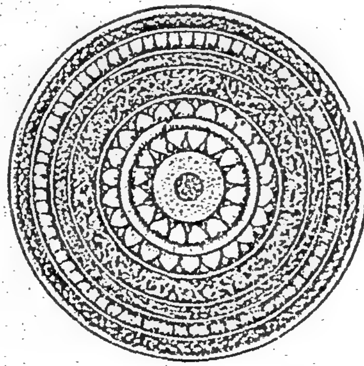
भावार्थ—सत्तरभेदी, इक्कीस प्रकारी, एक सौ आठ प्रकारी आदि द्रव्य-पूजा तथा भाव-पूजा का अनेक प्रकार से वर्णन है। इन पूजाओं को करने वाले का दुर्भाग्य नष्ट हो जाता है तथा वह दुर्गति में नहीं जाता।

७—तुरिय भेद पड़िवत्ति पूजा, उपशम, क्षीण सयोगी रे।
चउहा पूजा इम उत्तरज्झयणे भाखी केवल भोगी रे ॥७॥

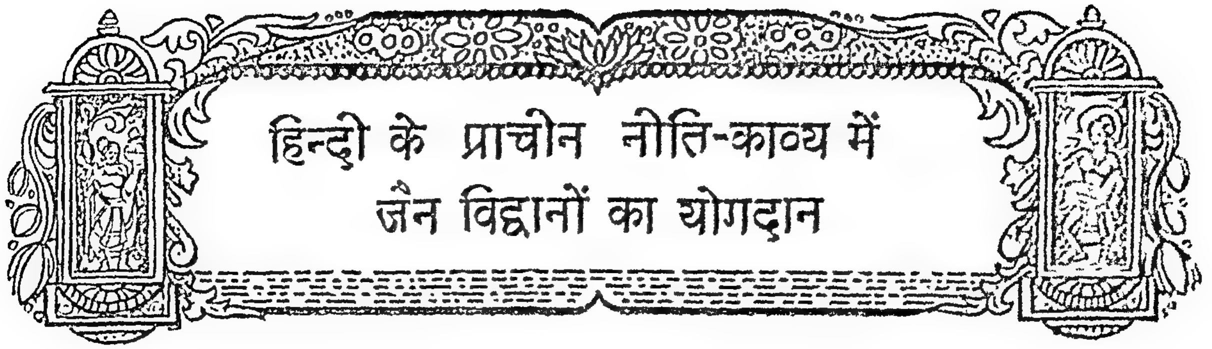
भावार्थ—पूजा का चौथा भेद प्रतिपति पूजा है, उपशम श्रेणी के द्वारा मोहनीय कर्म का उपशम करना, क्षपक श्रेणी द्वारा मोहनीय कर्म सर्वथा क्षयकर ज्ञानावर्णी, दर्शनावर्णी, अंतराय चारों घाती कर्मों को शुक्ल-ध्यान के द्वारा नाशकर सयोगि गुणस्थान प्राप्त किया जा सकता है। इस प्रकार अंग, अग्र, भाव एवं प्रतिपति चार प्रकार की पूजाएं केवलज्ञानी परमात्मा ने श्री उत्तराध्ययन सूत्र में घोषित की है।

८—इम पूजा बहु भेद सुणी ने,
सुखदायक शुभ करणी रे।
भविक जीव करसे ते लेसे,
आनन्दघन-पद धरणी रे ॥८॥ सुविधि०

भावार्थ—इस प्रकार बहुविध प्रभु पूजा के बहुभेद को समझकर उसके आत्मसिद्धि लक्ष के आशय को हृदयंगम करते हुए जो भविक जीव प्रभु-सेवा रूपी साधना द्वारा आत्म-साधना करेंगे, वे अवश्य आनन्द का समूह-रूप सिद्धात्मा बन कर सिद्धशिला के ऊपर विराजेंगे।







हिन्दी के प्राचीन नीति-काव्य में जैन विद्वानों का योगदान

(डा० रामसरूप, हंसराज कालेज,)

यद्यपि भारत में जैन धर्म के अनुयायियों की संख्या बहुत अधिक कभी नहीं रही, तथापि जैन मुनियों और गृहस्थों ने भारतीय साहित्य की श्रीवृद्धि में जो योगदान दिया है, वह आश्चर्यजनक है। प्राकृत भाषा में सर्वश्री कुन्दकुन्दाचार्य, वट्टकेराचार्य, वसुणंदि, विमलसूरि शीलाचार्य, महेश्वरसूरि, हेमचन्द्र, सोमप्रभाचार्य आदि विद्वानों की धर्मप्रधान रचनाओं में हमें नीति-काव्य छुटपुट रूप में प्राप्त होता है। अपभ्रंश भाषा में जहां स्वयम्भू, पुष्पदन्त, धनपाल आदि की कृतियों में नीति-काव्य यत्र-तत्र विकीर्ण मिलता है, वहां सोमप्रभाचार्य का 'जीव मनः करण-संलाप-कथा, हरिदेव का 'मयण-पराजय-चरिउ', बुच्चराय का 'मयण जुज्झ', देवसेन का 'सावय धम्म दोहा', जिनदत्तसूरि का 'उपदेशरसायन रास तथा महेश्वरसूरि की 'संयम मंजरी' ऐसी कृतियां हैं जिनमें नीति की प्रचुरता है। उक्त कथन से यह सिद्ध होता है कि, अन्य अनेक विषयों के समान, जैन विद्वानों का ध्यान नीति-काव्य की ओर भी चिरकाल से चला आ रहा है। प्रस्तुत पंक्तियों में हम यह देखने का यत्न करेंगे कि जैनों ने हिन्दी नीति-काव्य के विकास में क्या योगदान दिया।

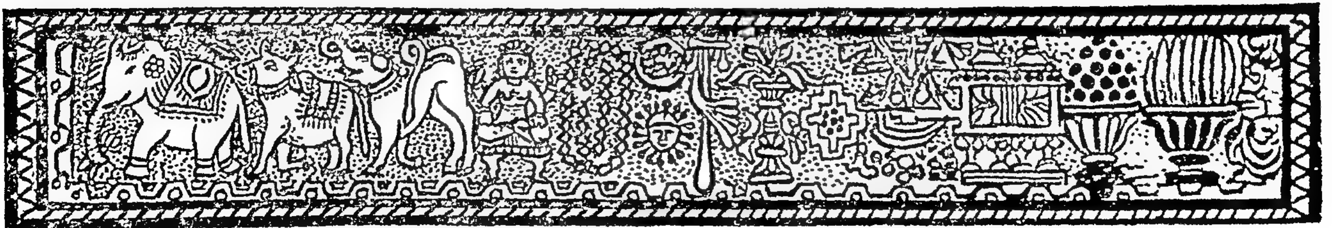
आदिकाल—हिन्दी साहित्य के आदिकाल या वीर-गाथा काल (१०५०-१३७५ वि०) में उत्तरी भारत में घोर अशान्ति और अव्यवस्था थी। आये दिन मुसलमानों के आक्रमण होते थे और हिन्दू-नरेश अपनी स्वतंत्रता को अक्षुण्ण रखने के लिए बद्ध-परिकर रहते थे। लूट-मार और नर-संहार के उस युग में एक तो साहित्य रचा ही कम गया होगा और दूसरे जो प्रणीत हुआ' उसका अधिकतर भाग हम तक नहीं पहुंच पाया। सम्भवतः यही कारण है कि उस काल का कोई भी हिन्दी नीतिकाव्य उपलब्ध नहीं होता—न जैन-प्रणीत, न जैनेतर रचित।

भक्तिकाल—भक्तिकाल 'सं० १३७५-१७० वि०, अपेक्षाकृत शान्ति और सुव्यवस्था का युग था। इस युग में भक्तिमयी रचनाओं की प्रचुरता तो थी ही, नीति-काव्यों की भी कमी न रही। जिन जैन विद्वानों ने हिन्दी नीति-काव्यों की रचना की उनको तीन वर्गों में विभक्त कर सकते हैं—(क) मुख्य कवि, (ख) गौण कवि, (ग) अनुवादक कवि।

मुख्य कवि-पद्मनाभ—इन्हीं ने अपने आश्रयदाता डुंगर सेठ के नाम पर 'डूँगरबावनी'[1] की रचना सं० १५४३-

---

१ डूँगर बावनी की अप्रकाशित प्रति श्री अगरचन्द नाहटा के अभय जैन ग्रन्थालय, बीकानेर, में सुरक्षित हैं।



वि० में की। 'बावनी' में केवल ५३ छप्पय हैं जो दया, कोप, यश-रक्षा, अति, गर्व, नम्रता, धन, दान, कर्म-फल, जीवन-साफल्य, सप्त व्यसन (जुआं, मांसभक्षण, सुरापान, वेश्यागमन, आखेट, चोरी, परदाराभिगमन) आदि विषयों पर लिखे गये हैं। प्रतिपाद्य की पुष्टि में कवि जैनों तथा ब्राह्मणों के इतिहास-पुराणों की अनेक कथाओं को निर्दिष्ट करता है। कवि की कल्पना कमनीय है और वह विषय को प्रभावक बनाने के लिए प्रकृति से अनेक उपमान प्रस्तुत करता है। कृति की भाषा राजस्थानी है जिस पर अपभ्रंश का भी यत्किंचित् प्रभाव लक्षित होता है। प्रसाद, ओज और माधुर्य तीनों ही गुण यथास्थान विद्यमान हैं। निदर्शनार्थ यश-विषयक एक छप्पय प्रस्तुत है—

जस कारणि बलिराज दिन्न बावन्न महाधर।
जस कारणि कवियणह कर्णि अप्पउ कणयभर।
जस कारणि करि समर कप्पि अप्पीयउ कलेवर।
जस कारणि जगदेव कलहि कंकाल दियउ सिर॥
जस कज्जि अज्जि भूपत भभण भिड़इ मुंड रिण रंग रसु।
सो दुक्खि सुक्खि डूंगर कहइ तिम किज्जइ जिम होइ जसु॥[1]

ठकरसी या ठक्कुरसी—गेल्ह या घेल्ह के पुत्र ठकरसी के दो अप्रकाशित नीति काव्य 'कृपण-चरित्र' तथा 'पंचेन्द्रिवेलि'-प्राप्त हुए हैं। 'कृपण-चरित्र' की हस्तलिखित प्रति दिगम्बर मन्दिर बम्बई, के सरस्वती भंडार में सुरक्षित है और 'पंचेन्द्री वेलि' के अवलोकन का अवसर हमें जयपुर के बधीचंद के मन्दिर में मिला।

१५८० वि० में रचित 'कृपण-चरित्र' ३५ छप्पयों का छोटासा निबन्ध काव्य है, जो कवि की आंखों देखी घटना पर आधारित है। कथा का प्रतिपाद्य यह है कि जो धनाढ्य न धन का भोग करते हैं, न दान, उनकी मृत्यु पर लोग प्रसन्न होते हैं और सम्बन्धी उसकी सम्पत्ति से गुलछर्रे उड़ाते हैं। रचना में हास्य रस की व्यञ्जना अच्छी हुई है।

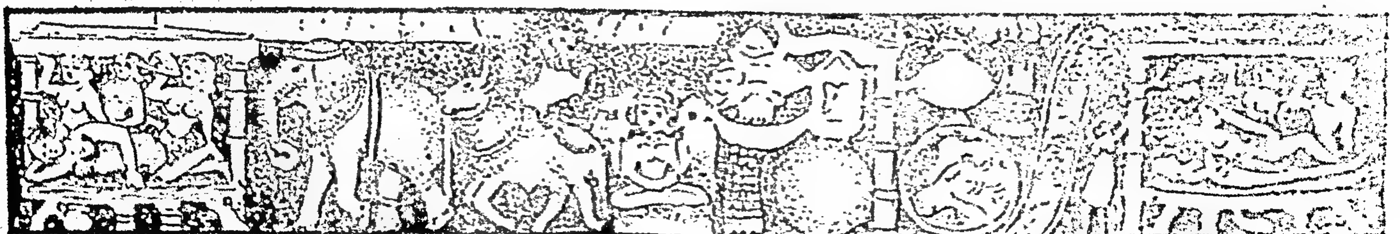
'पंचेन्द्रि वेलि' की रचना सं० १५८५ वि० में 'इन्द्रिय-निग्रह' विषय पर की गई। इस विषय पर छिट-फुट पद्य तो भारतीय साहित्य की प्रायः सभी शाखाओं में पहले ही विद्यमान थे। ठकरसी ने उन्हें कथा-रूप में संजो कर सुपाठ्य बना दिया है। कवि पहले एक दोहे में किसी एक इन्द्रिय के वशीभूत प्राणी का निर्देश करता है और तत्पश्चात् प्रायः पांच सखी छंदों में उसका विस्तृत वर्णन करता है। सम्पूर्ण काव्य में इसी शैली का प्रयोग दृष्टिगत होता है। 'पंचेन्द्रि वेलि' की अपेक्षा 'कृपण-चरित्र' में साहित्यिक सौष्ठव अधिक है, जिसका एक छप्पय इस प्रकार है—

गुरु सौं गोठि न करै, देव देहरौ न देखै।
मांगणि मूल न देइ, गालि सुनि रहे अलेखै॥
सगी भतीजी भुवा बहिणि भाणिजी न ज्यावै।
रहै रूसड़ौ माड़ि आप न्योतौ जब आवै॥
पाहुणों सगो आयो सुणै, रहइ छिपिउ मुहु राखि करि।
जिय जाय तबहि पणि नीसरइ हम धनु संच्यों कृपण करि।[2]

३ छीहल—इन की 'बावनी' को देखने का अवसर हमें जयपुर में लूणकरण पांडे के मन्दिर में मिला। उससे कवि के सम्बन्ध में इतना ही विदित हुआ की ये नाल्हिग

१ डूंगरबावनी, छप्पय १६।

२ कामताप्रसाद जैन: हिन्दी साहित्य का संक्षिप्त इतिहास, पृष्ठ ६८।



वंश के अग्रवाल कुल में नाथू के घर में उत्पन्न हुए थे। बावनी की रचना सं० १५८४ में की गई थी और प्रतिलिपि सं० १७१६ में। 'बावनी' के पहले पांच पत्र लुप्त हैं, केवल २२ से ५३ तक के पद्य ही विद्यमान हैं। समूची कृति में छप्पय छन्द का प्रयोग किया गया है जिसे कवि ने, चन्द आदि के समान, कवित्त कहा है। बावनी में अनेक व्यावहारिक विषयों का सुन्दर निरूपण किया गया है; जैसे—स्वार्थी संसार, कुअवसर का दान, स्त्री, सर्प, सुनार, अतिमूर्ख आदि। प्रतिपाद्य नीति का एकाधिक उपयुक्त दृष्टांतों द्वारा समर्थन छीहल की प्रशंस्य विशिष्टता है। यथा—

समय जु सीत वितीत वृथा वस्तर वहु पाये।
पीन पुष्या घटि गई वृथा पंचामृत पाये॥
वृथा सुरत संभोग रजनि कइ अंत सुकिज्जय।
वृथा सलिल सीतल सुवास विन तृपा जु पीजइ॥
चातक कपोत जलचर मुए वृथा मेघ जल वहु दए।
सो दान वृथा छीहल कहइ जौ दीजइ अवसर गए॥[1]

४ उदैराज—खरतर गच्छ के श्री भद्रसार के शिष्य यति उदैराज वीकानेर-नरेश महाराज रायसिंह (शासनकाल १६३०-६८ वि०) के यहां निवास करते थे। इन्होंने १६-६० वि० में 'उदैराज रा दूहा' की रचना की और १६७६ में 'गुण बावनी' की। इनके 'स्फुट पद्य संग्रह' में नीति की अपेक्षा धर्म की ही प्रचुरता है।

इनके नीति के दोहे "उदैराज रा दूहा" में उपलब्ध होते हैं जो 'जवानी रा दूहा', 'जरा रा दूहा' आदि शीर्षकों में विभाजित हैं। इस अप्रकाशित ग्रंथ की प्रतिलिपि हमें अभय जैन ग्रंथालय, वीकानेर, में देखने का अवसर मिला। यद्यपि इस पुस्तक में शृंगार की मात्रा भी पर्याप्त है तथापि नीतिकाव्य की दृष्टि से यह बहुत उपयोगी है। 'अजर-अमर' बनने का योग यतिजी ने इस प्रकार बताया है—

आछा खायै सुख सुयै, आछा पहिरै सोइ।
अति आछी रहणी रहै, मरै न बूढ़ा होइ॥ १॥

हिन्दी के सुप्रसिद्ध कवि केशवदास ने बुढ़ापे में अपने श्वेत केशों को कोसा था, क्योंकि उनके कारण चन्द्रवदनी और मृगलोचनी वामाएं उन्हें बाबा कह कर पुकारती थीं; परन्तु यतिजी उनके लिए विधाता को धन्यवाद ही देते हैं, क्योंकि उनसे मनुष्य के मन और प्राण भी पवित्र हो जाते हैं—

स्याम हुते त्यौं स्याम थे, मन अरु मेरे प्राण।
दे उज्जल उज्जल कियइ, उदयराज रहिमाण॥[2]

इसी प्रकार उदैराजजी ने विनम्र, स्वार्थी, गुणी व्यक्ति का भविष्य सज्जन-संयोग की सुखप्रदता, शत्रु से छल-बल का व्यवहार आदि अनेक विषयों पर सुन्दर दोहे लिखे हैं।

इन्हीं ने कुछ दोहों में पंजाबी भाषा का व्यवहार किया है और वैसे ही भाव व्यक्त किये हैं—जैसे प्रायः वीरगाथा कालीन काव्यों में दृष्टिगत होते हैं। जैसे—

लड़िकै जीवांगे उदै, तो सुणांगे जस कान।
मरांगे तो सुगता है, कछू सोचणी म आण॥ ३॥

यद्यपि यतिजी ने अपनी नीतिमयी कृति से साहित्य-वृद्धि में स्तुत्य योग दिया तथापि वे व्यक्तिगत रूप से दी गई शिक्षा को विशेष प्रभावशाली नहीं मानते थे—

---

१ छीहल बावनी, छप्पय ५१।

१-४ उदैराज रा दूहा, पृ० ११।१३, ३२।१०, ६।६,



उदै सीख कहि क्यों दियै, सीख दियां दुख होइ।
अपनी करणी चालणी, बुरी न देखै कोइ ॥[1]

उदैराजजी के दोहे पद्य मात्र नहीं है. भावपूर्ण हैं। प्राय: लोग गुणी जनों की सुधास्यन्दिनी वाणी सुनकर ताली बजाकर ही स्वकर्त्तव्य की इतिश्री मान लेते हैं। ऐसे लोगों पर उदैराज का मार्मिक व्यंग्य मुक्त कण्ठ से प्रशंसनीय है—

हसि कै नर ताली दियै, या जुग के उदराज।
और कहा सिर फोड़िहैं, पलक रीझ कै काज ॥[2]

सार यह कि 'उदैराज रा दूहा' सुन्दर विचारों, गम्भीर अनुभवों, मनोरम भावों, कोमल कल्पनाओं तथा सरल राजस्थानी भाषा से युक्त ऐसी रचना है जिससे हिन्दी के नीति-काव्य की श्रीवृद्धि हुई है।

स्फुट-पद्य-संग्रह

अभय जैन ग्रन्थालय में हमें यतिजी का एक अन्य अनामक हस्तलिखित काव्य मिला जो कवित्त, सवैया, झूलणा, छप्पय, कुंडलिया आदि छन्दों में प्रणीत है। यह स्कूली कापी के ४६ पृष्ठों पर नकल किया हुआ है। इस धर्म-प्रधान कृति में नीति के कतिपय पद्य बहुत ही सुन्दर और प्रवाहपूर्ण है। यथा—

कौड़ी से किंकर आगे ही दौड़त, कौड़ो से काम करै सम दौड़ी।
कौड़ी से कायर सूर सों होवत, जालिमी आगै रहै हथ जोड़ी ॥
कौड़ी से नृत्य वाजित्र बजै अरु, कौड़ो से राग करैं गान गौड़ी।
'ऊदल' एम कहैं सभकों, अज सोइ वड़ो जाकी गांठ है कौड़ी॥[3]

इस कृति की एक विशेषता यह है कि पद्यों के ऊपर पद्यांश शीर्षक रूप में दिये गये हैं। ऐसे लगता है जैसे उन शीर्षकों की समस्याएं मान कर उन पर समस्या-पूर्ति की गई है। जैसे—

(क) पारकी ही नारि सेती प्यार हो न करियै।[4]
(ख) एक एक घड़ी जाय लाख-लाख टक्कां की।

५. बनारसीदास—वैष्णव कवियों में जो स्थान तुलसीदास का है, वही जैन कवियों में बनारसीदास का। ये १६४३ वि० में जौनपुर में उत्पन्न हुए थे और आगरा में रहा करते थे। इनके सुविदित जीवन-वृत्त के पुनराख्यान की आवश्यकता नहीं प्रतीत होती। पहले ये शृंगार-काव्य की रचना करते थे, परन्तु सम्राट् अकबर के निधन ने इनकी जीवन-धारा को दिशान्तर में मोड़ दिया और ये अपने 'शृंगारिक हजारा' को गोमती में प्रवाहित कर आध्यात्मिक तथा नैतिक विषयों पर लिखने लग गये। पं० जगजीवनराम ने १७७१ वि० में इनकी ५७ स्फुट पुस्तकों को 'बनारसी विलास' में संगृहीत किया था, जिनमें से नीति-काव्य की दृष्टि से तेरह काठिया, नवरत्न कवित्त, वैद्यादि के भेद तथा प्रास्ताविक फुटकर कविता विशेष उल्लेख्य हैं।

---

१. उदैराज रा दूहा ४।२।
२. उदैराज रा दूहा, पृ० ८।६
३. स्फुट पद्य संग्रह, पृ० २३।२
४. पूरे पद्य के लिए हमारे 'हिन्दी में नीतिकाव्य का विकास' नामक प्रकाशित शोध प्रवन्ध का पृ० २१० देखिये (प्रकाशक—दिल्ली पुस्तक सदन, बंगलो रोड, दिल्ली)



(क) तेरह काठिया :

गुजरात में बटमारों को काठिया कहते हैं। इस पुस्तिका में मानव-जीवन के लूटेरे तेरह नैतिक दुर्गुणों को काठिया कहा गया है और उनसे सावधान रहने की प्रेरणा की गई है। १७ पद्यों की इस कृति के आरम्भ में तीन तथा अन्त में एक दोहा है और मध्य में १३ चौपाइयां है। प्रथम दोहे में तेरह काठियों के नाम मात्र हैं और तदुपरान्त एक-एक चौपाई में उनके स्वरूप तथा हानियों का उल्लेख है।

(ख) नवरत्न कवित्त

महाराज विक्रमादित्य की सभा के नौरत्न प्रख्यात् ही हैं। कवि ने प्रथम दोहे में उन्हीं का नामोल्लेख किया और द्वितीय में परवर्ती नौ कवित्तों अर्थात् छप्पयों के आदिम शब्दों का। वर्ण्य विषय और कवित्व दोनों दृष्टियों से पुस्तिका इतनी उत्कृष्ट है कि आद्यन्त उद्धृत करने की इच्छा होती है, परन्तु निवन्ध-कलेवर का ध्यान रखते हुए एक ही रत्न से सन्तोष करना पड़ता है जिसमें विभिन्न स्वभाव के लोगों को वश में करने के उपाय वताये गये है।

विमल चित्त कर मित्त, शत्रु छलवल वश किज्जय।
प्रभु सेवा वश करिय लोभवन्तहिं धन दिज्जय॥
युवति प्रेमवश करिय साधु आदर वश आनिय॥
महाराज गुणकथन वन्धु समरस सनमानिय॥
गुरु नमन शीस रस सों रसिक विद्या वल बुधि मन हरिय।
मूरख विनोद विकथा वचन शुभ स्वभाव जग वश करिय॥[1]

शेष सात कवित्त-रत्नों में विभिन्न मूर्ख, विविध मंडन किस-किससे क्या-क्या प्राप्तव्य है, कौन सी बातों से किनका विनाश होता है, किसका वल क्या है, नृप को माली की मानिन्द होना चाहिए और शत्रुविजयी नरेश का वर्णन है।

(ग) वैद्यादि के भेद

इस पुस्तिका में ४१ पद्य हैं। आरम्भ में दो चौपाइयां हैं और तदुपरान्त सब दोहे। प्रारम्भिक छह पद्यों में वैद्य, ज्योतिषी, वैष्णव, मुसलमान आदि के लक्षण हैं और उनके पश्चात् नीति, धर्मादि के दोहे। पुस्तिका में सामाजिक नीति पर विशेष वल लक्षित होता है और साम्प्रदायिक द्वेष को दलित करने की पवित्र प्रेरणा पाई जाती है। यथा—

इनके पुस्तक वाँचिये, वेहू पढ़ें कितेव।
एक वस्तु के नाम द्वय, जैसे शोभा जेव॥[2]
कामी तन मंडित करै, दुष्ट गहै अधिकार।
जारजात मारहि पिता, असति हनै भरतार॥[3]

(घ) प्रास्ताविक फुटकर कविता

केवल २२ पद्यों की इस पुस्तिका में धर्म, अध्यात्म, सिद्धान्त भी हैं; परन्तु प्रचुरता नीति की है। इसमें १० मनहरण, ३ मत्तगयन्द, ३ छप्पय, ५ दोहे और १ वस्तु छन्द में मांस, जूआ, सुरापानादि का निषेध किया गया है। विभिन्न अवस्थाओं में शरीर की दशा का संकेत द्रष्टव्य है—

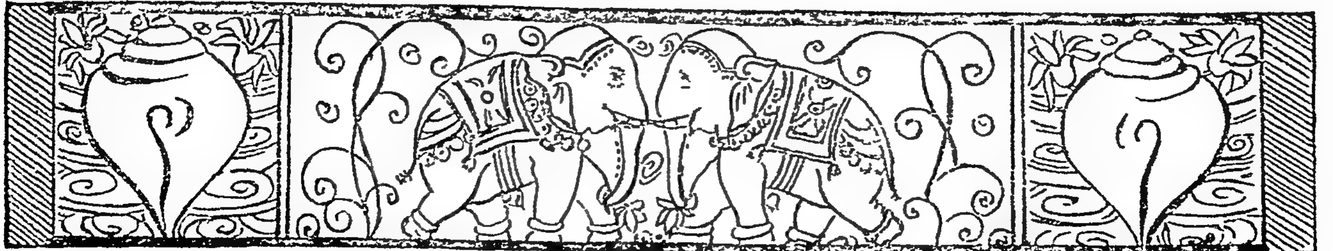
वालक दशा की मरजाद दश वरस लों,
वीस लों वढ़ति तीस लों सुछवि रही है।

---

१. वनारसी विलास, नवरत्न कवित्त, पद्य ३

२. वनारसी विलास पृ० २०४।६

३. ,, ,, २०६।३१



चालिस लौं चतुराई पचास लौं थूलताई,
साठ लग लोचन की दृष्टि लहलही है।
सत्तर लौं श्रवण अस्सी लौं पुरुषत्व गिन्या,
नवे लग इन्द्रिय की शक्ति उमही है।
सौ लौं चितचेत एक सौ दशोत्तर लौं आयु,
मानुष जनम ताकी पूरी थिति कही है ॥[1]

संक्षेप में कह सकते हैं कि वनारसीदासजी की भावपूर्ण रचनाएं मनुष्य को शुद्ध, पवित्र और धर्मात्मा वनाने, समाज को सुख-शान्ति से युक्त रखने तथा प्राणिमात्र के प्रति दया-दृष्टि के प्रसार के लिए वस्तुतः महत्त्वपूर्ण हैं।

६. **राजसमुद्र**—राजसमुद्रजी का जन्म १६४७ वि० में बीकानेर के धर्मसी शाह के घर में हुआ। पहले इनका नाम खेतसी था, परन्तु अल्पायु में ही विरक्त हो जाने पर राजसिंहजी तथा बड़ी दीक्षा लेने पर राजसमुद्र कहलाने लगे। इन्होंने शालिभद्र चौपाई, गजसुकमाल चौपाई, चौबीसी, वीशी, प्रश्नोत्तर रत्नमाला, कर्मवत्तीसी, शील वत्तीसी आदि ग्रन्थ लिखे। इनमें से हमें केवल 'कर्मवत्तीसी' को ही अभय जैन ग्रन्थालय में देखने का अवसर प्राप्त हुआ। विषय तथा आकार का संकेत पुस्तक-नाम से ही विदित हो जाता है। पूर्व जन्मों में कृत कर्मों के फल का निरूपण ब्राह्मण, वौद्ध और जैन सभी धर्मों में पाया जाता है। इसी विषय पर प्रस्तुत पुस्तिका का प्रणयन १६६९ वि० में वत्तीस लावनियों में किया गया। मानव-समाज में वंश तथा धन की दृष्टि से जो ऊँच-नीच का भेद लक्षित होता है, उसका कारण पूर्व कर्म ही वताया गया है। जैसे—

करम लिखित सुप सम्पत्ति लहिये, अधिक न कीजे सोपजी।
आप कमाया फल पामीजे, और न दीजे दोप जी ॥[2]

७. **कुशलधीर**—श्री कुशलधीर सोजत नगर के निवासी और श्री कल्याणलाभ के शिष्य थे। श्री मोतीलाल मेनारिया ने इनके तीन ग्रंथों का उल्लेख किया[3]—'वेलि क्रिसन रुक्मिणी री' की टीका २. 'रसिकप्रिया' की टीका ३. लीलावती रासो। इनके और पाँच अन्य ग्रन्थों का भी पता लगा है—१. भोज चौपाई २. सीलवतीरास ३. कर्म चौपाई ४. वर्णन संग्रह ५. उद्दिम-कर्म-संवाद।

उद्दिम कर्म-संवाद—इस काव्य की रचना मुनिजी ने श्रावक सचीदास के अनुरोध पर की थी। ३८ पद्यों की इस रचना में मुनिजी ने संवादात्मक शैली में तथा दोहा, छप्पय, पद्धड़ी आदि छन्दों में उद्यम कर्म और भाग्य में वड़ा कौन इस विषय का प्रतिपादन किया है। मंगलाचरण के पश्चात् दोनों आकर अपने-अपने महत्त्व की डींगें मारते हैं, अपने-अपने पक्ष की पुष्टि में इतिहास-पुराणों से उदाहरण प्रस्तुत करते हैं तथा दूसरे के पक्ष का प्रवल खण्डन करते हैं। अन्त में अपने विवाद के निर्णयार्थ श्री जिन महाराज की शरण में जाते हैं जो उन्हें एक-दूसरे का पूरक वना कर प्रेम-पूर्वक साथ-साथ रहने का उपदेश देते हैं। सम्वादों की भाषा ओजस्वी तथा रोचक है। यथा—

उद्दिम उवाच—

गम सूँ वोलि गमार, मरम तूँ मुझ न जाणइ।
मुझ वलहि श्रीराम उदधि लंघि सीता आणइ ॥

१. वनारसी विलास, पृ० २००।१३

२. कर्मवत्तीसी, पद्य २८

३. उद्दिम कर्म सम्वाद, पद्य ५



मुज्झ वलहि महपती देखि पुहवी दावट्टइ।
मुज्झ वलहि मतिमंत खरा किहू सूरा खट्टइ॥
सुर असुर विद्या साधक सकल आदर दे मो आदरइ।
काइर करम ! सुणि रे कथन, क्यूँ मुझ समवड़ि तूँ करइ॥

(ख) गौण नीति-कवि—

भक्तिकाल में उपर्युक्त मुख्य कवियों के अतिरिक्त कुछ अन्य कवियों ने भी साधारण कोटि की रचनाएँ कीं जिनका परिचय इस प्रकार है—

१. समयसुन्दर—इन्होंने "दानशीलतपभावना सम्वाद" की रचना सांगानेर में १६६२ वि० में की। ४ पत्रों की रचना संवाद-शैली में है और भाषा राजस्थानी-गुजराती। इन्होंने सं० १६६८-६९ के मध्य में राजस्थानी भाषा में नीति की छह पुस्तकों की रचना की—(क) कर्मछत्तीसी (ख) पुण्य छत्तीसी (ग) संतोष छत्तीसी (घ) प्रस्ताव सवैया छत्तीसी (ङ) आलोयणा छत्तीसी (च) क्षमा छत्तीसी। इनमें से पहली तीन तथा अन्तिम छत्तीसी जयपुर के पुरातत्त्व मन्दिर में देखी गई। शीर्षकों से संकेतिक विषयों को ऐतिहासिक दृष्टान्तों से पुष्ट किया गया है। इनकी समस्त फुटकर रचनाएँ अगरचंद भँवरलाल नाहटा की "समयसुंदर कृति कुसुमाञ्जली" में देखना चाहिए।

२. मुनि हेमराज—इन्होंने 'अक्षर बावनी' (हितोपदेश बावनी) की रचना सं० १६६५ में की। जयपुर के तेरहपंथियों के बड़े मन्दिर में इसके १२ पत्रों की हस्तलिखित प्रति (प्रतिलिपिकाल १७५७) सुरक्षित है। इसमें जैन-प्रिय विषयों का उल्लेख कवित्त, सवैया और छप्पय छन्दों में राजस्थानी भाषा में किया गया है।

३. क्षमाहंस या खेम—सम्भवतः ये जैन मुनि थे। इनकी 'द्विपंचासिका' (बावनी) जयपुर के लूणकरण पांडेय के मन्दिर में सुरक्षित है। इसमें राजस्थानी भाषा के ५४ छप्पयों में जैन-प्रिय विषयों का प्रतिपादन है जिनकी पुष्टि में इतिहास-पुराणों के अनेक उदाहरण दिये गये हैं।

(ग) अनुवादक कवि : बनारसीदास—

बनारसीदासजी के मौलिक नीति-काव्यों का उल्लेख ऊपर कर ही चुके हैं। इन्होंने अन्य अनुवादों के अतिरिक्त आचार्य सोमप्रभ (१३ वीं शती विक्रमी) की 'सूक्तिमुक्तावली' या 'सिन्दूरप्रकर' का, जो एक सुन्दर नीति-शतक ही है, अनुवाद सं० १६९१ वि० में किया। इस अनुवाद में इन्हें अपने अभिन्नहृदय मित्र कुँवरपाल का भी सहयोग प्राप्त हुआ। मूल पुस्तक तो संस्कृत के शार्दूलविक्रीडित, शिखरिणी आदि संस्कृत के छन्दों में है, परन्तु हिन्दी प्रेम के कारण अनुवाद कवित्त, सवैया आदि हिन्दी-छन्दों में किया गया है। अनुवाद २२ 'अधिकारों' में विभक्त है जिनके शीर्षक निम्नांकित हैं—धर्म, पूजा, गुरु, जिन-मत, संघ, अहिंसा, सत्य वचन, अदत्तदान, शील, परिग्रह, क्रोध, मान, माया, कपट आदि। अनुवाद सुन्दर बन पड़ा है, उदाहरणार्थ—

पावक तैं जल होय वारिधि तैं थल होय,
शस्त्र तैं कमल होय, ग्राम होय वन तैं।
कूप तैं विवर होय पर्वत तैं घर होय,
वासव तैं दास होय हितू दुरजन तैं॥
सिंह तैं कुरंग होय व्याल स्याल अङ्ग होय,
विष तैं पियूष होय माला अहिफन तैं॥



विषम तें सम होय, संकट न व्यापै कोय,
एते गुन होय सत्यवादी दरसन तैं ॥[1]

रीतिकाल—रीतिकाल (सं० १७००-१९०० वि०) सुख-समृद्धि का समय था और सुख-शान्ति के काल में लोगों का ध्यान भगवान से हट कर सांसारिक विषयों की ओर स्वभावतः अग्रसर होता है। यही कारण है कि इस युग में नीति-काव्यों की रचना भक्ति-काल की अपेक्षा कहीं अधिक की गई। इस काल के जैन नीति-कवियों का संक्षिप्त विवरण इस प्रकार है—

(क) मुख्य कवि

१ जसराज (जिनहर्ष)—खरतर गच्छ के श्री शान्ति-हर्ष के शिष्य, श्री जिनहर्ष ने सं० १७०४ से १७६३ वि० तक राजस्थानी तथा गुजराती भाषाओं में लगभग एक सौ पुस्तकों की रचना की। उनमें से तीन काव्यों के अवलोकन का अवसर हमें प्राप्त हुआ—१ उपदेश बत्तीसी २ मातृका बावनी ३ कवित्त बावनी।

उपदेश बत्तीसी—१७१३ वि० में इकतीसा सवैया अर्थात् मनहर कवित्तों में रचित इस कृति की हस्तलिखित प्रति हमें अभय जैन ग्रन्थालय, बीकानेर, में देखने का अवसर मिला। मुनिजी ने इस बत्तीसी में काया-स्वरूप, माया-त्याग, क्रोध-दूषण, मानदूषण, हिंसा, मृषावाद, दान, शील आदि विषयों पर भाव-पूर्ण रचना की है।

मातृका बावनी—सं० १७३८ में रचित इस कृति की हस्तलिखित प्रति भी हमें उपर्युक्त ग्रन्थालय में ही मिली। इसमें भाग्य, उद्यम, दान, भूख, पर-दुःख का अज्ञान आदि विषयों पर राजस्थानी-मिश्रित ब्रजभाषा में वर्णमाला-क्रम से लिखा गया है। इस कृति पर पूर्ववर्ती जैन तथा जैनेतर नीति-काव्यों का पर्याप्त प्रभाव लक्षित होता है और यह सामान्य बावनियों की अपेक्षा अधिक ऐहिक तथा सुन्दर है।

कवित्त बावनी—सं० १७४८ में प्रणीत यह रचना जयपुर के पुरातत्त्व मन्दिर में सुरक्षित है। गुजराती-मिश्रित राजस्थानी में रचित यह बावनी छप्पय छन्द में है।

मुनिजी की भाषा-शैली आदि की बानगी देखने के लिए 'मातृका-बावनी' का एक सवैया उद्धृत है—

इंधन चंदन काठ करे सुरवृक्ष उपारि धतूरन बोवे।
सोवन थाल भरे रज ते सुधारस सुकर पाव ही धोवे॥
हस्ती महामद मस्त मनोहर भार वहाइ के ताइ विगोवे।
मूढ़ प्रमाद गयो जसराज न धर्म करे नर सोभत खोवै॥[1]

२. हेमराज—जैनों में हेमराज नाम के अनेक कवि हुए हैं। प्रस्तुत हेमराज सांगानेर के निवासी थे और इन्होंने सं० १७२५ में कांमागढ़ में 'उपदेश शतक' का प्रणयन किया था। दोहा-सोरठा छन्दों में प्रणीत हस्तलिखित प्रति जयपुर के बधीचन्द जैन के मन्दिर में विद्यमान है। इसमें मन-मरकट, ब्रह्मचर्य महत्त्व, अ-दान के कुपरिणाम आदि विषयों पर भावपूर्ण रचना की गई है। यथा—

फटे वसन तनहूँ लट्यो, घरि-घरि माँगत भीख।
विना दिये कौ फल यहै, देत फिरत यह सीख॥[2]

---

१. बनारसी विलास, पृ० ३३।३२

१. मातृका बावनी, पत्र १।८

२. उपदेश शतक, दोहा ३१



३. भैया भगवतीदास—आगरा-निवासी भगवतीदासजी की ६७ रचनाएं 'ब्रह्मविलास' में संगृहीत हैं। यद्यपि इनकी अधिकतर रचनाओं में भी कुछ-न-कुछ नीति है ही, तथापि पंचेन्द्रिय-संवाद, दृष्टान्त-पच्चीसी, मन बत्तीसी, बाईस परीषह और फुटकल पद्यों में नीति-काव्य की प्रचुरता है।

(क) पंचेन्द्रिय-संवाद

१५२ पद्यों की इस संवादात्मक कृति की रचना सं० १७५१ में की गई थी। इसमें प्रत्येक इन्द्रिय अपने को दूसरों से श्रेष्ठ बताती है। अन्त में मन को राजा तथा इन्द्रियों को उसके सेवक निर्धारित किया गया है।

(ख) दृष्टान्त-पच्चीसी

सं० १७५२ में प्रणीत इस कृति में केवल २६ दोहे हैं जो अहिंसा, दान, शील आदि के महत्व को सुन्दर दृष्टान्तों से समर्थित करते हैं। 'पंचेन्द्रिय संवाद' की अपेक्षा यह रचना अधिक साहित्यिक है।

(ग) मन-बत्तीसी

३४ पद्यों की इस पुस्तिका में क्रमशः २७ दोहे, २ अरिल्ल, ४ चौपाइयां और एक चौपाई छन्द है। इसमें मन की बलवत्ता, वेगवत्ता आदि के वर्णन के पश्चात् आठ पंसेरी वाले (मन) को वश में करने की प्रेरणा की गई है।

(घ) बाईस-परीषा

प्रस्तुत रचना दो दृष्टियों से महत्त्वपूर्ण है। प्रथम, इसमें उन साधुओं को ही सच्चा कहा गया है जो धूप, शीत, क्षुधा, तृषा आदि सहने में समर्थ हैं। द्वितीय, जहां गृहस्थों को तपोमय, संयमपूर्ण जीवन की शिक्षा स्वभावतः प्राप्त होती है, वहां सत्साधुओं की सेवा की प्रेरणा भी मिलती है।

(ङ) फुटकल पद्य

भैयाजी के स्फुट पद्यों में भी पर्याप्त नीति वर्णित है। निदर्शनार्थ निम्नांकित पद्य पर दृष्टिपात कीजिये जिसमें गीदड़ कुत्ते को उस मानव-शव का मांस खाने से वर्जित करता है जिसने जीवन में सत्कर्म नहीं किये—

शीश गर्व नहिं नम्यो, कान नहिं सुने बैन सत।
नैन न निरखे साधु, बैन तैं कहे न शिवपति॥
कर तें दान न दीन, हृदय कछु दया न कीनी।
पेट भर्यो करि पाप, पीठ परतिय नहिं दीनी॥
चरन चले नहिं तीर्थ कहुं, तिहि शरीर कहा कीजिये।
इमि कहै श्याल रे श्वान यह निंद निकृष्ट न लीजिये॥[1]

४. लक्ष्मीवल्लभ—इनका विशेष वृत्त विदित नहीं है। विक्रमी १८ वीं शती के जैन विद्वानों में इनका विशेष स्थान है। ये अनेक भाषाओं के ज्ञाता और ७८ ग्रन्थों के प्रणेता थे। इनके आठ हिन्दी-ग्रन्थों में से दो काव्य नीति-विषयक हैं—दूहा बावनी और सवैया बावनी।

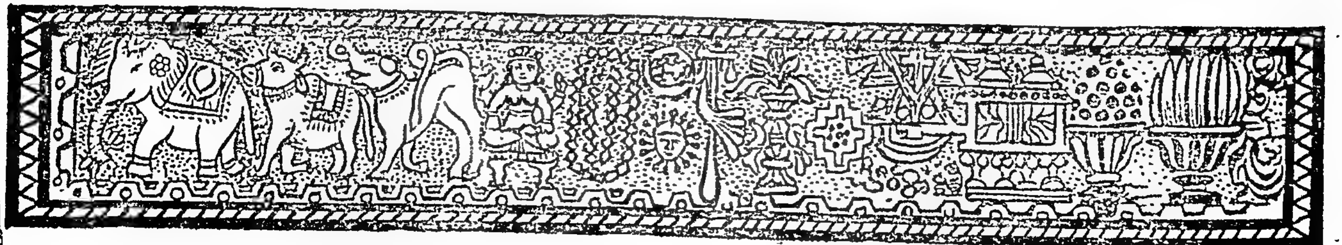
(क) दूहा बावनी

इस कृति की प्रतिलिपि श्री अगरचन्द नाहटा के यहां विद्यमान है। पुस्तिका की रचना स्व-हित तथा पर-हित की दृष्टि से की गई थी। कुछ दोहों का साहित्यिक सौष्ठव स्तुत्य है।

(ख) सवैया बावनी

इस रचना की एक प्रति तो बीकानेर के अभय जैन

१. ब्रह्मविलास, पृष्ठ २७५।१०



ग्रन्थालय में है और दूसरी जयपुर के पुरातत्व मन्दिर में। ५८ पद्यों की इस कृति में पहले पांच पद्य मांगलिक हैं। कई पद्यों के अन्तिम चरणों की शब्दावली ('सोई बड़ो जाकी गांठ रुपैया', 'आसन मायों पै आस न मारी' आदि) से अनुमान होता है कि वे समस्या-पूर्ति के लिए प्रणीत हुए थे। भाव और भाषा की दृष्टि से रचना निस्सन्देह सुन्दर है। उदाहरणार्थ, निम्नांकित संवादात्मक पद्य में हास्य और ओज द्रष्टव्य है—

(गृह कराह)

कहा भोजन आज तो खारो भयो,
अधिको तुम लौन धुं काहे कु डारो।
वाते सुनै तै सुनि ह्वै लागी,
हम नाहिं करैं तुम्हहीं जस वारो॥
धिग पापन तूँ हम सुंज कहै,
धिग पापी है तूँ तेरो बाप हत्यारो।
राज कहै कलहो दिन को तिन तो
गृह को मुंह कीजियै कारो॥[1]

५. धर्म सिंह—अनुमान है कि इनका जन्म राजस्थान के किसी उच्च कुल में हुआ था। ये बहु भाषाविद् तथा २३ पुस्तकों के प्रणेता थे। इनके नीति-ग्रन्थ निम्नलिखित हैं— १. गुरु शिष्य दृष्टान्त छत्तीसी २. विशेष छत्तीसी ३ धर्म बावनी ४. प्रास्ताविक कुंडलिया बावनी ५. छप्पय बावनी ६. स्फुट पद्य। हमें इनमें से अन्तिम चार ही को देखने का अवसर मिला।

१. धर्म बावनी—५७ पद्यों की इस मुक्तक रचना में वर्णमाला के क्रम से कवित्त तथा सवैया छन्दों में पद्य-रचना की गई है। पाँच मांगलिक पद्यों के पश्चात् मुनिजी ने दया, क्षमा, क्रोध आदि प्रचलित विषयों के अतिरिक्त उग्र नारी, कुलटा, रीस आदि पर भी सुन्दर रचना की है। रचना प्रसादपूर्ण अलंकृत ब्रजी में है, किन्तु उस पर राजस्थानी का प्रभाव भी यत्र-तत्र लक्षित होता है। शब्दचयन मधुर तथा भाषा प्रवाह प्रशस्य है। सुन्दर चुभती हुई लोकोक्तियों का सुप्रयोग कृति की एक अन्य विशेषता है। यथा—

(क) देखण काज जुरे सब ही जन नाचन पैठी तो घूँघट कैसो,
(ख) मोन रु मेख कहैं भ्रम देख पै कर्म की रेख टरै नहीं टारी।

२. प्रास्ताविक कुंडलिया बावनी—५७ कुंडलिया छन्दों की इस कृति की रचना कवि ने सं० १७३४ में जोधपुर में की थी। रचना वर्णमाला के क्रमानुसार है। सप्त व्यसन आदि प्रसिद्ध विषयों के अतिरिक्त पड़ौस, आठ अघ, सात सुख-दुख, कृपण की सम्पदा आदि पर भी पद्य मिलते हैं।

३. छप्पय बावनी—राजस्थानी भाषा में इस बावनी की रचना धर्मसिंहजी ने बीकानेर में १७५३ वि० में की। इसमें नीति की शिक्षाएं सामान्य छप्पयों में लिखित हैं।

४. फुटकल पद्य—उपर्युक्त दो बावनियों की अपेक्षा इन पद्यों में साहित्यिक सुन्दरता अधिक है और विषय भी अधिक व्यावहारिक हैं। यथा—

दूर तै पोसाकदार देखियत सिरदार,
देखि कै कुचील चीर ह्वै है कोउ बपरा।
सुन्दर सुवेश जाणै ताको सहु वैन मानैं,

---

१. सवैया बावनी, पद्य २३



बोलै जो दरिद्री तो लवार कहै लपरा।
पीताम्बर देख के समुद्र आप दिनी सुता,
दीनौ विष रुद्र कुं विलोकि हाथ खपरा।
धर्मसी कहै रे मीत ऐसी है संसार रीति,
एक नूर आदमी हजार नूर कपरा॥[1]

६. **जिनरंगसूरि**—मुनि जिनराजसूरि के शिष्य जिनरंगजी ने अठारहवीं शती के पूर्वार्द्ध में प्रबोध बावनी, सौभाग्य पंचमी चौपाई और रंग बहत्तरी (दूहाबंध बहत्तरी) की रचना की। अभय जैन ग्रन्थालय में सुरक्षित अमुद्रित रंग बहत्तरी में कपटी और स्त्री का मन, प्रेमहीन मानव की पशुतुल्यता, यशस्वी जीवन की प्रशंसनीयता, धन तथा रमणी से तृप्ति की असम्भवता आदि विषयों पर व्रजी में दोहे रचित हैं। उदाहरणार्थ—

जिनरंग मीठी गरज है, अवर न मीठो कोय।
जब निकसै है सीतला, रासभ आदर होय॥[2]

७. **बालचंद**—इनका दीक्षा नाम विनयलाभ था और साहित्यिक उपनाम कविचंद। इन्होंने संस्कृत तथा हिन्दी में मौलिक रचनाएँ भी कीं और अनुवाद भी। नीतिविषय पर इन्होंने भर्तृहरि के नीतिशतक का पद्यमय अनुवाद किया तथा सवैया बावनी का प्रणयन।

सवैया बावनी की रचना वर्णमाला के क्रमानुसार की गई है। वर्णन-शैली, भाषा-माधुर्य, अलंकार तथा प्रवाह की दृष्टि से रचना हिन्दी-नीति-काव्य का एक रत्न है। यथा—

फल फूल सुरूप सुगंध भले, तरु देखत ही जन नैन ठरे हैं।
एकन के फल फूल न होत, तऊ नित सीतल छाँह करे हैं॥
जिनके फल फूल रु छाँह नहीं अरु पंथिन को श्रम नांहि हरे हैं
'कविचंद' कहै विधना नर कूँ अरु ता तरु कुं रचि काहि करे हैं[3]

८. **केशवदास जैन**—ये मुनि लावण्यरत्नजी के शिष्य थे और इनका दीक्षा नाम कुशलसागर था। इन्होंने अठारहवीं शती में 'केशव-बावनी' शीर्षक नीतिकाव्य की रचना की, जिसकी हस्तलिखित प्रति अभय जैन ग्रन्थालय में विद्यमान है। ५७ पद्यों की इस कृति का प्रणयन सं० १७३६ में पच्याख गाँव में किया गया। अन्य विषयों के अतिरिक्त इसमें भाग्य की अमिट रेखा पर बहुत बल दिया गया है। सुन्दर भावों तथा प्रभावपूर्ण भाषा के कारण यह कवित्त-सवैया-मयी रचना अच्छी बन पड़ी है।

९. **किसन**—विक्रमी अठारहवीं शती के जैन कवि किसन की 'किसन बावनी' की हस्तलिखित प्रति हमें बीकानेर के श्री मोतीचंद खजांची के संग्रह में देखने का अवसर मिला। प्रति पूर्ण है तथा १७ पत्रों पर लिपिबद्ध। कवि ने ६२ कवित्तों में जैनप्रिय विषयों का सुबोध, अलंकृत और मधुर भाषा में वर्णन किया है। रचना भाव और भाषा दोनों दृष्टियों से स्तुत्य है। उदाहरणार्थ—

नागिन-सी वेनि कारी, वागुरा सी पाटी पारी,
मांग ज समारी चोर गली टोय टरना।
तन सर जा मों जल जोवन सु चष-झप,
ग्रिव कंबु भुज जू मृनाल मन हरना॥
नासा सुक दंत दारूं नाभि कूप कटि सिंह,

१. अभयजैन ग्रन्थालय, बीकानेर, में धर्मसिंह के फुटकल पद्य
२. प्रति संख्या ८०७०, दोहा ५९
३. रामचन्द्र शुक्ल, हिं० सा० इ०, पृष्ठ ९१



किसन सुकवि जंघ रंभ-खंभ वरना।
अहो मेरे मन मृग खोल देखि ग्यान-दृग,
इहे वन छोरि काहू और ठौर चरना ॥[1]

१०. भूधरदास—आगरा-निवासी खंडेलवाल जैन कवि भूधरदास ने विक्रमी अठारहवीं शती के उत्तरार्द्ध में तीन काव्यों की रचना की—पार्श्वपुराण, जैनशतक, पद संग्रह। नीतिकाव्य की दृष्टि से जैन-शतक ही उल्लेख्य है।

जैन शतक के प्रथम सोलह तथा अन्तिम बीस पद्यों में तीर्थङ्कर—स्तुति तथा जैन धर्म की श्रेष्ठता का वर्णन है। मध्यवर्ती ६४ पद्यों में जैन नीति के ऐसे सरस-सुन्दर पद्य हैं जिनके अधिकांश को प्रत्येक धर्म का अनुयायी निःसंकोच ग्रहण कर सकता है। इस कृति में वैयक्तिक, पारिवारिक, सामाजिक , आर्थिक, इतर प्राणी विषयक और मिश्रित सभी नीतियों का उल्लेख न्यूनाधिक मात्रा में विद्यमान है। यद्यपि इस रचना पर भर्तृहरि और सोमदेव आदि संस्कृत कवियों का प्रभाव स्पष्ट लक्षित होता है, तथापि भूधर द्वारा अनूदित पद्य भी मौलिक रचना की सरसता से पूर्ण हैं। कुछ इने-गिने दोहे को छोड़कर शेष सब पद्य पाठक को भाव-विभोर या रस-लीन करने में समर्थ हैं। जैन शतक साफ-सुथरी, मधुर, साहित्यक भाषा में लिखा गया है और इसमें ३१ व ३२ मात्राओं का सवैया, दुर्मिल, मत्तगयन्द, छप्पय, मनहर, दोहा और सोरठा छंद प्रयुक्त हुए हैं। रचना प्रसाद तथा माधुर्य गुणों से प्रपूर्ण है और हिन्दी के नीति-काव्य में विशेष स्थान रखती है। यथा—

राग उदै जग अंध भयो, सहजे सब लोगन लाज गँवाई।
सीख बिना नर सीख रहे, विसनादिक सेवन की सुघराई॥
ता पर और रचें रस काव्य, कहा कहिये तिन की निठुराई।
अंध असूझन की अँखियान में, झौंकत हैं रज राम दुहाई ॥[2]

११. विनयभक्ति—इनका पहला नाम वस्ता या वस्तपाल था। ये श्री भक्तिभद्र के शिष्य थे और सं० १८८० के आस-पास विद्यमान थे। नीति-विषयक इनकी एक ही पुस्तक 'अन्योक्ति बावनी' प्राप्त है और वह अभय जैन ग्रन्थालय में सुरक्षित है। इसमें मंगलाचरणात्मक कुछ पद्यों के पश्चात देव, पशु, पक्षी, सागर, नदी, मारवाड़ आदि पर सुन्दर अन्योक्तियां कही गई हैं। भाव, भाषा और शैली के सौन्दर्य के कारण कृति कमनीय बन पड़ी है। हमारे अपकारों और भूमि के उपकारों का वर्णन निम्नांकित कवित्त में द्रष्टव्य है—

पहिले सरीर तेरौ चीर लोह-सीरन सें,
खोदत कुदाल दीप दगे उतपात के।
दई हरी सबी दई लई सो उखार चुंट,
कीच बीच डारि किये कैसे रंग गात के।
ऐसें करें लोक हाल तो पै तु दयाल ह्वै कै
करत निहाल देत नाज जात-जात के।
कहै "विनै" धरा तेरे जे हैं उपगार गुन,
गिने कैसें जात जैसे तारे सब रात के ॥[3]

१२. योगिराज ज्ञानसार—इनका जन्म सं० १८०१ में जांगलू के निकटवर्ती जेगलेवास ग्राम में श्री उदयचन्द्र

१ किसन बावनी, पत्र ७। २७

२. जैनशतक, पृ० २४। ६४

३. अन्योक्ति बावनी, पृष्ठ ४५



ओसवाल जैन के घर हुआ था। पहले इनका नाम नराण या नाराण (नारायण) था इन्होंने मुनि जिनलाभसूरि से अनेक विषयों का अध्ययन किया। दीक्षा-ग्रहण के समय इनका नाम ज्ञानसार रखा गया। इन्होंने विभिन्न विषयों पर अनेक ग्रन्थ रचे, किन्तु नीति पर इनकी दो ही पुस्तकें प्राप्त हैं - संबोध अष्टोत्तरी और प्रास्ताविक अष्टोत्तरी।

'संवोध अष्टोत्तरी' में राजस्थानी भाषा में १०८ सोरठे हैं जिनमें नीचे से लाड़, धनगाड़, कंजूस, खान-पान, मकान आदि से सम्बन्धित अनेक उपयोगी विषयों का वर्णन है। 'प्रास्ताविक अष्टोत्तरी' का प्रणयन सं १८८० में किया गया। इसमें नर की निडरता, पूर्व-कर्मों की प्रबलता, इच्छा से फल की अप्राप्ति और अनिच्छा से प्राप्ति, पराधीनता से जमीर की हत्या, विदीर्ण हृदय का मृदु वचन से उपचार आदि अनेक विषयों का प्रभावशाली नीति से प्रतिपादन किया गया है। रचना की तीन बातों पर पाठक की दृष्टि अनायास जा पड़ती है—१. स्थानीय प्रभाव २. आत्मानुभूति ३. संस्कृत साहित्य का प्रभाव। उदाहरणार्थ—

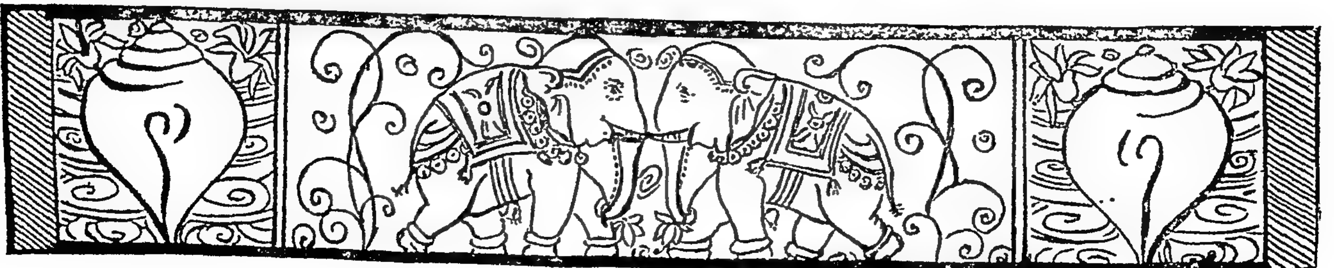
(क) वरषा जल मरु देस सब ऐंचत अपनी ओर।
जैसे टूटे पतंग की लूटत सब जन डोर॥
(ख) विन चाहै सब ही मिलै, चाहै कछु न मिलैत।
वालक मुख जोरावरी, माता माता दैत॥

कृति सरल व्रजी में रचित है, जिसमें यत्र-तत्र विदेशी शब्द भी लक्षित होते हैं। उस युग में जब कि अधिकतर कवि वत्तीसी, छत्तीसी, वावनी आदि लिखकर ही सन्तुष्ट हो जाते थे, योगिराजजी ने अष्टोत्तरी-युगल लिखकर हिन्दी नीति-काव्य की शैली को विकसित किया।

१३. मनरंगलाल—कन्नोज-निवासी दिगम्बर जैन श्रावक मनरंगलाल का साहित्य-निर्माण-काल विक्रम की उन्नीसवीं शती का उत्तरार्द्ध है। यद्यपि इनकी अन्य कृतियां भी प्राप्त होती हैं, तथापि नीति-विषयक रचना 'सप्त व्यसन चरित्र' ही है। इस कथा-संग्रहात्मक अपूर्ण नीति काव्य की हस्तलिखित प्रति हमें अलीगंज (जि० एटा) के जैन विद्वान् श्री कामताप्रसाद के सौजन्य से प्राप्त हुई। आद्य २९ पद्यों में जैन तीर्थंकरों का स्तवन तथा विषय-निर्देश है। परवर्ती कथाओं में पद्य-संख्या निम्नांकित प्रकार से है—

१ द्यूत-व्यसन-कथा (पद्य ३०-१५७)
२ मांस-व्यसन-कथा (पद्य १-६५)
३ सुरापान-व्यसन-कथा (पद्य ६६-१५६)
४ वेश्या-व्यसन-कथा
(क) चारुदत्त-कथा (पद्य १-१२८)
(ख) सुदत्त सेठ की कथा (पद्य १-४३)
५ चोरी-व्यसन-कथा (अपूर्ण, पद्य १-८४)

आखेट तथा व्यभिचार-विषयक कथाएँ लुप्त हो चुकी हैं। यह रचना जैनों के लिए ही नहीं, सर्वसामान्य के लिए भी समान रूप से उपयोगी है। व्रजी की इस रचना में रसों और भावों की सुन्दर व्यंजना हुई है। सभी गुण प्रसंगवश दृष्टिगोचर होते हैं। सवैया, दोहा, सोरठा, चौपाई, छप्पय, कवित्त आदि कई छन्द व्यवहृत है। सचमुच यह नीतिविषयक एक सुन्दर कृति है। एक उदाहरण देखिये—



मद्य करै मति भ्रष्ट, मद्य लक्ष्मी निरवारै।
मद्य दिखावै दुःख महा अपयश विस्तारै॥
मद्य पुण्य को शत्रु, मद्य अकुली जन पीवत।
मद्य शौचता हरे, मद्य कुलवान न छीवत॥
मनरंग कहैं लखि दोष दुख, जे दर्शन प्रतिभा धनी।
नहिं जात पास ताके कदा, 'धनि ते धनि ते' यों मनी॥[1]

१४. बुधजन—ये जयपुर-निवासी निहालचंद खंडेलवाल के तृतीय पुत्र थे। पं० मांगीलालजी से विद्याध्ययन के पश्चात् ये दीवान अमरचन्द के पास मुनीम का कार्य करने लगे। इनका विस्तृत वृत्त अभी तक अंधकार में है।

इन्होंने अपनी 'बुधजन सतसई' की रचना सं० १८७९ वि० में राजा जयसिंह के शासन-काल में की। इस काव्य में कुल ७०२ दोहे हैं जो चार भागों में यों विभक्त हैं—

भाग	दोहा-संख्या
१. देवानुराग शतक	१००
२. सुभाषित नीति	२००
३. उपदेशाधिकार	२००
४. विरागभावना	२०२

इनमें से देवानुरागशतक भक्ति-प्रधान है तो विरागभावना विरक्ति-प्रधान। सुभाषित नीति के विषयों में तो कोई क्रम लक्षित नहीं होता, किन्तु उपदेशाधिकार में दोहे विद्या-प्रशंसा, मित्रता और संगति, जूआ-निषेध, मांसनिषेध आदि शीर्षकों में विभाजित हैं। इस काव्य में उपर्युक्त सभी प्रकार की नीति उपलब्ध होती है। भाषा अलंकृत व्रजी है और प्रसाद-गुण से पूर्ण है। सुपथ-प्रदर्शन की दृष्टि से कृति की उपयोगिता और महत्ता में तनिक भी सन्देह नहीं, परन्तु सरसता की कमी कुछ खटकती है। निदर्शनार्थ कुछ दोहे प्रस्तुत हैं—

(क) पट पनही बहु खीर गो, ओषधि बीज अहार।
ज्यौं लाभै त्यौं लीजिये कीजै दुख परिहार॥

(ख) असत बैन नहिं बोलिये, ता तैं होत बिगार।
वे असत्य नहिं सत्य हैं, जा तैं ह्वै उपकार॥

(ग) निज भाई निरगुन भलौ, पर गुनजुन किहि काम।
आंगन तरु निरफल जदपि, छाया राखै घाम॥[2]

१५. मनराम—इनका जीवन-वृत्त अभी तक तिमिरावृत है। 'मनरामविलास' नामक एक काव्य हमें जयपुर में ठोलियों के जैन मन्दिर में देखने का अवसर मिला। उसके अन्तिम दोहे से प्रतीत होता है कि मनराम-कृत 'मनरामप्रकाश' से इसका संग्रह किन्हीं बिहारीदासजी ने किया था। यद्यपि कृति का रचना-काल अज्ञात है तथापि कागज की बनावट और लिखाई से प्रति पुरानी प्रतीत होती है। कवि ने ६६ वें पद्य में कवि बनारसीदास का स्मरण किया है।

'मनरामविलास' में केवल ६६ पद्य हैं जिनमें दोहा, सवैया इकतीसा, सवैया बत्तीसा, सवैया तेईसा, कुंडलिया और कवित्त (सवैया) छन्दों का प्रयोग किया गया है। गुण-ग्रहण, अवगुण-त्याग, क्रोध, लोभ, परोपकार, स्त्री-निन्दा आदि विषयों की चर्चा है। यद्यपि भावों के लिए कवि पुराने संस्कृत के नीति-कवियों का पर्याप्त ऋणी है, तथापि उन्हें सुन्दर दृष्टान्तों से पुष्ट करने में उसने विशेष कौशल

१. सप्त व्यसन चरित, पृष्ठ ३७।१५५

२. बुधजन सतसई, पृष्ठ २६।२३८, ७२।६७८, २०।१८१.



दिखाया है। कला की दृष्टि से रचना सूक्ति-काव्य में समावेश्य है। एक-दो पद्य देखिये—

(क) 'दीन' एक पद अधिक लहि, 'हीन' कहावत नाम।
'धीर' सीस खंडित भये,
'वीर' होत मनराम ॥[1]

(ख) सिसु कै साथ नहीं तिय की कछु,
नगन होत तिन्ह सौं न लजावै।
सोई निरखित गुरु न पुरुष न कौं,
(नाहिन ?) अपनो अंग दिखावै ॥
तैसे अवनि लोभवंतनि कौं,
निज सम्पत्ति कहुं निजर न आवै।
हैं मनराम महंत अवंछिक,
तिन्ह को नाना विधि दरसावे ॥[2]

(ख) गौण कवि

रीति काल में एक दर्जन के करीब गौण जैन कवि हुए जिनका संक्षिप्त परिचय इस प्रकार है—

१. अकमल या अकू—जयपुर के लूणकरण मन्दिर में सुरक्षित इनकी 'शील-वत्तीसी' का लिपि-काल सं० १७२१ है। ३४ कुंडलिया छन्दों की इस राजस्थानी-कृति का वर्ण्य विषय है शील, जिसमें पातिव्रत और पत्नीव्रत दोनों समाविष्ट हैं।

२. महेश मुनि—इन्होंने सं० १७२५ में उदयपुर में 'अक्षर वत्तीसी' की रचना की थी जिसकी हस्तलिखित प्रति वीकानेर के अभय जैन ग्रन्थालय में विद्यमान है। ३४ दोहों की इस रचना में वर्णमाला-क्रम से गर्व, छल, पापादि से वचने की प्रेरणा है।

३. लक्ष्मीवल्लभ गणि उपाध्याय—इनकी 'कवित्त-बावनी' में ५८ छप्पय हैं, जिन्हें सं० १७४१ में श्री उपाध्यायजी के शिष्य मुनि हीरानन्द ने लिपिवद्ध किया था। राजस्थानी की इस रचना में भावमहिमा, लज्जामहत्त्व आदि पर सुन्दर पद्य हैं। सम्भवतः ये लक्ष्मीवल्लभ वहीं हैं, जिनका उल्लेख मुख्य नीति-कवियों में किया जा चुका है।

४. भीम—इनकी 'सप्त व्यसन दूहा कुंडलिया' पुरातत्त्व मन्दिर जयपुर में सुरक्षित है, जिसका लिपि-काल विक्रमी १८ वीं शती है। राजस्थानी की मूल रचना में मांस, मदिरा आदि सप्त व्यसनों का निषेध किया गया है।

५. मुनि मान—इनकी 'सवैया मान बावनी' अभय जैन ग्रन्थालय में सुरक्षित है। इस प्रति को घोघूंदा गाँव में मयाचन्द ने सं० १८१२ में लिपिवद्ध किया था। इसमें स्वामी, सेवक, मित्र, पुत्रादि पर सामान्य सवैये हैं।

६. लालचन्द—१८ वीं शती के उत्तरार्द्ध में इस नाम के तीन जैन कवि हुए। 'छिनाल पचीसी' तथा 'मूरख सोलही' सम्भवतः उन लालचन्द की कृतियाँ हैं जिनका दीक्षा-नाम लाभवर्द्धन था। 'छिनाल पचीसी' की २५ चौपाइयों में कुलटाओं के और 'मूरख सोलही' के १६ चान्द्रायण छन्दों में मूर्खों के लक्षणों का उल्लेख है। दोनों की प्रतियाँ अभय जैन ग्रन्थालय में सुरक्षित हैं।

७. क्षमाकल्याण—खरतर गच्छ के वाचक अमृतधर्म के शिष्य क्षमाकल्याण का रचना-काल सं० १८२९ से १८७२ तक है। इनकी 'हित-शिक्षा-द्वात्रिंशिका' अभय जैन

१. मनराम विलास, पद्य ६२
२. „ „ „ ४१



ग्रन्थालय में विद्यमान है। इस बत्तीसी के आदि तथा अन्त में एक-एक सवैया है और मध्य में ३१ दोहे। इन्द्रिय संयम, विषय-निन्दा, तृष्णा आदि पर रचित इस कृति में कहीं-कहीं कुछ साहित्यिक आभा भी विद्यमान है।

८. देवा ब्रह्म या देवा पांडे—इनके तीन नीति-काव्य प्राप्त हैं—१. ढाल मधुवून्द २. गुरसीख, और ३. सास-वहू का झगड़ा। प्रथम दो तो जयपुर के काले छावड़ों के मन्दिर में सुरक्षित हैं और अन्तिम वहीं के ठोलियों के मन्दिर में। 'ढाल मधुवून्द' में अन्धकूप तथा मधुविन्दु की प्रसिद्ध कथा १९ पद्यों में निवद्ध है। 'गुरसीख' के १३ पद्यों में नीति की सामान्य वातें हैं। 'सास वहू का झगड़ा' का लिपिकाल सं० १८७२ है।

९. सूरत—इनकी वारहखड़ी 'जैन की वारहखड़ी' नाम से भी प्रसिद्ध है और राजस्थान के अनेक पुस्तक-भण्डारों में प्राप्य है। जयपुर के पुरातत्त्व मन्दिर की प्रति में ४२ पद्य हैं और वहीं के छावड़ों के मन्दिर की खण्डित प्रति में ७९। व्यवहृत छन्द को अविकसित कुंडलिया कह सकते हैं; क्योंकि दोहे का चतुर्थ चरण रोला के प्रथम चरण में दोहराया तो गया है, किन्तु कुंडलियावत् आद्य तथा अन्तिम शब्द समान नहीं है। विषय सप्त व्यसन आदि हैं।

१०. पारणीदास—इनकी 'वारहखड़ी' जयपुर के पुरातत्त्व मन्दिर में सुरक्षित हैं। १९ वीं शती में लिपिवद्ध इस कृति की भाषा व्रजी है। ३५ पद्य हैं जिनमें जैनप्रिय नीति वर्णित है।

(ग) अज्ञात-कर्तृक कृतियां

१. प्रश्न पुण्य-पाप—किसी अज्ञात-नामा जैन कवि की यह रचना जयपुर के काले छावड़ों के मन्दिर में सुरक्षित है। लिपिकाल सं० १७७२ है और पद्य-संख्या २९। वैधव्य, वेश्यात्व, दारिद्र्य आदि के कारणों के विषयों में पूछे गये प्रश्नों का उत्तर दोहा-चौपाइयों में दिया गया है।

२. वारह खड़ी—हस्तलिखित प्रति काले छावड़ों के मन्दिर में विद्यमान है। सं० १८१४ में लिपिवद्ध इस खंडित रचना में २४ पद्यों में मोह, मान, लोभ, पाप आदि से जूझने की प्रेरणा अनुप्रासमयी भाषा में की गई है।

(घ) अनुवादक कवि-नयनसिंह

खरतर गच्छ के मुनि नयनसिंह या नयनचन्द ने सं० १७८६ में विक्रमनगर अर्थात् वीकानेर के महाराज अनूपसिंह के पुत्र आनन्दसिंह के आदेश से भर्तृहरि की शतकत्रयी का सवैया-वद्ध अनुवाद किया, जिसकी हस्तलिखित प्रति वीकानेर के अनूप संस्कृत पुस्तकालय में है। अनुवाद से पूर्व भर्तृहरि का संक्षिप्त वृत्त गद्य में है। अनुवादात्मक भाग में ऊपर मूल श्लोक है, नीचे हिन्दी-भाषान्तर। अनुवाद की भाषा सुन्दर है, परन्तु अनुवाद कहीं-कहीं व्याख्यात्मक हो गया है।

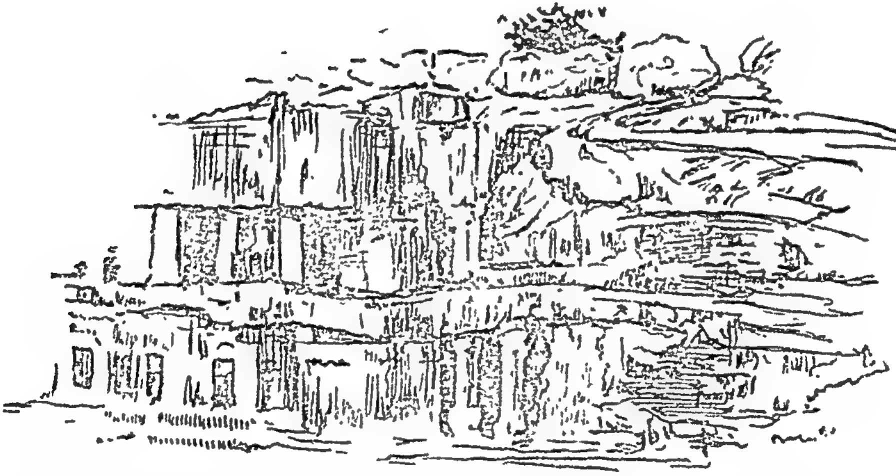
उपर्युक्त विवरण से स्पष्ट है कि भक्तिकाल और रीतिकाल में नीति विषय पर लिखने वाले जैन कवियों की संख्या तीन दर्जन से कुछ अधिक है और रीतिकालीन कवियों की संख्या भक्तिकालीन की अपेक्षा दुगनी से भी कुछ अधिक। इसी प्रकार उक्त दोनों कालों में उपलब्ध काव्यों की संख्या ६७ हैं-भक्तिकाल में २२ और रीतिकाल में ४५। ये कवि तो ऐसे हैं जिनके ग्रन्थों के अध्ययन का सौभाग्य हमें प्राप्त हुआ,



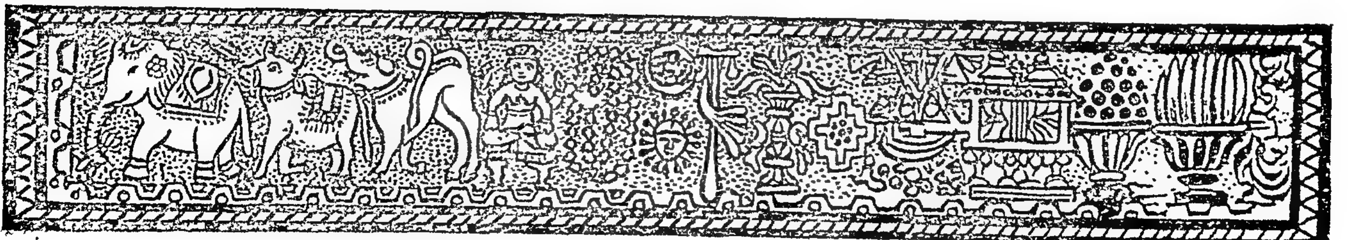
और न जाने कितने ग्रन्थ अन्यान्य भंडारों में सुरक्षित होंगे, जो धीर-गम्भीर अन्वेषियों की प्रतीक्षा कर रहे होंगे।

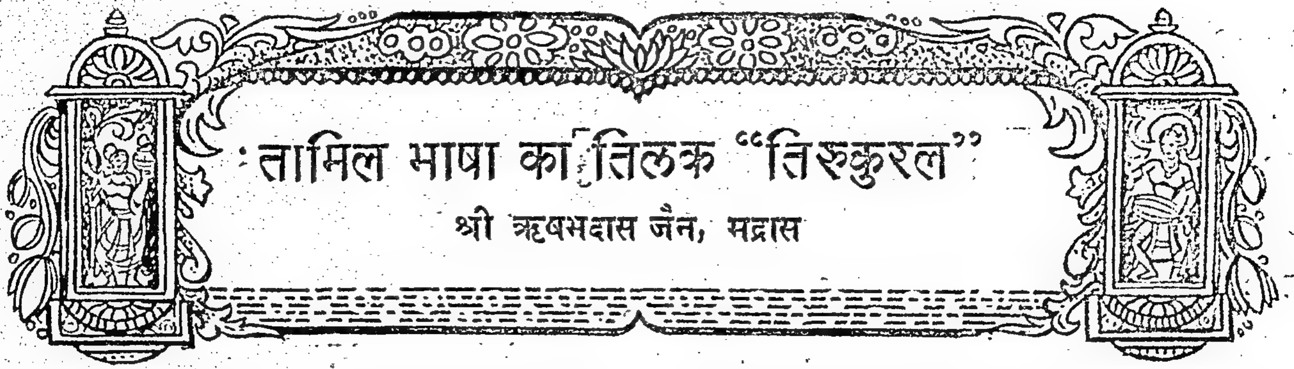
उपर्युक्त कवियों ने अपनी रचनाओं में प्रायः राजस्थानी और व्रजी भाषा का प्रयोग किया है। कुछ कृतियों में पंजाबी की झलक भी दृष्टिगत होती है। इन कृतियों में अनेक छन्द व्यवहृत हुए हैं जिनमें से मुख्य ये हैं—दोहा, छप्पय, कवित्त, सवैया, चौपाई, कुंडलिया, लावनी साखी। अधिकतर रचनाएं मुक्तक हैं जो बत्तीसी, छत्तीसी, बावनी, बहत्तरी, शतक और अष्टोत्तरी के रूप में हैं। कुछ रचनाएं कथात्मक तथा निबंधात्मक भी हैं। अधिकतर रचनाए तथ्य-निरूपक शैली में हैं; किन्तु कुछ एक व्याख्यात्मक, संवादात्मक, दृष्टांत और अन्योक्ति शैली में भी उपलब्ध होती हैं। अधिकतर रचनाएं भाव-रसपूर्ण हैं और पाठकों के हृदय पर अपना सुप्रभाव अंकित करने में समर्थ हैं। अन्त में यह निः संकोच कहा जा सकता है कि जैन कवियों ने हिन्दी नीति-काव्य की समृद्धि में जो योगदान दिया है, वह वस्तुतः मुक्तकंठतः प्रशंसनीय है[1]।

१. उपर्युक्त कवियों और काव्यों के सम्बन्ध में विस्तृत जानकारी प्राप्त करने के इच्छुक महानुभाव हमारा पूर्वोक्त शोध-प्रबन्ध देख सकते हैं।



२२०० वर्ष प्राचीन रानीगुफा-खण्डगिरि-उदयगिरि भुवनेश्वर (उड़ीसा)



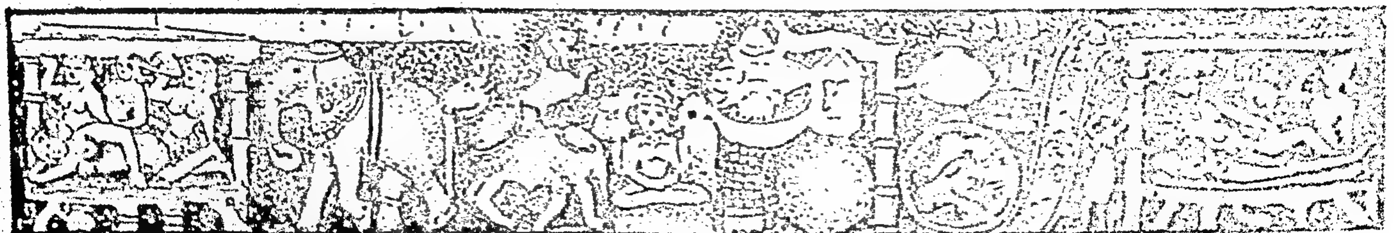


तामिल भाषा का तिलक "तिरुकुरल"

श्री ऋषभदास जैन, मद्रास

भारत की अनेक भाषाओं में तामिल भाषा भी द्राविड़ देश (मद्रास प्रान्त) की बड़ी प्राचीन और व्यापक भाषा है। इस भाषा का साहित्य सुन्दर एवं प्रशंसनीय है। इसका व्याकरण इतना ठोस है कि जिसके प्रभाव से यह भाषा दो हजार वर्षों से अखण्ड धाराप्रवाही रूप से आज तक चल रही है। प्रायः भारत की बहुत सी भाषाओं में समय-समय परिवर्तन होता चला आया है। अगर हम हिन्दी या गुजराती भाषा के तरफ भी दृष्टिपात करें तो प्रत्यक्ष मालूम होता है कि भिन्न-भिन्न सदियों में इसका रूप बदलता चला आया है, परन्तु इस तामिल भाषा में कोई परिवर्तन नजर नहीं आता है ऐसा भाषा-शास्त्रियों का मन्तव्य है।

इस भाषा का प्राचीन काल से एक धाराप्रवाह होने से द्राविड़ देश की प्रजा बड़ा गौरव मानती है। इस भाषा में काव्य, नाटक, न्याय, नीति, सदाचार आदि जनहितकारी सब विषयों का साहित्य आज भी विद्यमान् है। तिरुकुरल नाम का नीति-काव्य इस भाषा का शिरोमणि ग्रन्थ माना जाता है जिसको द्राविड़ देश की प्रजा अपना पंचम वेद मानती है और इसे ईश्वरीय ग्रन्थ या तामिल वेद के नाम से पुकारती है। इन ग्रन्थ का संसार की कई भाषाओं में अनुवाद हो चुका है। रेवरेन्ड जी० यू० पोपने इसका सुन्दर ढंग से अंग्रेजी अनुवाद किया है। वैसे तो इसका अंग्रेजी अनुवाद विवेचनात्मक शैली से भारतीय विद्वान् वी० वी० एस आयर और श्री राजगोपालाचारी ने भी किया है। इस ग्रन्थ में धर्म, (अरम) अर्थ (पुरल) और काम (इनवम) इन तीनों विषयों पर करीब १३३ अध्याय में बड़ी मननीय शैली और प्रभावोत्पादक पद्धति से किया है। श्री राजगोपालाचारी ने तो इस ग्रन्थ के प्रति यहां तक अपना हार्दिक उद्गार प्रकट किया है कि अगर मैं संसार भर का साहित्य भी पढ़ लूं तो भी इस "कुरल" को बार-बार पढ़े बिना मेरे मन की तृप्ति नहीं होती। इस ग्रन्थ के रचयिता के बारे में कई प्रकार की मान्यताएं चल रही हैं, क्योंकि ग्रन्थ किसी भी दार्शनिक दायरे से दूर है और सम्प्रदायिक शृंखला से अबद्ध है, इसलिए यह द्राविड़ देश का सर्वमान्य ग्रन्थ हो चुका है और इसको हर एक मतावलम्बी अपने-अपने मत का होने का दावा करते हैं और उसके ग्रन्थकर्त्ता को अपना-अपना मतानुयायी सिद्ध करते हैं और उसीके पीछे कुछ-न-कुछ कथा को अपने-अपने साहित्य में स्थान देकर उस पर अपना गौरव प्रकट करते हैं। परन्तु इस बुद्धिवाद के युग में बड़े-बड़े प्रखर विद्वानों ने तटस्थ वृत्ति से इस ग्रन्थ और इसके कर्ता सम्बन्धी अनुसन्धान किया है। हालांकि इसकी प्राचीनता के सम्बन्ध तो विशेष में



मतभेद नहीं है। प्राय: सब ही इसको दो हजार वर्ष पुराना मानते हैं और पाश्चात्य विद्वानों ने भी इसको ईसा की द्वितीय शताब्दी का माना है। परन्तु ग्रन्थकर्ता को शैव वाले शैव और वैष्णव वाले वैष्णव मानते हैं। परन्तु इस देश के प्राय: सब ही धुरन्धर एवं नामाङ्कित विद्वानों ने इसे जैन धर्म का स्वीकारा है। इस सम्बन्धी कई एक ऐसे प्रबल कारण मिलते हैं, जो इसे जैन कृति होने का समर्थन करते हैं। पन्द्रह बीस वर्ष पूर्व इस मद्रास प्रान्त में इस ग्रन्थ सम्बन्धी बड़ी ऊहापोह चली थी, उस समय दक्षिण भारत की जैन मिशन सोसाइटी नाम की प्रसिद्ध संस्था ने विद्वानों से पत्र-व्यवहार चलाया था और जैनकृति होने के सम्बन्ध में जो तर्क दिये गये, वे इस प्रकार हैं कि ग्रन्थकार ने ग्रन्थ के प्रारम्भ में आदि भगवान् का नाम निर्देश किया है और वे सर्वज्ञ है। आगे बतलाया गया है कि वे कमलगामी हैं और वीतराग हैं। वे आठ गुण युक्त हैं। आगे बढ़ते हुए ग्रन्थकार ने सृष्टिकर्ता का विरोध किया है और स्थान-स्थान पर अहिंसा पर जोर दिया है और कहा है कि दया परिणामी व्यक्ति के लिए संसार में संक्लेश का किंचित् स्थान नहीं है यानि निर्भय और निराकुलता दयामय जीवन की सिद्धियां हैं।

इस ग्रन्थ में वर्ण-व्यवस्था को जन्ममूलक न मानते हुए जैन धर्म के उत्तराध्ययन सूत्रादि आगम शैली के अनुसार गुण-मूलक माना है और ऊपर की बातें अरिहंत पद पर अधिष्ठित होने वाले तीर्थङ्कर जीवनी से ही मिलती है। जैसे कि सर्वज्ञता, वीतरागता और अष्ट महा आत्म गुण सम्पत्ति की आधिपत्यता कहो चाहे तीर्थंकर की विभूतिरूप अष्ट महा प्रातिहार्य की विभूति कहो दोनों तरफ से सिद्ध हो सकता है। तीर्थङ्कर प्रभु के पाद कमलों के नीचे सुवर्ण कमलों के अस्तित्व का वर्णन जैन शास्त्रों में प्रसिद्ध है। तीर्थङ्कर भगवान सुवर्ण कमल पर ही गमन करते हैं; इन्द्रध्वज आगे चलता है और धर्मचक्र आकाश में साथ में चलता है। इसलिए ग्रन्थकार की मान्यता कमलगामी भी जैन शास्त्र से सिद्ध है। इसलिये आदि भगवान श्री ऋषभदेव ही ग्रन्थकर्ता के इष्टदेव होने चाहिए। आज भी ऋषभदेव के कई प्रासाद आदिनाथ प्रासाद, आदीश्वर मन्दिर के नाम से सारे भारत में पाये जाते हैं। इत्यादि सारी ऊपर की बातें जैन-दर्शन से सिद्ध होती हैं। यद्यपि एक-दो बातें दूसरे दर्शनों में भी मिलनी सम्भव है। परन्तु सारी बातें एक ही साथ जैन धर्म में पाई जाने से विद्वानों को इसे जैन धर्म की कृति होना स्वीकार करना पड़ा है। एक मर्म की बात तो यह है कि जैन धर्म में चार मंगल अर्थात् अरिहंता मंगल, सिद्धा मंगल, साधु मंगल, और केवली भाषित धर्म मंगल का जैन दर्शन में बड़ा महत्वपूर्ण स्थान है। चाहे जैन साधु हो या चाहे जैन गृहस्थ (श्रावक) हमेशा के लिए चारों मंगल का उच्चारण करने में अपना महामंगल एवं कल्याण मानता है। उसी मान्यता का ग्रन्थकार के घट-घट में बड़ा गहरा स्थान है, इसलिए प्रथम अध्याय में ईश्वर रूप अरिहंत स्तुति, आठवें अध्याय में सिद्ध-स्तुति और नवमें-दशमें अध्याय में साधु-स्तुति पाई जाती है और सर्वज्ञ अरिहंत भगवान का संचालन किया हुआ धर्म होने से चारों अध्याय से ही धर्म-स्तुति शुरू की है। फिर उसको सक्रिय जीवन में स्थान देने के लिए अहिंसा, सत्यादि का बड़े गंभीर ढंग से प्रतिपादन किया है।

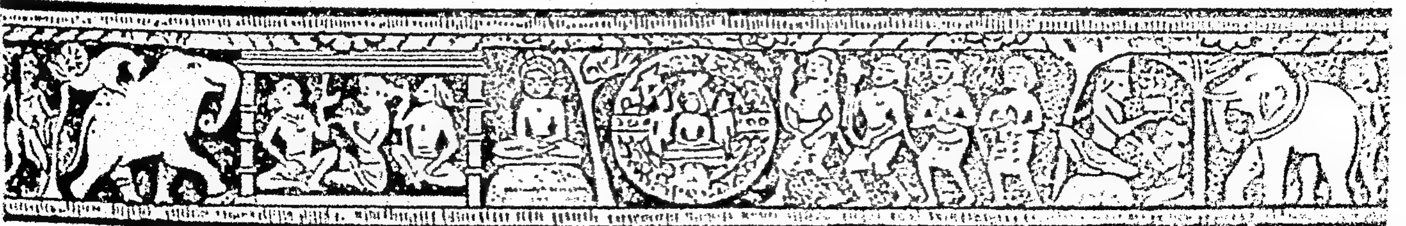
इस ग्रन्थ का पठन बड़े मनन एवं परिशीलन पूर्वक



करने से, जैन सिद्धान्त शैली का यह ग्रन्थ है, ऐसा सिद्ध होता है।

कई विद्वान जो पहले इस बात को कपोलकल्पित मानते थे, बाद में जैन धर्म का होना सहर्ष स्वीकारा है।

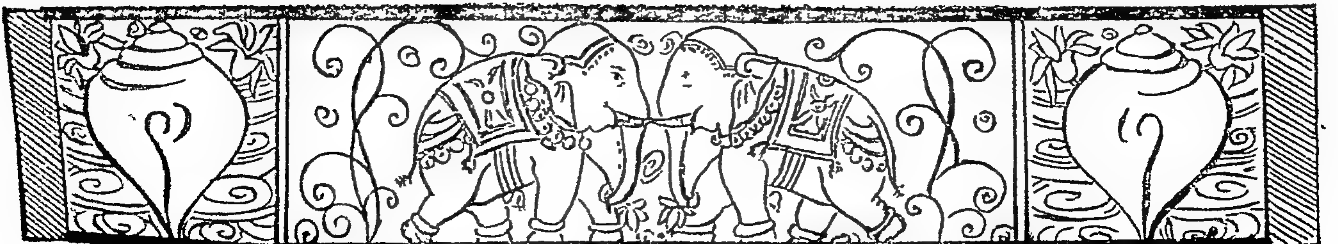
अगर जैनों ने तिरुकुरल जैसे एक ही तामिलभाषा के ग्रन्थ को अपना होने का दावा किया होता तो सबको इसमें संदेह होता, परन्तु तामिल साहित्य के कई प्रामाणिक ग्रन्थ जो Master pieces of Tamil Literature माने जाते हैं, वे प्रायः जैनों की कृतियां हैं, ऐसा निर्विवादित विषय है। जो तामिल भाषा के पंच महाकाव्य माने जाते हैं उनमें सिवाय मणिमेखला के चारों काव्य जैन धर्म के हैं और जिसकी एक आवाज से दक्षिण देश में मुक्तकंठसे प्रशंसा हो रही है, 'वह जीवक चिन्तामणि' नामक महाकाव्य जैन धर्म का ग्रन्थ है, इसमें न तो कोई शंका का स्थान है और न कोई मतभेद ही है। तामिल साहित्य में इसका इतना ऊंचा स्थान है कि कुछ वर्षों पूर्व मद्रास विश्वविद्यालय (University) ने M. A. के कोर्स में इसके कुछ अध्याय रखे थे। पूरे ग्रन्थ का अध्ययन तो उस कक्षा के लिए कठिन भास होता था। इसलिए दो-चार अध्याय (Chapters) रखने में आये थे। आज भी इस काव्य का यथार्थ ढंग से प्रतिपादन करने वाले व्यक्ति तामिल भाषा के सर्वोपरि श्रेणी के विद्वान् माने जाते हैं। आज नहीं, परन्तु मध्यम युग में इस देश की प्रथा थी कि मदुरा के विद्वद् परिषद् (Tamil Academy) से प्रत्येक ग्रन्थकर्ता को अपना ग्रन्थ वहाँ लेजाकर विद्वानों से (Approve) प्रमाणित कराना पड़ता, तब ही तामिल साहित्य में उसको प्रतिष्ठा होती थी। कहते हैं कि कम्भम रामायण, जो हिन्दू धर्म का तामिल भाषा में वड़ा प्रसिद्ध ग्रन्थ इस देश में माना जाता है, उसके कर्ता को भी अपने ग्रन्थ के प्रमाणपत्र के लिए मदुरा परिषद् पहुँचना पड़ा था। विद्वानों ने उस ग्रन्थ का अवलोकन करने के बाद में प्रश्न किया था कि क्या इस ग्रन्थ के निर्माण में आपने चिन्तामणि महाकाव्य का आधार लिया है। उन्होंने उत्तर दिया कि चिन्तामणि काव्य रूपी महासमुद्र में से बिन्दुरूप ग्रहण करके मैंने इस ग्रन्थ को रचा है, अर्थात् चिन्तामणि काव्य का प्राचीन काल में यह स्थान था और आज भी इस ग्रन्थ के लिए विद्वानों के बड़े गौरवगाथा भरे उद्‌गार निकलते हैं। कोई-कोई विद्वान् ने तो यहाँ तक अपनी सद्‌भावना व्यक्त की है कि अगर कोई हमारे तामिल देश पर आक्रमण करके सब कुछ लूट ले जावे और एक चिन्तामणि काव्य रह जावे तो हम समझेंगे कि हमारा कुछ नहीं गया। जैसे चिन्तामणि रत्न से सर्व सम्पत्ति-सिद्धि प्राप्त होती है, वैसे ही हमारी सारी सांस्कृतिक सम्पत्ति का पुनः सम्पादन इस ग्रन्थ से हो सकता है, इसलिए चिन्तामणि वास्तव में चिन्तामणि रत्न ही है। चिन्तामणि काव्य की बात तो बहुत बड़ी है, परन्तु नालडीआर, शिलपदिगारम और यशोधर काव्य आदि का भी तामिल भाषा में बहुत ही बड़ा आदर्श स्थान है। इसके अलावा पलमोली, तिन्नैमाले नूरैम्बतु, नानमणिक्कडिगे एलानि आदि भिन्न-भिन्न सर्वकल्याणकारी विषयों पर अनेक कृतियां जैनाचार्यों की पाई जाती हैं। तोलपाप्पियम जो तामिल भाषा का प्राचीन और प्रामाणिक व्याकरण-ग्रन्थ है, वह भी जैनों का है। ऐसा कहना कोई अत्युक्ति नहीं कि जैन-कृतियों की



तामिल साहित्य को महत्वपूर्ण देन है, इसलिए सर सनमुखम चेट्टीयार को कहना पड़ा था कि अगर तामिल साहित्य में से जैन साहित्य अलग कर दिया जावे तो Tamil literature would lose its lustre अर्थात् तामिल साहित्य रूपी दीपक निस्तेज हो जायगा।

इस तरह से तामिल साहित्य के सर्वांगसुन्दर साहित्य का निर्माण जैन विद्वानों के द्वारा हुआ है, इसलिए कितने ही लोग जैनों को तामिल भाषा के निर्माता मानते हैं। उन धुरन्धर विद्वानों में से ही जैन विद्वान ने इस तिरुकुरल जैसे सर्वोपरि ग्रन्थ का निर्माण किया हो, ऐसा हर तरह से सम्भव है। इसलिए प्राचीन विद्वानों में लोकएषणा का अभाव और केवल सेवा का सद्भाव होने से ग्रन्थकर्ता ने अपना नाम नहीं भी दिया है, तो भी कृतिकर्ता का परिचय दिये विना रहती नहीं। उसके सूक्ष्म अभ्यासी वर्ग ने सहर्ष इसे जैन विद्वान् की कृति स्वीकारा है।





जैन सिद्धान्त में पुद्गल द्रव्य और परमाणु सिद्धान्त

श्री दुलीचन्द जैन, मंगावली

प्रागैतिहासिक काल से ही जगत मनुष्यों के समक्ष एक पहेली बना हुआ है। जगत के सर्वश्रेष्ठ विचारशील प्राणी-मनुष्य ने सूर्य और चन्द्र की प्रथम किरणों का दर्शन आतंक, आश्चर्य और रहस्य के रूप में ही किया होगा और इसलिए वेदों में ऋषि-मुनि प्रकृति के सुन्दर ढंगों—चन्द्र, सूर्य, वरुण, विद्युत् आदि की स्तुति करते हुए मिलते हैं। आगे चलकर मनुष्य के मस्तिष्क में जगतस्रष्टा की कल्पना प्रस्फुटित हुई और यह जिज्ञासा भी हुई होगी कि यह जगत् किन तत्वों से निर्मित है। भारतीय दर्शनकारों के पृथ्वी, अप, तेज, वायु और आकाश इन पंच भूतों के सिद्धांत, यूनानी दार्शनिकों का मिट्टी, जल, अग्नि और वायु इन तत्वों का सिद्धान्त, जैन दार्शनिकों का जीव, पुद्गल, धर्म-अधर्म, आकाश और काल इन छः द्रव्यों (Fundamental realities of universe) का सिद्धान्त, इत्यादि उपर्युक्त प्रश्न के ही उत्तर हैं। प्रकृति (Matter) की आन्तरिक रचना के विषय में उन दार्शनिकों ने विचार किया और कणाद व डेमोक्रिटस आदि कतिपय विचारकों ने प्रकृति (Matter) के परमाणु सिद्धान्त (Atomic theory) को भी प्रस्तुत किया। जैन दर्शनकारों ने भी इस दिशा में पर्याप्त कार्य किया है। हैम्बर्ग विश्वविद्यालय जर्मनी के डा० शुब्रिग (Schubring) ने एक भाषण में कहा था कि जैन विचारकों ने जिन तर्कसम्मत और सुसम्बद्ध सिद्धान्तों को उपस्थित किया है, वे आधुनिक विज्ञानवेत्ताओं की दृष्टि में भी अमूल्य एवं महत्वपूर्ण हैं। विश्व-रचना के सिद्धान्त के साथ-ही-साथ उच्चकोटि का गणित ज्योतिष व गणित भी मिलता है। सूर्यप्रज्ञप्ति का उल्लेख किए बिना भारतीय ज्योतिष का इतिहास अधूरा रहेगा×।

जैन विचारकों के इन सिद्धान्तों का महत्व इस दृष्टि से और भी बढ़ जाता है कि वे आज से सहस्रों वर्ष पूर्व

× He who has a thorough knowledge of the structure of the world cannot but admire the inward logic and harmony of Jain ideas. Hand in hand with the refined cosmographical ideas goes a high Standard of Astronomy and Mathematics. A history of Indian Astronomy is not conceivable without the famous "Surya Pragyapti."



अन्वेपित हुए थे । आधुनिक विद्वान् परमाणुवाद के सिद्धान्त का उद्‌गम कणाद और यूनानी दार्शनिकों से मानते हैं; किन्तु यदि पाश्चात्य विद्वानों के जैन-दर्शन-साहित्य के अध्ययन का अवसर मिलता तो परमाणु सिद्धान्त का उद्‌गम भगवान् पार्श्वनाथ से माना जाता, जो कणाद से भी बहुत पहले हुए थे। [आधुनिक इतिहास वेत्ताओं ने भगवान् पार्श्वनाथ (८४२ ई० पू०) को प्रथम ऐतिहासिक पुरुष और जैन धर्म का प्रवर्त्तक माना है ×।]

जैन सिद्धान्त विश्व को छः * द्रव्यों से निर्मित मानता है—१ जीव (Soul) २ पुद्‌गल (Matter energy) ३ धर्म (Medium for motion for soul & matter) ४ अधर्म (Medium of rest) ५ आकाश (Space) और ६ काल (Time)

ये छः द्रव्य विश्व के मूल तत्व (fundamental realities) हैं। ये अविनाश्य हैं, ध्रुव हैं, नित्य हैं। इनका कभी विनाश सम्भव नहीं है जैसा कि द्रव्य में अंतर्निहित है।

द्रव्य का लक्षण सत् है। सत् उसे कहते हैं जिसमें पर्यायों की दृष्टि से उत्पाद् और व्यय होते हों और गुणों की दृष्टि से जो ध्रौव्य ÷ सहित हों। वस्तु के एक पर्याय (Modification) का नाश होना व्यय है और नवीन पर्याय का उत्पन्न होना उत्पाद् है। किन्तु पर्याएं बदलते हुए भी वस्तु के वस्तुतत्व, अस्तित्व आदि गुणों का अचल रहना ध्रौव्य है। जैसे लकड़ी जल कर राख हो जाती है, इसमें पुद्‌गल की लकड़ी रूप पर्याय का व्यय होता है, क्षार रूप पर्याय का उत्पाद् होता है, किन्तु दोनों अवस्थाओं में वस्तु का अस्तित्व अचल रहता है, उसके प्रागार तत्व (Carbon) का विनाश नहीं होता है यह ध्रौव्य गुण है।

द्रव्य विषयक उपर्युक्त सिद्धान्त को दृष्टि में रखते हुए ही जैन सिद्धान्त में जगत् कर्त्ता की कल्पना को निराधार कहा गया है। द्रव्य अविनाशी है, ध्रुव है और इसलिए उसका शून्य में से निर्माण सम्भव नहीं, क्योंकि अनित्य वस्तुओं की ही उत्पत्ति संभव है।× नित्य अविनाशी द्रव्य न तो अपने अस्तित्व को खोकर अभाव रूप ही हो सकता है और न शून्य (अभाव unreal) में से उत्पन्न ही हो सकता है। पुद्‌गल पर जीव अथवा पुद्‌गल का प्रभाव पड़ने से उसमें केवल पर्यायों का ही परिवर्तन सम्भव है। जैन धर्म का यह द्रव्यों की नित्यता का सिद्धान्त विज्ञान का प्रकृति अनाश्यता का नियम (Law of indestructibility of matter) है। इस नियम को १८ वी शताब्दी में सुप्रसिद्ध वैज्ञानिक लेव्हाइजियर (Lavoisier)

× Cosmology old & New by prof. G. R. Jain.

* जीवा पुग्गल काया धम्मा धम्मा तहेव आयासं।
—आचार्य कुन्दकुन्द—पंचास्तिकाय

अज्जीवो पुण्णेयो पुग्गल धम्मो अधम्म आयासं
कालो पुग्गलमुत्तो रूवादिगुणो अमुत्तसेसादु॥
—नेमिचन्द्र सिद्धान्त चक्रवर्ती (द्रव्यसंग्रह)

÷ सद्. द्रव्यलक्षणम्, उत्पादव्ययध्रौव्य युक्तं सत्।
—आचार्य उमास्वाति (तत्वार्थसूत्र)

× द्रव्याणि—नित्यावस्थितान्य रूपा रूपिणः पुद्‌गलाः।
—तत्वार्थ सूत्र—अध्याय ५



ने इन शब्दों में प्रस्तुत किया था—कुछ भी निर्मेय नहीं है और प्रत्येक क्रिया में अन्त में उतनी ही प्रकृति (Matter) रहती है जितने परिमाण में वह क्रिया के आरम्भ में रहती है। केवल प्रकृति (Matter) का रूपान्तर (Modification) हो जाता है *।

जैन दार्शनिकों ने पुद्गल को भी विश्व के उपर्युक्त छः मूल तत्वों में परिगणित किया है। इस पुद्गल (Matter & Energy) अथवा प्रकृति और ऊर्जा को मूर्तिक द्रव्य भी कहा गया है। मूर्तिक उसे कहते है जिसका अस्तित्व हमारी इन्द्रियों द्वारा ज्ञात हो सके। विश्व में हम जो कुछ देखते हैं अथवा जो कुछ इन्द्रियगम्य हैं (Perceptible by our senses) वह सभी पुद्गल है। आचार्य पूज्यपाद ने अपनी सर्वार्थसिद्धि में पुद्गल की परिभाषा इस प्रकार की है—पुद्गल उसे कहते हैं, जो रूपी मूर्तिक हो अर्थात् जिसमें रूपादि पाये जावें †। स्पष्ट शब्दों में स्पर्श, रस, गन्ध और वर्ण ये चार गुण जिसमें पाये जावें, उसे पुद्गल कहते हैं ÷।

---

* "Nothing can be created and in every process there is just as much substance (quantity of matter) present before and after the process has taken place. There is only a change or modification of matter" – Law of Indestructibility of matter as difined by Lavoisier.

† रूपिण: पुद्गला: रूपं मूर्ति: रूपादि संस्थान परिणाम:। रूपमेपामस्तीति रूपिण: मूर्तिमन्त; ।—सर्वार्थसिद्धि अध्याय-५।

÷ स्पर्श रस गन्ध वर्ग वन्त: पुद्गला:—मोक्षशास्त्र अध्याय ५

स्पर्श आठ प्रकार के होते हैं :—१—स्निग्ध, २—रूक्ष, ३—मृदु, ४—कठोर, ५—उष्ण, ६—शीत, ७—लघु, ८—भारी (गुरु)। रस पांच प्रकार के होते हैं :—१—मधुर, २—अम्ल, ३—कटु, ४—तिक्त, ५—कषायला। गन्ध दो प्रकार की है—१—सुगन्धि और २—दुर्गन्धि। वर्ण पांच प्रकार का माना गया है—१रक्त, २—पीत, ३—श्वेत, ४—नील, ५—कृष्ण।

इन गुणों के विषय में नियम यह है कि जिस वस्तु में रूप, रस, गन्ध, स्पर्श इन चारों में से एक भी गुण होगा उसमें प्रकट-अप्रकट रूप से शेष तीन गुण भी अवश्य ही होंगे। यह भी सम्भव है कि हमारी इन्द्रियों द्वारा किसी वस्तु के सभी गुण अथवा उसमें से कुछ गुण लक्षित न हो सकें। जैसे कि उपरोक्त किरणें Infrared rays जो कि अदृश्य ताप किरणें हैं। वे हम लोगों की आंखों से लक्षित नहीं हो सकतीं किन्तु उल्लू और बिल्ली की आंखें उन किरणों की सहायता से देख सकती हैं। कुछ ऐसे भी भाचित्रीय पट photographic plates आविष्कृत हुए हैं जो इन किरणों से प्रभावित होते हैं और जिनके द्वारा अन्धकार में भी भाचित्र photographs लिए जा सकते हैं। इसी प्रकार अग्नि की गन्ध हमारी नासिका द्वारा लक्षित नहीं होती, किन्तु गन्धवहन प्रक्रिया Tele olefaction phenomenon से यह स्पष्ट है कि और गन्ध भी पुद्गल का (अग्नि का भी) आवश्यक गुण है। एक गन्धवाहक यन्त्र Tell olefactory cell का भी आविष्कार हुआ है जो गन्ध को लक्षित भी करता है। यह। यन्त्र मनुष्य की नासिका की अपेक्षा बहुत अधिक सग्रहप



sensitive होता है और १०० गज दूरस्थ अग्नि को लक्षित करता है। इसकी सहायता से फूलों आदि की गन्ध एक स्थान से ६५ मील दूर दूसरे स्थान को तार द्वारा या विना तार के ही प्रेषित की जा सकती है। स्वयंचालित अग्नि शमक Automatic fire control भी इससे चालित होता है। इससे स्पष्ट है कि अग्नि आदि बहुत से पुद्गलों की गन्ध हमारी नासिका द्वारा लक्षित नहीं होती किन्तु और अधिक सद्दृश sensitive यन्त्रों से वह लक्षित हो सकती है।

पुद्गल की उपर्युक्त परिभाषा के विषय में एक प्रश्न और भी उपस्थित हो सकता है। वह यह है कि जैन सिद्धान्तकारों ने वर्ण को पांच ही प्रकार का क्यों माना जब कि सूर्य के वर्ण पट Solar spectrum में सात वर्ण होते हैं। प्राकृतिक व अप्राकृतिक वर्ण Natural & pigmentary colours बहुत से होते हैं। इसका उत्तर यह है कि वर्ण से उनका तात्पर्य वर्ण पट के वर्णों अथवा अन्य वर्णों से नहीं है, प्रत्युत् पुद्गल के उस मूल गुण Fundamental property से है जिसका प्रभाव हमारी आंख की पुतली पर लक्षित होता है और हमारे मस्तिष्क में रक्त, पीत, कृष्ण आदि आभास कराता है। औप्टिकल सोसायटी औफ अमेरिका Optical Society of America ने वर्ण की निम्नलिखित परिभाषा दी है— वर्ण एक व्यापक शब्द है जो आंख के कृष्ण पटल पर Retina और उससे सम्बन्धित शिराओं की क्रिया से उद्भूत आभास को सूचित करता है। रक्त, पीत, नील, श्वेत, कृष्ण इसके उदाहरण स्वरूप प्रस्तुत किए जा सकते हैं।*

पंच वर्णों का सिद्धान्त इस प्रकार समझाया जा सकता है। यदि किसी वस्तु का ताप बढ़ाया जाय तो सर्वप्रथम उसमें से अदृश्य dark ताप किरणें निस्सरित emitted होती हैं, उसके अनन्तर वह रक्त किरणें छोड़ती हैं और अधिक ताप बढ़ाने से वह पीत वर्ण किरणें छोड़ती हैं और फिर उससे श्वेत वर्ण किरणें निस्सरित होती हैं। यदि उसका ताप और अधिक बढ़ाया जाय तो नील रंग की किरणें भी उद्भूत हो सकती हैं। श्री मेघनाद शाह और बी० एन० श्रीवास्तव ने अपनी पुस्तक में लिखा है कि कुछ तारे नीलश्वेत रश्मियां छोड़ते हैं। इससे स्पष्ट है कि उनका तापमान बहुत अधिक है। तात्पर्य यह कि पांच वर्ण ऐसे

---

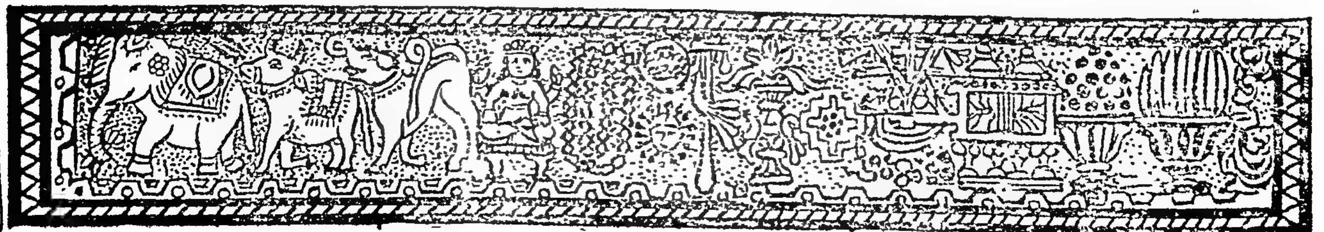
* "Colour is the general term for all sensations arising from the activity of retina and its attached nervous mechanisms. It may be exemplified by the enumeration of characteristic instances such as red, yellow, blue, black and white..."

—Cosmology old & New से उद्धृत

× For previous Page—Some of the stars shine with bluish white light which indicates that there been part uses.

Must be very high.

—M. N. Saha & B. N. Srivastava Treatisean Heat.



प्राकृतिक वर्ण हैं जो किसी भी पुद्गल से विभिन्न तापमानों Temperatures पर उद्भूत हो सकते हैं और इसलिए यह पुद्गल के मूल गुण (Fundamental properties) हैं। वैसे जैन विचारकों ने वर्ण के अनन्त भेद माने हैं। हम वर्ण पट के वर्णों में Spectral colours देखते हैं कि यदि रक्त से लेकर कासनी Violet तक तरंग प्रमाणों Wave lengths की विभिन्न अवस्थितियों Stages की दृष्टि से विचार किया जाय तो इनके अनन्त होने के कारण वर्ण भी अनन्त प्रकार के सिद्ध होंगे; क्योंकि एक प्रकाश तरंग Light wave दूसरी प्रकाश तरंग से प्रमाण Length में यदि अनन्तवें भाग Infinitesimal amount भी न्यूनाधिक होती है तो वे तरंगें दो विसदृश वर्णों को सूचित करती है। इस प्रकार जैन दार्शनिकों की पुद्गल परिभाषा तर्क व विज्ञानसम्मत सिद्ध होती है।

जैन सिद्धान्त सब पुद्गलों को परमाणुओं से निर्मित मानता है। यह परमाणु बहुत सूक्ष्म है, अविभाज्य है। इन्हें पुद्गल के अविभाग प्रतिच्छेद भी कहा जाता है। परमाणु का लक्षण उसके विशिष्ट गुण Characterstics इस प्रकार परिणित किए जा सकते हैं।०

१—सभी पुद्गल स्कन्ध परमाणुओं से निर्मित हैं और परमाणु पुद्गल के सूक्ष्मतम अंश हैं।

२—परमाणु नित्य, अविनाशी और सूक्ष्म हैं। वह दृष्टि द्वारा लक्षित नहीं हो सकते।

३—परमाणु में कोई एक रस, एक गन्ध, एक वर्ण और दो स्पर्श—स्निग्ध अथवा रूक्ष, शीत अथवा उष्ण—होते हैं।

४—परमाणु के अस्तित्व का अनुमान उससे निर्मित पुद्गल स्कन्धरूप कार्य से लगाया जा सकता है।

सामान्यत: पुद्गल स्कन्धों-परमाणु संघातों में चार स्पर्श होते हैं। स्निग्ध, रूक्ष में से एक शीत, उष्ण में से एक, मृदु कठोर में से एक, लघु गुरु में से एक, किन्तु परमाणु के सूक्ष्मतम अंश होने के कारण मृदु, कठोर, लघु, गुरु का प्रश्न नहीं उठता है इसलिए उनमें से केवल दो स्पर्श माने गए हैं।

जैन सिद्धान्त में परमाणुओं के व स्कन्धों के वन्ध से स्कन्ध बनने के भी निश्चित और सुसम्वद्ध नियम हैं। वे इस प्रकार हैं—

* १—पुद्गल स्कन्ध भेद, संघात और भेद संघात इन तीन प्रक्रियाओं द्वारा उत्पन्न होते हैं। भेद का अर्थ स्कन्धों का विघटन है। इस प्रक्रिया में एक स्कन्ध में से कुछ परमाणु विच्छिन्न होकर दूसरे स्कन्धों से मिल जाते हैं। संघात का अर्थ स्कन्धों का संयोजन-मिलना—है। भेद संघात का अर्थ इन दोनों प्रक्रियाओं का एक साथ होना है।

२—अणु की उत्पत्ति केवल भेद-प्रक्रिया से ही हो सकती है।

३—पुद्गल में स्निग्ध और रूक्ष दो प्रकार के गुण होते

० कारणमेव तदन्त्यो नित्य: सूक्ष्मो भवेत्परमाणु:।
एक रस गन्ध वर्णो, द्विस्पर्श: कार्य लिंगश्च॥
—स्वामी अकलंकदेव-तत्वार्थ राजवार्तिक: अध्याय ५, सूत्र २५

* भेदसंघातेभ्य: उत्पद्यन्ते भेदादणु:। स्निग्धरूक्षत्वाद् वन्ध:, न जघन्यगुणानाम् गुणसाम्येसदृशानाम्, द्व्यधिकादि गुणानाम् तु वन्धेऽधिकौपारणामिकौच।
—आचार्य उमास्वाति-तत्वार्थसूत्र, अध्याय ५



हैं। इन गुणों के कारण ही बन्ध होता है। कुछ स्निग्ध गुण वाले परमाणु का दूसरे रूक्ष गुण वाले परमाणु से बन्ध हो सकता है अथवा स्निग्ध गुण वाले परमाणुओं का परस्पर बन्ध भी सम्भव है और इसी प्रकार रूक्ष गुण वालों का भी।

४—केवल एकांक-जघन्य Unit स्निग्ध अथवा रूक्ष गुण वाले परमाणु का बन्ध नहीं होता अर्थात् जो परमाणु सर्वजघन्य शक्तिस्तर Least energy level पर होते हैं उनका बन्ध नहीं होता।

५—साथ ही जो परमाणु अथवा स्कन्ध सम शक्ति स्तर Same energy level पर होते हैं अर्थात् जिनमें स्निग्ध अथवा रूक्ष गुणों की संख्या समान होती है उनका बन्ध नहीं होता।

६—केवल उन्हीं परमाणुओं व स्कन्धों का बन्ध सम्भव है जिनमें स्निग्ध और रूक्ष गुणों की संख्या में दो एकांकों Units का अन्तर होताहै। जैसे ४ स्निग्ध गुणयुक्त परमाणु अथवा स्कन्ध का ६ स्निग्ध गुण युक्त परमाणु व स्कन्ध से बन्ध हो सकता है। अथवा ६ रूक्षगुण युक्त परमाणु के साथ बन्ध सम्भव है।

७—बन्ध की प्रक्रिया में संघात से उत्पन्न स्कन्ध में स्निग्ध और रूक्ष में से जो भी गुण अधिक संख्या में होते हैं नवीन स्कन्ध उसी गुण रूप होता है। जैसे एक स्कन्ध १५ स्निग्ध गुण युक्त स्कन्ध और १३ रूक्ष गुण युक्त स्कन्ध से बना तो नवीन स्कन्ध स्निग्ध रूप होगा। आधुनिक विज्ञान के क्षेत्र में भी हम देखते हैं कि यदि किसी अणु Atom में से एक ऋणाणु-विद्युदणु Electron निकाल दिया जाय तो वह उद्युत प्रभूत Positively charged और यदि एक विद्युदणु जोड़ दिया जाय तो वह निद्युत्प्रभूत Negatively charged हो जाता है।

यह नियम प्रयोगसिद्ध सत्य है अथवा नहीं, यह नहीं कहा जा सकता; किन्तु यह बहुत महत्वपूर्ण बात है कि जैन विचारकों का ध्यान इस प्रकार के सूक्ष्म अणुओं के बन्ध सम्बन्धी नियम प्रस्तुत करने की ओर आकृष्ट हुआ।

जैनाचार्यों ने पुद्गल द्रव्यों का वर्गीकरण भी बड़ी वैज्ञानिकता से किया है। उन्होंने सामान्यतः पुद्गल को दो वर्गों में विभक्त किया है—अणु और स्कन्ध*।—अणु अथवा परमाणु की परिभाषा लिखी जा चुकी है। स्कन्ध अणुओं के संघात को कहते हैं। स्कन्धों के ६ वर्ग किए गए हैं—

१—स्थूल स्थूल-इस वर्ग में ठोस पदार्थों को रखा गया है जैसे लकड़ी, पत्थर, धातुएं आदि।

२—स्थूल-इसमें द्रव पदार्थ सम्मिलित हैं जैसे जल, तेल, आदि।

३—स्थूल सूक्ष्म—इसमें प्रकाश ऊर्जा Energy या शक्ति को रखा गया है जैसे प्रकाश, छाया, तम आदि।

४—सूक्ष्म स्थूल—इसमें वातिएं Gases परिगणित हैं—उद्जन, जारक, आदि; साथ ही ध्वनि ऊर्जा Sound Energy आदि अदृश्य ऊर्जाएं भी सम्मिलित हैं। इस वर्गीकरण में ऊर्जा के अनन्तर वातियों Gases को रखा गया है। भार की दृष्टि से वातिएं ऊर्जा की अपेक्षा अधिक स्थूल Denser हैं किन्तु वर्गीकरण का आधार घनत्व Density नहीं दृष्टिगोचर होना न होना है। प्रकाश, विद्युत आदि ऊर्जाएं आंखों से देखी जा सकती हैं और वातिएं नहीं।

---

* अणवःस्कन्धाश्च। —आचार्य उमास्वाति-तत्वार्थसूत्र अध्याय ५



इस प्रकार अदृश्य और दृश्य की दृष्टि से इनका वर्गीकरण किया गया है।

जो चक्षु के विषय हैं वे स्थूल सूक्ष्म में भेद जो शेष स्वक्तृति, रसना, घ्राण, श्रोत्र के विषय हैं और वे सूक्ष्म-सूक्ष्म वर्ग में परिगणित हैं।

५—सूक्ष्म—इस वर्ग में और भी अधिक सूक्ष्म स्कन्ध आते हैं जो हमारी विचार क्रिया जैसी क्रियाओं के लिए अनिवार्य हैं। हमारे विचारों और भावों का प्रभाव इन पर पडता है और इनका प्रभाव अन्य पुद्‌गलों और हमारी आत्मा पर पड़ता है। इन्हें कर्म वर्गणा कहा जाता है।

६—सूक्ष्म सूक्ष्म—इस वर्ग में अत्यधिक सूक्ष्म अणु जैसे विद्युदणु Electron, उदुदणु Positron उद्युत्कण Proton आदि सम्मिलित हैं।*

पुद्‌गल के इस वर्गीकरण में प्रकृति और ऊर्जा Matter & Energy दोनों ही सम्मिलित हैं क्योंकि पुद्‌गल की परिभाषा के अनुसार ऊर्जा भी पौद्‌गलिक सिद्ध होती है। उर्जा में भी स्पर्श, रस, गन्ध वर्ण गुण होते हैं प्रकाश जो ऊर्जा का ही एक पर्याय है, पौद्‌गलिक है, क्योंकि उसमें रूप होता है और जैन धर्म इस सिद्धान्त के अनुसार कि जिस वस्तु में स्पर्श, रस, गन्ध, वर्ण में से कोई गुण होता है, उसमें प्रकट-अप्रकट रूप से तीन गुण भी अवश्य होने चाहिए। प्रकाश में स्पर्श, रस व गन्ध गुण भी सिद्ध होते हैं, यद्यपि वे इतने सूक्ष्म हैं कि हमारी स्पर्शेन्द्रिय, रसनेन्द्रिय व घ्राणेन्द्रिय उन्हें लक्षित नहीं कर पाती। अभी तक वैज्ञानिक लोग ऊर्जा Energy को पौद्‌गलिक नहीं मानते थे। परन्तु सापेक्षवाद के सिद्धान्त Theory of Relativity और विद्युदणु सिद्धान्त Electronic theory के अनुसन्धान के बाद यह सिद्ध हो गया है कि विद्युदणु Electron जो पुद्‌गल का सार्वभौम अनिवार्य तत्व है Universal constituent of matter है, वह एक विद्युत्कण है और इस प्रकार यह सर्वसम्मत है कि प्रकृति और ऊर्जा Matter & Energy एक ही हैं। मात्रा Mass और ऊर्जा के बीच सम्बन्ध भी निम्न समीकरण से स्पष्ट है—

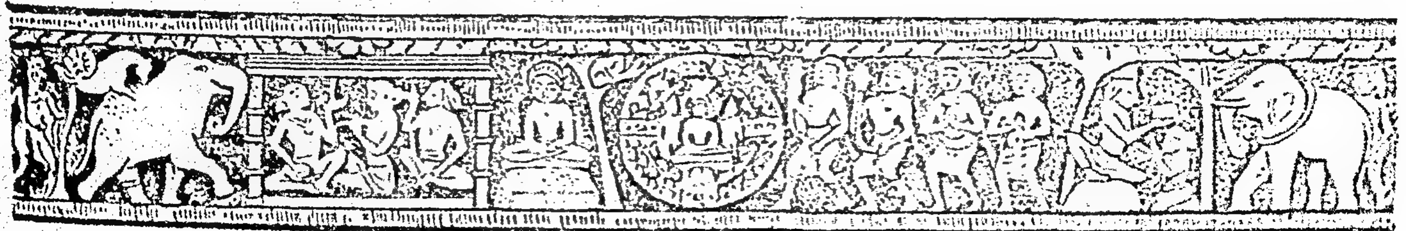
ऊर्जा-मात्रा-प्रकाश की गति *

रैस्टलैस यूनिवर्स Restless Universe के लेखक मैक्सबार्न Maxborn महोदय ने लिखा है कि सापेक्षवाद के सिद्धान्त के अनुसार मात्रा अर्थात् प्रकृति Matter व ऊर्जा Energy अनिवार्य रूप से एक ही हैं। एक ही वस्तु के दो रूपान्तर हैं। मात्रा (Mass) ऊर्जा (Energy) और ऊर्जा मात्रा के रूप में रूपान्तरित भी हो सकती है।* इससे यह स्पष्ट है कि जैन दर्शन और दार्श-

---

* अतिस्थूला: स्थूला: स्थूलसूक्ष्माश्च सूक्ष्मस्थूलाश्च।
सूक्ष्मा: अति सूक्ष्मा: इति धरादयो भवन्तिषड्भेदा:॥
भूपर्वताद्या भणिता अतिस्थूलस्थूला इति स्कन्धा:।
स्थूला इति विज्ञेयो: सर्पिर्जलतैलाद्या:॥
छाया तपाद्या: स्थूलेतर स्कन्धाइति विजानीहि।
सूक्ष्म स्थूला इति भणिता: स्कन्धाश्चतुरक्षविषयाश्च॥
सूक्ष्मा भवति स्कन्ध प्रयोज्ञा: कर्म वर्गणस्य पुन:।
तद्विपरीता: स्कन्धा अति सूक्ष्मा इति प्ररूपयन्ति॥
—आचार्य कुन्दकुन्द—नियमासार

* According to this theory (Theory of Relativity) mass and energy are essentially the same.



निकों का प्रकृति और ऊर्जा Matter & Energy दोनों को पुद्गल का पर्याय Modifications मानने का सिद्धान्त युक्तिसंगत, तथ्यपूर्ण व विज्ञानसम्मत है।

जैन दार्शनिकों ने छाया, तम, शब्द को भी पुद्गल की पर्यायों में परिगणित किया है।*

साधारणतः विचारकों ने तम को प्रकाश का अभाव मान लिया है, किन्तु जैन दर्शनकारों ने तम का लक्षण दृष्टि प्रतिबन्धकारण व प्रकाश विरोधी इस प्रकार किया है।× तम, प्रकाश का प्रतिपक्षी antithesis है और वस्तुओं की अदृश्यता का कारण है। तम में वस्तुएं दिखाई नहीं देतीं। आधुनिक विज्ञान भी तम को अभावात्मक अर्थात् प्रकाश के अभाव रूप नहीं मानता। जैसा कि ऊपर संकेत किया गया है कि तम darkness में भी उपरोक्त ताप किरणें Infraredheat rays होती है जिनसे उल्लू व बिल्ली की आंखें व भावचित्रपट photographic plates प्रभावित होते हैं। इस प्रकार तम का दृश्य प्रकाश से एक भिन्न अस्तित्व है। वह प्रकाश का अभाव रूप नहीं है।

छाया को भी जैन धर्म पुद्गल की ही पर्याय मानता है। विज्ञान की दृष्टि में अण्वीक्षों lenses और दर्पणों mirrors के द्वारा निर्मित प्रतिबिम्ब Image दो प्रकार के होते हैं—वास्तविक Real और अवास्तविक virtual। इनके निर्माण की प्रक्रिया से स्पष्ट है कि यह उर्जा के ही रूपान्तर manifestation हैं। ऊर्जा ही छाया shadow एवं वास्तविक और अवास्तविक प्रतिबिम्ब images के रूप में लक्षित होती है। व्यतिकरण पट्टियों Interference bands पर यदि एक गणना यन्त्र counting machine चलाया जाय और प्रकाश वैद्युतरीति से photo electrically निस्सरित विद्युदणुओं की गणना की जाय तो अदीप्त पट्टी dark band में से विद्युदणु निकलते हैं यह सिद्ध होता है।

काली पट्टी प्रकाश के अभाव रूप नहीं है, उसमें भी ऊर्जा होती है, इसी कारण विद्युदणु निकलते हैं। तात्पर्य यह है कि छाया shadow भी ऊर्जा का ही एक रूपान्तर है।

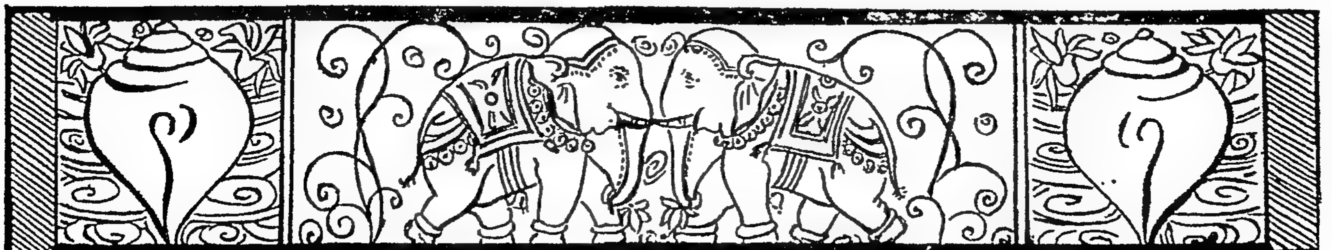
जैन शास्त्रों में छाया shadow & images के बनने की प्रक्रिया का भी सम्यक रूप से निर्देश किया गया है। छाया प्रकाश के आवरण के निमित्त (कारण) से होती है।+ आवरण obstruction—अवरोधक का एक अर्थ अपारदर्शक कायों opeque bodies का प्रकाश पथ में आ जाना है। इस प्रकार की छाया को अंग्रेजी में शैडो Shadow कहते हैं। यह तम के अन्तर्गत आ जायगी और इस प्रकार यह प्रकाशाभावात्मक नहीं है, अपितु पौद्ग-

—Max Born (Restless Universe)

* सद्दो बन्धो सुहमो थूलोसंठाण भेद तमछाया।
उज्जोदादवसय्या पुग्गल दव्वस्स पज्जाया॥
—आचार्य नेमिचन्द्र सिं० च०-द्रव्यसंग्रह

× तमोदृष्टि प्रतिबन्धकारणं प्रकाश विरोधी।
—आचार्य पूज्यपाद—सर्वार्थसिद्धि

+ छाया प्रकाशावरण निमित्ता, साद्वेधा वर्णादि-विकारपरिणिता प्रतिबिम्बमात्रात्मिका चेति—आचार्य पूज्यपाद—सर्वार्थसिद्धि—अध्याय ५, सूत्र—२४।



लिक सिद्ध होती है। दूसरे प्रकार का आवरण दर्पणों और आवीक्षों lenses का प्रकाश पथ में आना है। इनसे वास्तविक Real और अवास्तविक virtual दो प्रकार के प्रतिबिम्ब images बनते है। यह वर्णादिविकार परिणित प्रतिबिम्बात्मक छाया वास्तविक प्रतिबिम्ब real images है जो विपर्यस्त inverted हो जाते हैं और जिनका प्रमाण size बदल जाता है। यह प्रतिबिम्ब प्रकाश रश्मियों के वस्तुतः मिलने से बनते हैं और स्पष्टतः पौद्गलिक हैं, प्रकाश की ही पर्याय के कारण है। प्रतिबिम्बमात्रात्मिका छाया में अवास्तविक प्रतिबिम्ब virtual images सम्मिलित होंगे जिनमें केवल प्रतिबिम्ब ही रहता है। यह न तो विपर्यस्त दृष्टि से है और न प्रकाश रश्मियों के वस्तुतः Actualy मिलने से ही ये प्रतिबिम्ब बनते हैं। आशय यह है कि छाया का भी सूक्ष्म विवेचन जैन सिद्धान्त में मिलता है।

प्रकाश का वर्गीकरण भी वैज्ञानिक दृष्टि से किया गया है। प्रकाश को दो वर्गों में विभक्त किया गया है—१. आतप और २. उद्योत। आतप सूर्यादि के निमित्त से होने वाले उष्ण प्रकाश को कहते हैं। उद्योत जुगनु, चन्द्रमा आदि के शीत प्रकाश को कहते हैं ×। तात्पर्य यह है कि आतप में ऊर्जा का अधिकांश ताप किरणों के रूप में प्रकट होता है और उद्योत में अधिकांश ऊर्जा energy प्रकाश किरणों के रूप में होती है। इस प्रकार का वर्गीकरण पुरातन विचारकों की सूक्ष्म दृष्टि और भेद शक्ति discriminative power का परिचायक है।

जैन सिद्धान्त में शब्द को भी पौद्गलिक माना है। उसे पुद्गल का रूपान्तर या पर्याय स्वीकार किया गया है। वैशेषिक दर्शन शब्द को आकाश का गुण स्वीकार करता है। किन्तु आधुनिक विज्ञान के प्रयोगों से स्पष्ट है कि शब्द पौद्गलिक है, आकाश का गुण नहीं। शब्द एक स्कन्ध के दूसरे स्कन्ध molecule से टकराने से उद्भूत होता है। यह मत आधुनिक विज्ञान के मत से बहुत अधिक मिलता है ×।

जिस काय body से ध्वनि निकलती है, उस वस्तु में कम्पन होने के कारण कुछ पुद्गल वर्गणाओं में कम्पन होता है जिससे तरंगें उत्पन्न होती हैं। यह तरंगें उत्तरोत्तर पुद्गल वर्गणाओं में कम्पन उत्पन्न करती हैं। इस प्रक्रिया से शब्द एक स्थान से उद्भूत होकर दूसरे स्थान पर सुनाई देता है +।

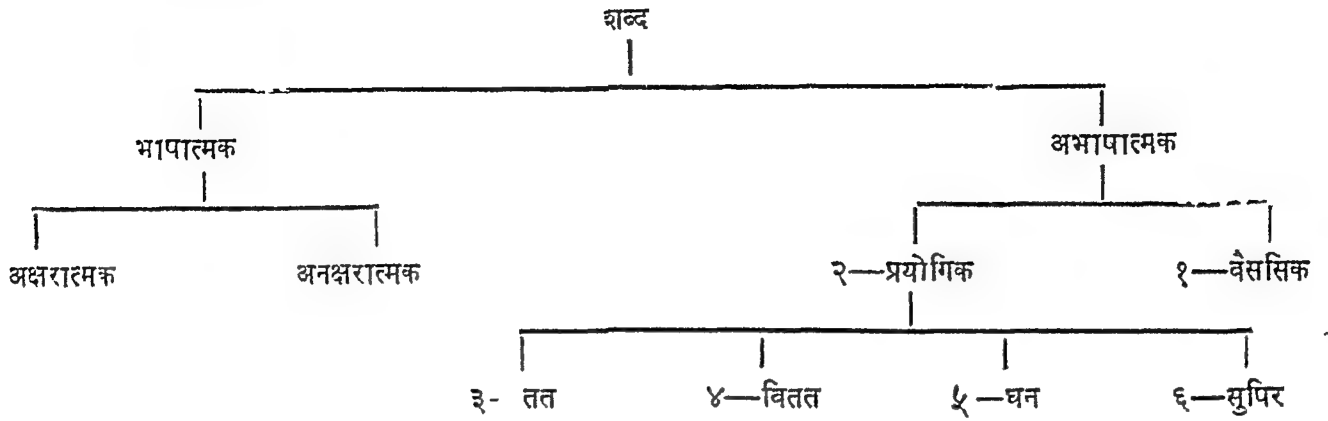
× आतप आदित्यादिनिमित्त उष्ण प्रकाश लक्षणः।
उद्योतश्चन्द्रमणिखद्योतादिः प्रभवः प्रकाशः॥
—आचार्य पूज्यपाद—सर्वार्थसिद्धि—अध्याय ५।

× शब्द स्कन्ध प्रभवः, स्कन्धः परमाणुसंघसंघातः।
स्पृष्टे तेषु जायते, शब्द उत्पादको नियतः॥
—आचार्य कुन्दकुन्द—पंचास्तिकाय।

+ शब्दोद्वेधा भाषालक्षण विपरीत्वात्। भाषात्मक उभयप्याक्षरीकृतेतर विकल्पत्वात्। प्रभाषात्मको द्वेधा प्रयोगविस्रसा निमित्तत्वाद्। तत्र वैसिसको वलाहकादि प्रभवः। प्रयोगः चतुर्धा ततविततघन सौषिर भेदात्।
—स्वामी अकलंकदेव—तत्वार्थराजवार्तिक, अध्याय—५



शब्द का वर्गीकरण इस प्रकार किया गया है :—



१—वैससिक वर्ग में मेघगर्जन जैसे प्राकृतिक प्रक्रियाओं से उद्भूत होने वाले शब्द परिगणित होते हैं।

२—प्रायोगिक वे शब्द हैं जो वाद्ययन्त्रों से उत्पन्न किये जाते है।

३—तत वे शब्द हैं जो चर्म तनन आदि झिल्लियों के कम्पन vibrations of membranes उत्पन्न होते हैं जैसे तबला, भेरी आदि से उत्पन्न शब्द *।

४—वितत वे प्रयोगिक शब्द हैं जो वीणा आदि तन्त्र यन्त्रों Stringed instruments में तन्त्रों के कम्पन Vibrations of strings से उद्भूत होते हैं ×।

५—घन शब्द वे हैं जो ताल, घन्टा आदि घन वस्तुओं के अभिघात से उत्पन्न होते हैं। जिह्वाल यन्त्रों reed instruments से उद्भूत होने वाले शब्द भी इसी वर्ग में सम्मिलित हैं।+

६—सुपिर शब्द वंश, शंख आदि में वायु प्रतर के कम्पन Vibrations of air columns से उद्भूत होते हैं †।

आधुनिक विज्ञान शब्द-ध्वनि sound को दो विभागों में विभक्त करता है—कोलाहल noises और संगीत-ध्वनि musical sound। इनमें कोलाहल वैससिक वर्ग में गर्भित हो जाता है। संगीत ध्वनियों musical sounds का उद्भव चार प्रकार से माना गया है। १—यन्त्रों के कम्पन से vibrations of strings २—तनन के कम्पन से vibrations of membrances ३—दण्ड और पट्टिका के कम्पन से vibration of rods & plates व जिह्वाल reeds के कम्पन से ४—वायु प्रतर के कम्पन से vibration of air columnsसे। यह चारों क्रमशः प्रायोगिक के वितत, तत, घन और सुपरि भेद हैं। इस प्रकार पुद्गल और उसके रूपान्तरों (modifications

* चर्मतनन निमित्तः पुष्करभेरादर्दुरादि प्रभवस्ततः।

× तन्त्रीकृत वीणासुघोषादि समुद्भवो विततः।

+ ताल घन्टा लाल नाद्यभिघातजो घनः।

† वंशशंखादिनिमित्तः सौपिरः।

—आचार्य पूज्यपाद—सर्वार्थसिद्धि, अध्याय -५ सूत्र-२४



था पर्यायों) से सम्वद्ध सिद्धान्त जैन विचारकों की सूक्ष्म वैज्ञानिक दृष्टि के प्रतिफल प्रतीत होते हैं।

पुद्‌गल के पूर्वलिखित वर्गीकरण में सूक्ष्म-सूक्ष्म नामक छठे वर्ग में दो परमाणुओं के वन्ध से वने स्कन्ध तक सम्मिलित हो सकते हैं, परमाणु नहीं। इस वर्ग में विद्युदणु electron उद्द्यु‌दणु positron उद्यु‌त्कण proton विद्यु‌त्कण ueutron आदि सम्मिलित हैं, क्योंकि जैन सिद्धान्त के अनुसार यह पुद्‌गल के परमाणु अविभाग प्रतिच्छेद ultimate particles नहीं हैं कारण कि जैन दार्शनिकों का मत है कि परमाणु स्कन्ध रूप अवस्था में ही कार्यकारी होता है। यह कण कार्यशील है, इसलिए स्कन्ध ही हैं, परमाणु नहीं। स्कन्धों के इस वर्गीकरण में विद्यु‌त्कण negatrons भी रखे जायेंगे जिनके अस्तित्व की सम्भावना मैक्सवार्न महोदय ने अपनी पुस्तक रेस्टलेस यूनिवर्स में पृष्ठ २६६ पर इन शब्दों में प्रकट की है :—

सम्भवतः विद्यु‌त्कणों negatrons का भी अस्तित्व है। यद्यपि अभी तक कोई उनके अनुसंधान में सफल नहीं हुआ है और सम्भवतः विश्व में ऐसे भाग होंगे जहां कि वे अधिक संख्या में हैं। वहां उद्यु‌दणु positrons विद्यु‌त्प्रभृत न्यष्टियों negatively charged nucleus के चारों ओर चक्कर लगाते होंगे (जैसे कि हमारी पृथ्वी की प्रकृति matter में उद्‌भूत न्यष्टियों (positively charged nucleus) के चारों ओर विद्यु‌दणु electrons चक्कर लगाते हैं। इस प्रकार की प्रकृति और हमारी पृथ्वी की प्रकृति में वहुत अधिक अन्तर नहीं होगा +।

सारांश यह है कि कुछ विद्यु‌दणुओं के और उद्यु‌दणुओं के संघात combi nation से निर्मित एक विद्यु‌त्कण negatron के मिलने की सम्भावना है। इस प्रकार उद्यु‌त्कण proton भी उद्यु‌दणुओं positron और विद्यु‌दणुओं electrons के संघात से निर्मित प्रतीत होता है।

विद्यु‌त्कण neutron सम संख्या में विद्यु‌दणुओं और उद्यु‌दणुओं के मिलने से वना हुआ स्कन्ध प्रतीत होता है। रेस्टलेस युनिवर्स में दूसरे प्रकार से इस की सम्भावना प्रकट की गई है। उद्यु‌त्कण proton + विद्यु‌दणु electron =निद्यु‌त्कर neutron। निद्यु‌त्कण + उद्यु‌दणु=उद्यु‌त्कण। इस प्रकार केवल उद्यु‌दणु और विद्यु‌दणु ही पुद्‌गल के अविभाग प्रतिच्छेद Ultinate particles प्रतीत होते हैं।

जैन दार्शनिकों के पुद्‌गल और परमाणु सिद्धान्त के विषय में सवसे अधिक महत्वपूर्ण वात यह है कि उन्होंने अन्य भारतीय दर्शनों से विपरीत पुद्‌गल matter & energy को एक ही प्रकार का माना है। सव पुद्‌गलों की

+ Perhaps negative protons (negatrons) also exist, no one has succeeded in finding then yet. And perhaps there are regions in the universe where they are in excess. These positive electrons (positrons) circulate round negative nuclei matter of that kind, would not greatly, differ from our matter.

—Restless Universe (Max Born) Page—266.



आन्तरिक रचना में कोई भेद स्वीकार नहीं किया, अपितु उनको एक ही प्रकार के तत्व—परमाणु—स्निग्ध अथवा रूक्ष में से कोई एक गुण युक्त—से निर्मित स्वीकार किया। पृथ्वी, अप, तेज, वायु, स्वर्ण, पारद आदि को एक ही पुद्‌गल के रूपान्तर (पर्याय या modifications) स्वीकार किया। आचार्य उमास्वाति जो ईसा के प्रथम शती के लगभग हुए थे, उन्होंने तत्वार्थसूत्र में कहा है—पुद्‌गल स्कन्ध किसी बड़े स्कन्ध के टूटने से—भेद से—अथवा छोटे-छोटे स्कन्धों के संघात से उत्पन्न होते हैं। इस संघात combination के मूल कारण परमाणुओं के स्निग्ध रूक्ष गुण हैं। ❀ तात्पर्य यह कि जगत् में जितने भी भिन्न प्रकार के पुद्‌गल सीस, सुवर्ण, गन्धक आदि दृष्टि में आते हैं, अथवा अन्य किसी इन्द्रिय से गृहीत होते हैं—वे सब स्निग्ध और रूक्ष गुणों से युक्त परमाणुओं के बन्ध से उत्पन्न होते हैं और उनके रचना-तत्व एक ही होने के कारण सब पुद्‌गल एक ही प्रकार के हैं। प्रकृति Matter की विद्युदणु सम्बन्धी रचना Electronic structure के अनुसन्धान के पूर्व वैज्ञानिक पुद्‌गल को भिन्न-भिन्न प्रकार का मानते थे। एक तत्व Elements की प्रकृति Matter को दूसरे तत्व की प्रकृति से भिन्न प्रकार की मानते थे किन्तु विद्युदणु सिद्धान्त के अनुसन्धान से यह सिद्ध हो गया है कि सभी तत्वों की प्रकृति एक ही प्रकार की है। वैज्ञानिक अवसव प्रकृति Matter को विद्युदणु और उद्यदणु से निर्मित स्वीकार करते हैं। इससे पुद्‌गलों का आधारभूत तत्व एक ही है, जैन धर्म का यह सिद्धान्त-विचार और तथ्यपूर्ण सिद्ध होता है।

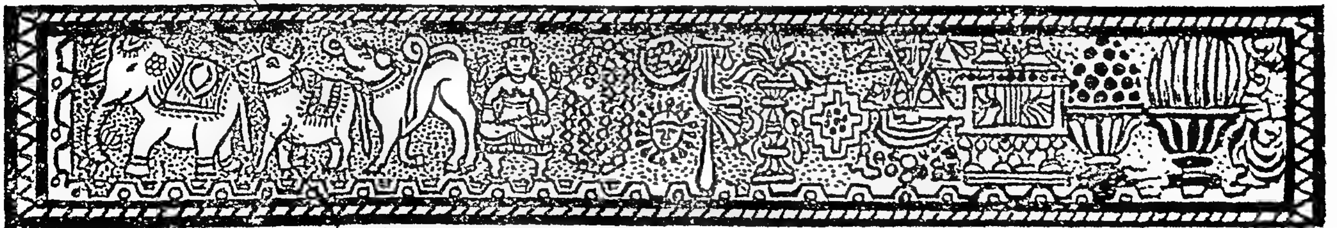
इतना ही नहीं, पुद्‌गल की वैद्युदिक अन्तःरचना Electronic structure की ओर भी जैन विचारकों की दृष्टि गई है और पुद्‌गल परमाणु में रहने वाले स्निग्ध और रूक्ष गुणों से उनका तात्पर्य विद्युत् और उद्युत् प्रभार Negative and positive charges of electricity से ही रहा है। ईसा की छठी शताब्दी में प्रणीत आचार्य पूज्यपाद की सर्वार्थसिद्धि में लिखा है - विद्युत् और मेघगर्जन स्निग्ध और रूक्ष गुणों के निमित्त—कारण-से होते हैं।* आधुनिक विज्ञान भी यह स्वीकार करता है कि धन और ऋण विद्युत (अथवा विद्युत् और उद्युत् प्रभार) के विसर्जन (मोचन Discharge) से विद्युत और मेघ गर्जन होते हैं। इससे स्पष्ट है कि स्निग्ध और रूक्ष गुण शब्दों का प्रयोग उद्युत् और विद्युत् प्रभार के ही अर्थ में हुआ है।

कई वैज्ञानिकों का अनुमान है कि आविष्कृत विद्युदणु Electron उद्युदणु Positron निद्युत्कण Neutron उद्युत्कण Proton आदि में से केवल विद्युदणु और उद्युदणु एवं विद्युत्कण Neutron और उद्युत्कण Proton में से कोई एक पुद्‌गल के अविभाग प्रतिच्छेद Ultimate particles प्रतीत होते हैं †।

❀ भेदसंघातेभ्य उत्पद्यन्ते। स्निग्धरूक्षत्वाद्‌बन्धः।
—आचार्य उमास्वाति—तत्वार्थसूत्र, अध्याय-५, सूत्र-२६-३३

* स्निग्धरूक्षगुणनिमित्तो विद्युदुल्काजलधाराग्नीन्द्रधनुरादि विपय: वैससिक शब्द:।
—आचार्य पूज्यपाद-सर्वार्थसिद्धि, अध्याय-५, सूत्र २४

† The existance of the first four (Electron, positron, proton, neutron)



जैन सिद्धान्त की दृष्टि से विद्युदणु और उद्युदणु भी स्निग्ध और रूक्ष गुण स्कन्धों के संघात से उत्पन्न स्कन्ध हैं। इसका आशय यह नहीं कि विद्युदणु और उद्युदणु क्रमशः केवल रूक्ष और केवल स्निग्ध गुणों से युक्त स्कन्धों के बन्ध से निर्मित हैं। अपितु इसका तात्पर्य यह है कि उद्युदणु स्निग्ध और रूक्ष दोनों प्रकार के गुणों से युक्त स्कन्ध हैं और इसी प्रकार विद्युदणु भी; किन्तु उद्युदणु में दो स्निग्ध गुण अधिक होते हैं और विद्युदणु में दो रूक्ष गुण अधिक होते हैं। इनमें बन्ध की प्रक्रिया इस प्रकार से समझाई जा सकती है—'क्ष', रूक्ष गुण वाला स्कन्ध (क्ष+२) रूक्ष गुण स्कन्ध से संघटित हुआ। इस प्रकार (२क्ष+२) रूक्ष गुण वाला स्कन्ध बन गया। (क्ष+१) स्निग्ध गुण युक्त स्कन्ध और (क्ष-१) स्निग्ध गुण वाले स्कन्ध के संघात से रूक्ष गुणवाला एक स्निग्ध स्कन्ध बना। (२क्ष + २) रूक्ष स्कन्ध से २क्ष स्निग्ध स्कन्ध संघटित हो गया। इस प्रकार दो एकांक रूक्ष गुण two absolute units of negative charge युक्त स्कन्ध विद्युदणु Electron निर्मित हो गया। यह स्निग्ध और रूक्ष स्कन्धों के बन्ध का उदाहरण है। न्यष्टि Nucleus में रहने वाले उद्युत्कण Protons स्निग्ध स्कन्धों के परस्पर बन्धके उदाहरण हैं।

बन्ध के पूर्वोल्लिखित नियमों में से एक यह है कि केवल दो एकांक Absolute units स्निग्ध अथवा रूक्ष गुणों का अन्तर होने पर ही स्कन्धों का बन्ध होता है। इस प्रकार बन्ध हो जाने पर स्निग्ध अथवा रूक्ष गुणों में से जिनकी संख्या दो एकांक अधिक होती है, नवीन स्कन्ध भी उसी के अनुरूप होता है। तात्पर्य यह है कि जितने भी स्कन्ध बनेंगे उनमें केवल दो एकांक गुणों का अन्तर होगा। आधुनिक शब्दावलि में उनमें केवल दो एकांक प्रभार Two absolute units of charge होता है। इन गुणों का एकांक इन गुणों का वह सूक्ष्मतम अंश है जिसके दो भाग नहीं किये जा सकते। इस दृष्टि से विद्युदणु, उद्युदणु, उद्युत्कण आदि में केवल दो एकांक प्रभार होना चाहिए क्योंकि वह सब ऐसे स्कन्धों से निर्मित है जिनमें स्निग्ध और रूक्ष गुणों की संख्या का अन्तर दो एकांक रहा है। इसके अनुसार इन सबमें सम मात्रा में प्रभार होना चाहिए। हम देखते हैं कि आधुनिक अनुसन्धान से यह बात सम्मत है। यद्यपि विद्युदणु Electron और उद्युत्कण Proton में मात्रा Mass का अन्तर है—(उद्युत्कण विद्युदणु से १८५० गुणित भारी है) फिर भी प्रभार की मात्रा Amount of charge समान होती है। इससे जैन धर्म का उपर्युक्त सिद्धान्त तथ्यपूर्ण सिद्ध होता है।

उपर्युक्त नियमों में विसदृश (स्निग्ध रूक्ष गुण वाले)

---

is firmly established, two light ones, (the electron and the positron) and the two heavy ones, proton and neutron. These are too many for it is likely that combination of

* a proton and a electron } will give { a neutran
a neutron and a positron } will give { a proton

Either neutron or proton must be composite—Max Born (Restless universe) Pase 266.



अणुओं के बन्ध के विषय में दो मत हैं। एक मत के अनुसार स्निग्ध और रूक्ष गुणों की सम संख्या वाले विसदृश अणुओं का भी बन्ध नहीं होता। बन्ध के लिए दो एकांकों का अन्तर होना अनिवार्य है, चाहे स्कन्ध सदृश (एक ही प्रकार के गुण युक्त) हों अथवा विसदृश (भिन्न प्रकार के गुण युक्त)। दूसरे मत के अनुसार सदृश गुण युक्त परमाणु या स्कन्धों का बन्ध तो संख्या में दो का अन्तर होने पर ही होता है, किन्तु विसदृश गुण युक्त परमाणुओं या स्कन्धों का बन्ध गुणों की संख्या में दो का अन्तर होने पर अथवा गुणों की संख्या समान होने पर हो सकता है। निद्युदणु Ncutrins और निद्युत्कण Neutron जिनमें विद्युत् और उद्युत् प्रभार Negative and Positive charges समान होते हैं, इनके निर्माण को प्रक्रिया दूसरे मत के आधार से ही समझाई जा सकती है।

पुद्गल की आन्तरिक रचना के विषय में जैन सिद्धान्त-कारों के एक और विचार की ओर हमारा ध्यान आकृष्ट होता है। एक स्थल पर आचार्य नेमिचन्द्र सिद्धान्त चक्रवर्ती ने लिखा है कि पुद्गल द्रव्य-स्कन्ध (आधुनिक अणु Atom) में अणु समूह और वातियों Gasses आदि पुद्गलों में व्यूहाणु Molecules चलित-क्रियाशील होते हैं*। यह आधुनिक प्रवैगिकीय सिद्धान्त Dyanamic theory और विद्युदणु सिद्धान्त Electronic theory की ओर संकेत है। पुद्गल की इस क्रिया का भी वर्गीकरण किया गया है। क्रिया दो प्रकार की मानी गई है—१—विस्रसा क्रिया, २—प्रयोग निमित्ता क्रिया+। विस्रसा क्रिया प्राकृतिक होती है बिना किसी बाह्य निमित्त कारण से। इस प्रकार की क्रिया न्यष्टि Nucleus के चारों ओर विद्युदणुओं की होती है। वातियों में व्यूहाणुओं Molecules की क्रिया भी विस्रसा मानी जा सकती है। प्रयोग निमित्ता क्रिया बाह्य शक्ति व कारणों से उत्पन्न होती है।

परमाणु और स्कन्ध के बन्ध, बन्ध के नियम सम्बन्धी प्रकरण में यह उल्लिखित है कि भेद, संघात और भेद संघात इन तीन प्रक्रियाओं से पुद्गल स्कन्ध उत्पन्न होते हैं। भेद का अर्थ यह है कि स्कन्ध में से कुछ परमाणु विघटित हो जाते हैं और दूसरे स्कन्ध में मिल जाते हैं। संघात की प्रक्रिया में एक स्कन्ध के कुछ अणु दूसरे स्कन्ध के कुछ अणुओं के साथ संघटित हो जाते है और इस प्रकार के अणु दोनों स्कन्धों से समान रूप से सम्बद्ध रहते हैं। भेद संघात का अर्थ भेद और संघात इन दोनों प्रक्रियाओं का एक साथ होना है। इस प्रक्रिया (भेद संघात) में एक स्कन्ध के कुछ अणु दूसरे स्कन्ध से मिलकर दोनों स्कन्धों से समान रूप से संबद्ध रहते हैं। संघात और भेद संघात में अन्तर यह है कि संघात में संघटित होकर समान रूप से दोनों स्कन्धों से सम्बद्ध रहने वाले अणु किसी भी स्कन्ध—(आधुनिक अणु Atom) से विच्छिन्न नहीं होते (भेद प्रक्रिया नहीं होती है)। किन्तु भेद संघात में एक ही स्कन्ध के अणु विघटित होकर संघटित रूप से दोनों स्कन्धों से सम्बद्ध हो जाते हैं।

*पोग्गल दव्वम्हि अणू संखेज्जादी हवंति चलिदाहु।
—गोम्मटसार-जीवकाण्ड, गाथा ५९२

+ पुद्गलानामपि द्विविधा क्रिया विस्रसा प्रयोग निमित्ता च।१६। स्वामी अकलंकदेव तत्त्वार्थ राजवार्तिक अध्याय ५, सूत्र ७

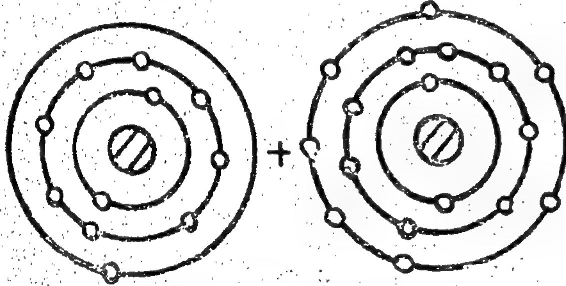


आधुनिक विज्ञान अणुओं Atoms के मिलने से व्यूहाणु Molecules बनने के तीन प्रकार मानता है—१—विद्युत्संयुजता (Electrovalency) २—सहसंयुजता (Covalency) ३—विसहसंयुजता (Co-ordinate Covalency) । विद्युत्संयुजता (Electro valency) में एक अणु के बाह्य कक्षीय कवच Orbital Shell के कुछ विद्युदणु उससे विच्छिन्न होकर दूसरे अणु Atom के बाह्य कवच Outermost Orbital Shell के विद्युदणुओं से मिल जाते हैं। जैसे क्षारातु Sodium के बाह्य तमकवच पर एक विद्युदणु रहता है और नीरजी Chlorine के बाह्यतम कवच पर सात विद्युदणु रहते हैं। एक स्थाई रचना में Stable Structure में शिथिराती neon की भांति बाह्यतम कवच Shell पर आठ विद्युदणु रहना चाहिए। जब व्यूहाणु Mole-cule बनता है तो नीरजी के सात बाह्यतम कवच पर रहने वाले विद्युदणुओं में क्षारातु Sodium के अणु Atom का एक विद्युदणु मिल जाता है। इस प्रकार नीरजी Chlorine के अणु के कवच की रचना मंदाति argon के कवच की भांति हो जाती है और क्षारातु Sodium के बाह्य कवच की रचना भी शिथिराती Neon के कवच की भांति रह जाती है। यह बात इस चित्र से स्पष्ट हो जायगी।


न्यष्टि Nucleus

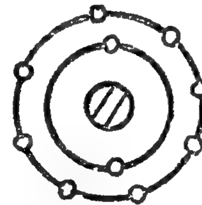

विद्युदणु Electron

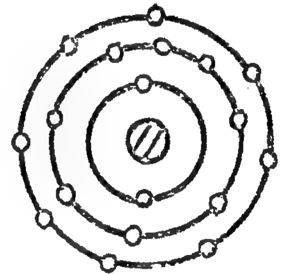
भेद का उदाहरण—



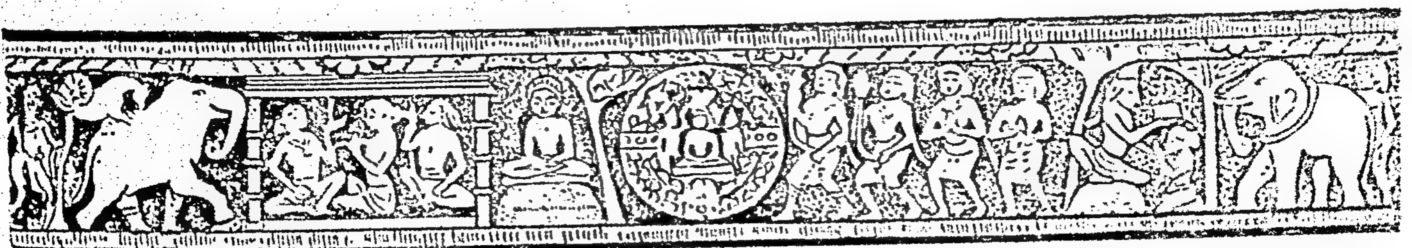
क्षारातु Sodium नीरजी Chlorine

=


शिथिराति विन्यास
क्षारातु Sodium

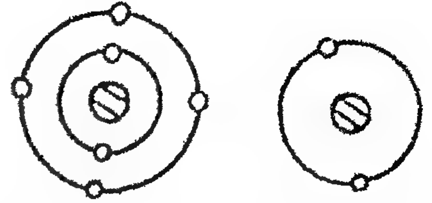

मंदाति विन्यास
नीरेय Choloride

यह संयुजता Covalency में एक अणु Atom के बाह्य कवच के विद्युदणु दूसरे अणुओं के बाह्य कवच के विद्युदणुओं से मिलकर स्थाई रचना बना लेते हैं और इस प्रकार सब अणुओं के बाह्य कवच की रचना जड़ (आक्रिय) वातियों Inert Gasses के विन्यास Combigu-ration की भांति हो जाती है। जैसे—प्रागार Carbon के एक अणु से उद्जन Hydrogen के चार अणु इस प्रकार मिलते हैं :—



संघात का उदाहरण

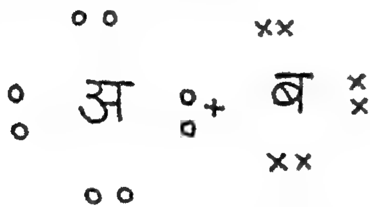
उ
ox
उox प्र oxउ
ox
उ

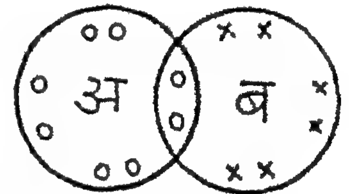


इस पर (×) से चिन्हित चार विद्युदणु प्रांगार के वाह्यतम कवच के हैं। इनमें प्रत्येक उद्‌जन अणु hydrogen atom से आये चार विद्युदणु मिल गए हैं जो (०) विन्दु से सूचित किए गए हैं। इस प्रकार यह आठ विद्युदणु प्रांगार अणु के विन्यास configuration को शिथिराति neon के विन्यास configuration की भांति बना देते हैं। उद्‌जन के अणुओं में भी यही आठ विद्युदणु दो-दो विभक्त हो जाते हैं और इस प्रकार उद्‌जन के अणुओं की आकृति configuration भी यातातित helium नामक अक्रिय वाति inertgass के अणु की आकृति के अनुरूप हो जाती है। इस प्रकार विद्युदणुओं के सहविभाजन sharing द्वारा बन्ध होता है।

तीसरे प्रकार की विसहसंयुजता co-ordinate covalency में यह दोनों ही प्रक्रियाएं होती हैं। इसमें एक ही अणु के वाह्य कवच के सब विद्युदणु संक्रमित transferred होते हैं और फिर दोनों अणुओं में सह विभाजित हो जाते हैं। इस प्रकार दोनों अणुओं की रचना जड़ वातियों inertgasses की रचना के अनुरूप हो जाती है।

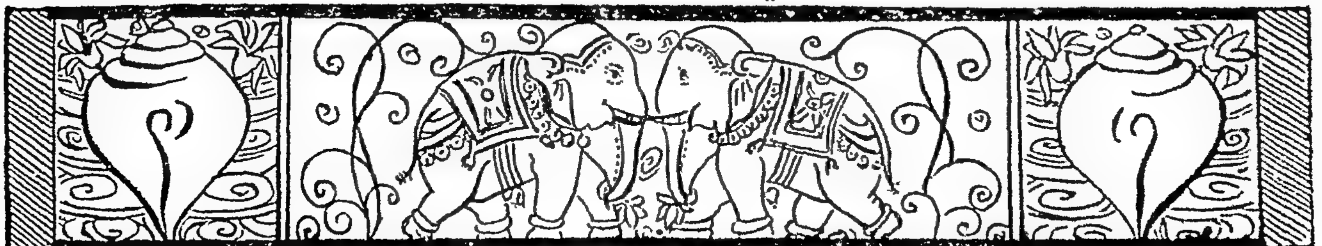
भेद संघात
का उदाहरण





इसमें "अ" के दो विद्युदणु "ब" की ओर संक्रमित transferred हो गए हैं और इन दो अणुओं के मिल जाने से "ब" का विन्यास (configuration) जड़ वातियों के अनुरूप हो गया है, किन्तु साथ ही यह दो अणु "अ" के साथ भी सह विभाजित shared हैं और इन्हीं के द्वारा "अ" की रचना भी जड़ वातियों के विन्यास configuration के अनुरूप होती है। इस प्रकार इस प्रक्रिया में विद्युदणुओं का संक्रमण transfer और सहविभाजन sharing दोनों ही होते हैं।

भेद, संघात और भेदसंघात उक्त तीनों प्रक्रिया के नामान्तर प्रतीत होते हैं। भेद का एक और प्रकार होता है। वह है पुद्‌गलों की गलन (खण्डन या disintegration)



प्रक्रिया। वाह्य और अभ्यन्तर कारणों से स्कन्ध (अणु Atom) का गलन—विदारण, खण्डन disintegration होना भेद है *। तेजोद्गरण Radioactivity की प्रक्रिया के कारण को इसके आधार पर समझाया जा सकता है। यह प्रक्रिया अणु atom की आन्तरिक रचना से सम्बद्ध है। इसलिए इसका कारण आन्तरिक है। आधुनिक विज्ञान का भी यही अभिमत है। तेजोद्गरक तत्वों से निस्सरित होने वाले रश्मियों के गुणों के अनुसंधान के पश्चात् यह सिद्ध हो गया है कि तेजोद्गरण अनिवार्यतः एक न्यष्टि nucleus से सम्बद्ध प्रक्रिया है +। खण्डन क्रिया disintegration phenomenon जिसमें किरणातु आदि uranium etc के कुछ अ-कण विगलित हो जाते हैं, भेद का उदाहरण है।

पुद्गल matter of energy में अनन्त शक्ति होती है। इसकी ओर भी जैन दार्शनिकों का ध्यान आकृष्ट हुआ है। कई स्थलों पर पुद्गल की इस अनन्त शक्ति का उल्लेख मिलता है। एक परमाणु यदि तीव्र गति से गमन करे तो कालके सबसे छोटे अंश एक "समय" में लोक universe के एक छोर से दूसरे छोर तक जा सकता है।

जैन सिद्धान्त के अनुसार यह दूरी २०१६×१०२२ मील है। इस कथन से परमाणु की अनन्त शक्ति का अनुमान लगाया जा सकता है। आधुनिक वैज्ञानिकों के अनुसंधानों द्वारा भी यह सिद्ध हो गया है कि पुद्गल में अनन्त शक्ति होती है। एक ग्राम पुद्गल में ६ १०२० अर्ग ऊर्जा energy होती है। इतनी शक्ति ३००० टन कोयला जलाने पर मिल सकती है। मात्रा mass और ऊर्जा के विषय में यह समीकरण दिया ही जा चुका है।

ऊर्जा=मात्रा (प्रकाश की गति)²

इससे स्पष्ट है कि पुद्गल में अनन्त शक्ति होती है।

जैन सिद्धान्त में पुद्गल matter की पूरण और गलन क्रियाओं combination and disintegration phenomena की ओर भी पर्याप्त संकेत मिलते हैं। पुद्गल को परिभाषा एक अन्य रीति से भी की जाती है--जिनमें पूरण क्रिया एवं विगलन क्रिया combination and disintegration सम्भव हों, वे पुद्गल हैं ÷। अर्थात् एक स्कन्ध दूसरे स्निग्ध रूक्ष गुण युक्त स्कन्ध से मिल सकता है और इस प्रकार अधिक स्निग्ध रूक्ष गुणों वाला स्कन्ध उत्पन्न हो सकता है, यह पूरण क्रिया है। अथवा एक स्कन्ध में से कुछ स्निग्ध रूक्ष गुणों से युक्त स्कन्ध विच्छिन्न हो सकता है, यह

* द्वितयनिमित्तवशाद विदारणं भेदः। सर्वार्थसिद्धिः।

+ Soon after the nature of the rays given out by the radio active substances had been established, it was realised that radio activity is essentially a nuclear property—Essentials of physical chemistry (Bahl & Thuli) Page 200.

÷ पूरयन्तिगलन्ति इतिपुद्गलाः।

पूरणगलनान्वर्थ संज्ञत्वात् पुद्गलाः।

तत्वार्थ राज वार्तिक, अध्याय ५, सूत्र १।२४।

छव्विह संठाणं वहुविह देहेहिं पूरदिगलदित्ति पोग्गलाः।

धवला।



गलन क्रिया है। गत शताब्दि के वैज्ञानिकों का यह मत था कि तत्व elements अपरिवर्तनीय है। एक तत्व दूसरे तत्व के रूप में परिवर्तित नहीं हो सकता है, किन्तु नये अनुसन्धानों, तेजोद्गरण, Radioactivity आदि से यह सिद्ध हो गया है कि तत्व elements परिवर्तित transformed हो सकते हैं। किरणातु uranium के एक अणु atom में से जब तीन "अ" कण ∝ particels विच्छिन्न हो जाते हैं तो वह एक तेजातु radium के अणु के रूप में परिवर्तित हो जाता है और जब तेजातु का एक अणु (ato.n) ५ अ कणों ∝ particles से विच्छिन्न हो जाता है तो सीस lead का एक अणु शेष रह जाता है। यह विगलन क्रिया disintegration है। विज्ञान के क्षेत्र में पूरण क्रिया के भी कई उदाहरण मिलते हैं। भूयाति nitrogen के एक अणु atom की न्यष्टि nucleus में जब एक "अ" कण ∝ particles मिल जाता है तो एक जारक oxygen का अणु बन जाता है। लब्धातु lethium और विडूर beryllium में भी इसी प्रकार पूरण क्रिया सम्भव है।

जैन सिद्धान्त द्वारा मान्य पुद्गल के सूक्ष्म परिणमन और अवगाहन शक्ति को भी वैज्ञानिक दृष्टिकोण से समझाया जा सकता है। जैन सिद्धान्त के अनुसार लोक universe जिसमें पुद्गल द्रव्य आदि स्थित हैं, उसमें असंख्यात प्रदेश—आकाश का एकांक absolute unit of space होते हैं। किन्तु पुद्गल अनन्तानन्त infinite in number हैं। अब प्रश्न यह उपस्थित होता है कि अनन्तानन्त infinite पुद्गल असंख्यात countless प्रदेश वाले लोक में कैसे स्थित है। जबकि एक प्रदेश आकाश का वह अंश है जिसमें एक ही परमाणु स्थित हो सकता है। इस प्रश्न के उत्तर में आचार्य पूज्यपाद ने सर्वार्थसिद्धि में कहा है कि सूक्ष्म परिणमन और अवगाहन शक्ति के योग से परमाणु और स्कन्ध भी सूक्ष्म रूप परिणत हो जाते हैं और इस प्रकार एक ही आकाश प्रदेश में अनन्तानन्त परमाणु रह सकते हैं ×। इसी बात को नेमिचन्द्र सिद्धान्त चक्रवर्ती ने आकाश के छोटे-से-छोटे भाग smallest unit प्रदेश की परिभाषा करते हुए कहा है—कि पुद्गल का एक अविभाग प्रतिच्छेद परमाणु आकाश के एक प्रदेश unit space को घेरता है किन्तु उसी प्रदेश में अनन्तानन्त पुद्गल परमाणु भी स्थित हो सकते हैं +। यह कैसे सम्भव है, इस प्रश्न का उत्तर यह है—यद्यपि परमाणु के विभाग नहीं हो सकते, किन्तु परमाणु में और स्कन्धों में भी सूक्ष्म परिणमन और अवगाहन शक्ति यह दो प्रक्रियाएं सम्भव हैं। अवगाहन शक्ति के कारण परमाणु अथवा स्कन्ध जितने स्थान में स्थित होता है, उतने ही स्थान में अन्य परमाणु व स्कन्ध भी रह सकते हैं। जैसे एक ही कमरे में कई विद्युद्दीपों का प्रकाश समा सकता है। जैन सिद्धान्त में matter और energy को एक ही माना है। सूक्ष्म परिणमन की क्रिया का अर्थ है कि परमाणु में

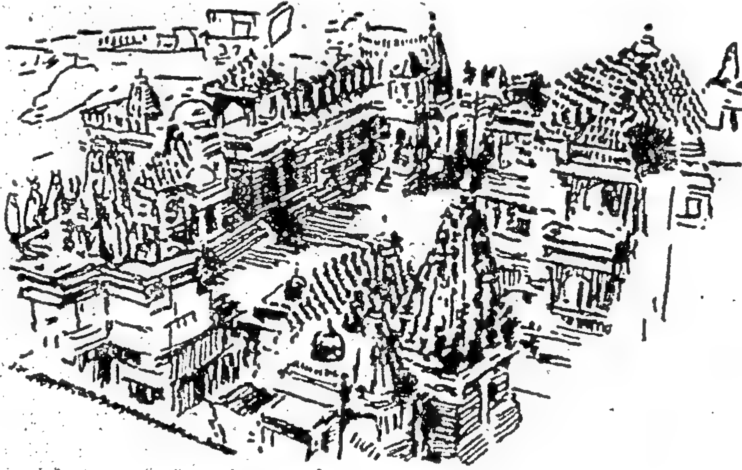
× सूक्ष्म परिणामावगाहन शक्ति योगात् परमाण्वादयो हि सूक्ष्मभावेन परिणता एकैकस्मिन्नप्याकाशप्रदेशेऽनन्तानन्ता अवतिष्ठन्ते, अवगाहन शक्तिश्चैषामव्याहतास्ति तस्मादेकस्मिन्नपि प्रदेशेऽनन्तानामवस्थानं न विरुद्धते।

+ जावदियं आयासं अविभागी पुग्गलाणु वट्ठद्धं।
तं खु पदसं जाणे सव्वाणुठाण दाणरिहं॥ द्रव्यसंग्रह

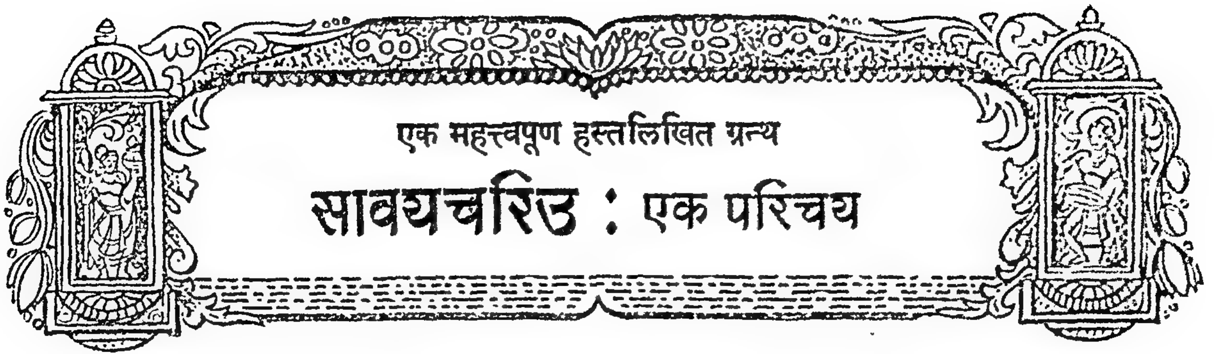


संकोच हो सकता है। उसका घनफल कम हो सकता है, वह सूक्ष्म रूप परिणत हो सकता है। इस प्रकार वह कम स्थान घेरता है। सूक्ष्म परिणमन क्रिया आधुनिक विज्ञान के आधार पर समझाई जा सकती है। अणु atom के दो अंग होते हैं। एक मध्यवर्ती न्यष्टि nucleus जिसमें उद्युत्कण और निद्युत्कण protons और neutrons होते हैं और बाह्यकक्षीय कवच Orbital shells जिनमें ऋणाणु चक्कर लगाते हैं। न्यष्टि nucleus का घनफल पूरे अणु atom के घनफल से बहुत ही कम होता है और जब कुछ कक्षीय कवच (Orbital shells) अणु (atom) से विच्छिन्न disintegrated हो जाते हैं तो अणु atom का घनफल कम हो जाता है। यह अणु विच्छिन्न अणु stripped atom कहलाते हैं। ज्योतिष सम्बन्धी अनुसंधानों से यह पता चला है कि कुछ तारे ऐसे हैं जिनका घनत्व हमारी पृथ्वी की घनतम वस्तुओं से भी २०० गुणित हैं। एडिंग्टन ने एक स्थल पर लिखा है कि एक टन (२८ मन) न्यौष्टय पुद्गल nucleus matter हमारी वास्कट के जेब में समा सकता है। एक तारे का घनत्व जिसका अनुसंधान कुछ ही समय पूर्व हुआ है, ६२० टन अथवा १७३६० मन प्रति घन इंच है। इतने अधिक घनत्व का कारण यही है कि वह तारा विच्छिन्न अणुओं stripped atom से निर्मित हैं, उसके अणुओं atoms में केवल न्यष्टियां ही हैं, कक्षीय कवच orbital shell नहीं। जैन सिद्धान्त की भाषा में इसका कारण अणुओं का सूक्ष्म परिणमन है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि जैन धर्म के पुद्गल और परमाणु सम्बन्धी बहुतसे सिद्धान्तों को वैज्ञानिक आधार पर समझाया जा सकता है। जैनाचार्यों के मतानुसार इनका मूलस्रोत एक विशिष्ट अलौकिक ज्ञान-परम्परा है, किन्तु यदि हम उन्हें दार्शनिक विचार-विमर्श और चिन्तन के प्रतिफल भी स्वीकार करें, तो भी पुद्गल और परमाणु सम्बन्धी यह सिद्धान्त अमूल्य और वैज्ञानिक हैं और इनमें से अधिकांश प्रयोगसिद्ध सत्य भी।







एक महत्त्वपूर्ण हस्तलिखित ग्रन्थ

सावयचरिउ : एक परिचय

प्रो० राजाराम जैन, आरा

अपभ्रंश साहित्य के इतिहास में महाकवि रइधू का नाम अत्यन्त गौरवपूर्ण स्थान रखता है। अन्वेषणों के आधार पर उनकी तीस से ऊपर रचनाओं का पता चला है, जो विविध प्रकार के विषयों का सुन्दर निरूपण करती हैं। इन्हीं रचनाओं में से एक अत्यन्त महत्त्वपूर्ण हस्तलिखित रचना 'सावय चरिउ' अपरनाम सम्यक्त्व कौमुदी है, जो कलकत्ता के नाहर संग्रहालय में सुरक्षित है। उसी का संक्षिप्त परिचय यहाँ प्रस्तुत किया जा रहा है।

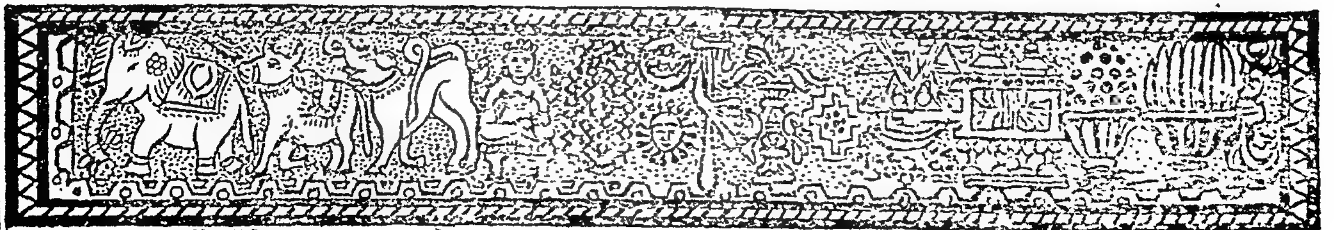
सावय चरिउ (श्रावक चरित) सन्धिकालीन अपभ्रंश भाषा में लिखित आचार एवं धर्माख्यान सम्बन्धी एक कृति है जिसमें कुल आठ कहानियां वर्णित है। कहानियों का प्रमुख विषय 'सम्यक्त्व' है। किसे किस प्रकार सम्यक्त्व की उपलब्धि हुई उसीके अनुभव एवं संस्मरण के रूप में पात्रों के माध्यम से लेखक ने कथाएं प्रस्तुत की हैं। इसमें कुल छह सन्धियां एवं (१३+२२+२९+१६+१८+२७) कुल मिलाकर १२५ कडवक हैं। इसका प्रतिलिपिकाल वि० सं० १६१४ की आषाढ़ वदी तृतीया है। रचना-लिपि प्राचीन किन्तु पठनीय है। जीर्ण-शीर्ण होने के कारण कुछ पृष्ठ कहीं-कहीं गल गए हैं। एकाध जगह पृष्ठों के परस्पर में चिपक जाने से कुछ अक्षर नष्ट भी हो गए हैं। कुछ पृष्ठ जैसे ८ ख, ९ क, ३१ क, ३२ क-ख एवं ३३ क अनुपलब्ध हैं। प्रति पृष्ठ ९ पंक्तियां एवं प्रति पंक्ति लगभग ९ छोटे-बड़े शब्द है। वर्णमाला में 'ख' के स्थान में 'ष' जैसे सुवर्ण-खुर, रूपखुर के स्थान में सुवर्णषुरु, रूवषुरु के प्रयोग मिलते हैं। इसी प्रकार 'क्ख' के स्थान में 'रक', 'क्ष' एवं 'श्च' के स्थान में 'च्छ' एवं 'छ' (४।९।८) प्रयुक्त हैं।

महाकवि रइधू ने अपना परिचय देते हुए अपने को भट्टारक कमलकीर्त्ति (वि० सं० १५०६-१५३६) का शिष्य संघवी हरिसिंह का पुत्र तथा उदयराज का पिता कहा है। यथा—

सिरि कमलकित्तिरिसि सीसएण।
हरिसिंघ साहु संघाहिवेण॥
सुय उदयारय जणेण एहु।
कइणा विरइउ सुह सद्दहेउ॥

(सावय चरिउ ६।२७।८-९)

प्रसंगवश उसने अपने नाम के साथ कविवर (१।२।१९, १।६।१) अप्पमिद गुण (६।२४।१०) सकइत्त महागुण मंडिएण (६।२७।७) आदि विशेषणों का प्रयोग किया है, जिससे



कवि की साहित्य-प्रतिभा का स्पष्ट भान हो जाता है। गार्हस्थिक समस्याओं से जूझते हुए भी कवि का विशाल साहित्य उसके अपरिमित धैर्य और साहस का प्रतीक है। कवि सावय चरिउ के पूर्व त्रेसठ शलाका महापुरुष चरित-वाला महापुराण, गाथाबन्ध-सिद्धान्तसार, पुण्याश्रव कथा, मेघेश्वर चरित एवं यशोधर चरित की रचना कर चुका था, अतः 'सावय चरिउ' के प्रणयन के समय तक उसकी कलम काफी मँज चुकी थी।

महाकवि रइधू की लगभग १९ रचनाएं मेरे दृष्टिपथ से गुजर चुकी हैं, उन सभी में रइधू ने माथुरगच्छ पुष्करगण के भट्टारकों तथा अग्रवालों के गौरवपूर्ण कार्यों के उल्लेख किये हैं, किन्तु प्रस्तुत कृति की प्रशस्ति में कवि ने मूलसंघ के आचार्य पद्मनन्दि तथा उनके शिष्य भट्टारक शुभचन्द्र को और नन्दिसंघ सरस्वती गच्छ के आचार्य जिनचन्द्र की वंदना की है। इन उल्लेखों से विदित होता है कि रइधू विशेष जाति अथवा आम्नाय के ही होकर नहीं रहे, बल्कि गुणग्रहण की प्रवृत्ति तथा हृदय की विशालता वा उदारता के कारण सम्प्रदायेतर अन्य मनीषियों के भी वे श्रद्धालु रहे थे। इसी प्रकार 'सावय चरिउ' का आश्रयदाता भी अग्रवाल के स्थान में गोलाराड कुलोत्पन्न कुशराज है। गोलाराड जाति के उल्लेख ११-१२ वीं शताब्दी के मूर्तिलेखों में मिलते हैं, जिससे प्रतीत होता है कि उस समय यह जाति काफी विशाल एवं समृद्ध थी। मध्यप्रदेश, उत्तरप्रदेश एवं राज-स्थान में सर्वत्र इसकी धूम थी। मध्यप्रदेश का एक गोलाराड कुल कलिंग में बस ही नहीं गया, बल्कि वहां का एक प्रमुख सत्ताधारी वंश भी बन गया। उसका वंशज आज भी वहां अत्यन्त महत्त्वपूर्ण स्थान रखता है। वर्त्तमान में यह जाति 'गोलालारे' के नाम से जानी जाती है और मध्यप्रदेश एवं उत्तरप्रदेश के कुछ स्थानों में छिन्न-भिन्न रूप में ही रह गई है।

मूर्तिलेखों एवं रइधू के उल्लेखों से यह विदित होता है कि यह जाति साहित्य एवं कला की बड़ी प्रेमी थी। अहार क्षेत्र एवं ग्वालियर दुर्ग की जैनमूर्तियां तथा 'सावय चरिउ' आदि कृतियां इसके प्रत्यक्ष उदाहरण हैं। कवि ने अपने आश्रयदाता श्री कुशराज की पूर्व पीढ़ियों का परिचय देते हुए उसके बड़े भाई असपति साहु के सम्बन्ध में कहा है कि वह संघाधिप था, जिन बिम्बों की प्रतिष्ठा कराने वाला था, ग्वालियर दुर्ग में उसने चन्द्रप्रभ जिन की मूर्ति का निर्माण कराया था (६।२६)। पुनः उसने असपति का परिचय देते हुए उसे तत्कालीन राजा कीर्त्तिसिंह का मन्त्री भी कहा है एवं कुशराज को राज्यकुशल और उसके पिता श्री सेऊ साहू को राजा डूंगरसिंह का भंडारी (Food and civil supply Minister) कहा है (६।२५।८)। इन उल्लेखों से यही प्रतीत होता है कि गोलालारे जाति में उत्पन्न यह परिवार धर्म, साहित्य एवं कला के कार्यों में जितना अनुराग रखता था, राजनीति में उसी प्रकार की कुशल सूझ-बूझ भी।

'सावयचरिउ' का प्रणयन तोमरवंशी राजा कीर्त्तिसिंह के समय में हुआ। कीर्त्तिसिंह का परिचय देते हुए कवि ने उसे कलिचक्रवर्त्ति, महीपति प्रधान (१।३।१२) शत्रुरूपी हाथियों के लिये सिंह के समान (६।२५।३) आदि विशे-षणों से विभूषित किया है। कीर्त्तिसिंह का कार्यकाल



१५२१-१५३६, ई० माना गया है। ग्वालियर-दुर्ग की अगणित जैन मूर्तियों के निर्माण में अपने पिता डूँगरसिंह के के सामान ही इनका भी बड़ा भारी हाथ रहा है। ग्वालियर दुर्ग में १३-१४ वीं सदी से श्रमण संस्कृति, साहित्य एवं कला के संरक्षण की तोमरवंशी राजाओं की परम्परा को भी कीर्त्तिसिंह ने अक्षुण्ण रखा था।

प्रस्तुत रचना के मूल प्रेरक श्री टेक्कणि साहु थे। कवि ने लिखा है :—

आयम चरिउ पुराणवियाणें। टेक्कणिसाहू गुणेण पहाणें ॥
पंडितच्छतेणं विणत्तउ। करम उलेप्पिणु वियसियवत्तउं ॥

धत्ता—

भो भो कइयणवर दुक्कियरयहर पइ कइत्तभरू वहिउ सिरि ॥
णिसुणहि णिम्मल मणरंजिय वुहयण सव्व सुहायर सच्चगिरि ॥

(१।२।१७-२०)

... ...। तह सावइ चरिउ भणेहु इच्छ ॥

(१।३।१-४)

कवि ने टेक्कणि साहु का कोई भी परिचय नहीं दिया कि वे कौन और कहां के थे ? किन्तु ऐसा प्रतीत होता है कि वे स्वाध्याय प्रेमी सज्जन थे। सम्भवतः आर्थिक दृष्टि से कुछ कमजोर होने के कारण वे स्वयं रइधू को आश्रय न दे सके थे, अतः उन्होंने गोपगिरि के श्री कुशराज का परिचय कवि को दिया। इतना ही नहीं, वे स्वयं कुशराज को साथ में ले गये और उनके पूर्वजों तक का परिचय कवि को देकर कुशराज के निमित्त ही सावयचरिउ के लिखने का आग्रह किया ; कुशराज का परिचय देते हुए टेक्कणिसाहु ने कहा—

एयाह मज्झि कुल भवण दीउ।
कुसराज महासइ णिहु विणीउ ॥
तुहु पुरु संठिउ विण्णवइ एहु।
सच्छच्छ ज्जाणु किण्णउ गुणेहु ॥
इहु णिव्वाहइ सकइत्त भारु।
इय मुणिवि करहि किण चरिउ चारु ॥
इहु कवियण मण भत्तउ पहाणु।
तुम्हह कीरेसइ अहि कमाणु ॥

× × ×

इहु सच्चु कइत्तहु भरु वहेइ। णिम्मलु जसपसरुवि इह लहेइ ॥
साहम्मिय वछल गुण पवित्तु। किंकिं ण करमि एयहु पउत्तु ॥

(सावय० १।४।१३-१६, १८,१९)

टेक्कणि साहु के द्वारा परिचय दिये जाने के बाद कुशराज ने कवि से इस प्रकार निवेदन किया :—

भो रइधू पंडिय दुरिग मंथ। सुद्धायम परम पुराण गंथ ॥
पइ विरइय एच्छु अणेय भव्व। ते अम्हह आयण्णियइं सव्व ॥

दंसण पुव्वइ सयलाइ ताइ।
वंछमि सोउं विहुणिय रयाइ ॥
जिण भणिय सच्छ कंचण गिरिदं।
वहुणाम उवहि सेविय सुरिंदि ॥

(सावय० १।५।१-८)

अन्ततः कवि टेक्कणि साहु एवं कुशराज के प्रस्ताव को स्वीकार कर लेता है और 'सावयचरिउ' के प्रणयन की तैयारी करता है।

सावयचरिउ का मूल आधार संस्कृत की सम्यक्त्व-कौमुदी है। इसमें अन्तर केवल इतना ही है कि उक्त

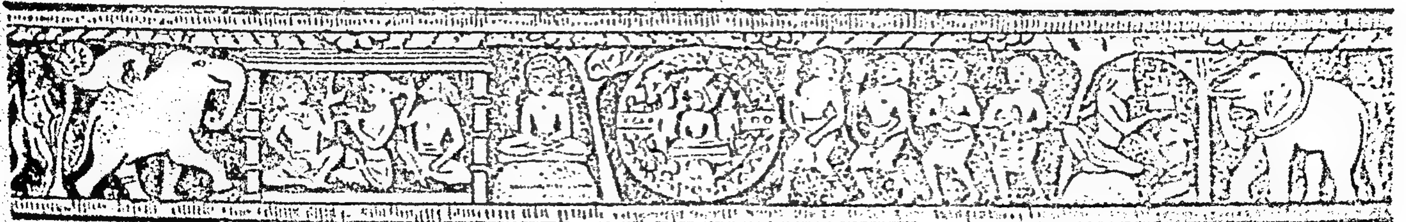


सम्यक्त्व कौमुदी में प्रारम्भ में राजा उदितोदय एवं राजा सुयोधन की विस्तृत कथाओं के बाद मूल कथानक सेठ अर्हद्दास एवं उनकी आठ रानियों में से सात रानियों की कथाएं प्रारम्भ होती हैं। रइधू ने उदितोदय एवं सुयोधन की कथाएं न देकर उनके स्थान में ४-६ पंक्तियों में ही उनका सामान्य परिचय मात्र देकर मूल कथानक सम्यक्त्व कौमुदी के समान ही प्रारम्भ किया है, जो निम्न प्रकार है :—

उत्तर मथुरा के राजा उदितोदय ने कार्तिक शुक्ला पूर्णमासी के दिन कौमुदी-महोत्सव का आयोजन कर नगर भेरी बजवाई तथा सभी महिलाओं को नगर के बाहर उद्यान में क्रीड़ा-मनोविनोद एवं पुरुषों को अपने-अपने घरों में ही रहने का कड़ा आदेश दिया। अष्टान्हिका पर्व होने के कारण सेठ अर्हद्दास एवं उनकी प्रथम सात रानियों को इससे धर्म-साधन में बड़ी बाधा उत्पन्न हुई। सबसे छोटी आठवीं रानी, जो कि धर्म की अनुरागिणी न थी, के विरोध करने पर भी अर्हद्दास ने राजा से अनुनय-विनय कर अपने लिए विशेष अवकाश ले लिया और घर के चैत्यालय में ही भजन-पूजन प्रारम्भ कर दिया। रात्रि-जागरण का व्रत सफल बनाने एवं समय व्यतीत करने के लिए इसी अवसर पर सेठ अर्हद्दास सर्वप्रथम अपने सम्यक्त्व-प्राप्ति के संस्मरण रूप रूपखुर चोर की कहानी सुनाता है। उसके बाद सबसे बड़ी रानी मित्रश्री ने सेठ वृषभदास, उसकी पत्नी जिनदत्ता, अपनी बहिन कमलश्री एवं कापालिक की, द्वितीय पत्नी चन्द्रश्री ने सोमा एवं धूर्त रुद्रदत्त का कथानक, विष्णुश्री ने सन्मति मंत्री, नागश्री ने राजकुमारी मुंडी, पद्मलता ने धूर्त वुद्धदास, कनकलता ने समुद्रदत्त व्यापारी तथा धूर्त मठ एवं विद्युल्लता ने अशोक नामक एक घोड़ों के व्यापारी तथा वृषभसेन और एक धूर्त ब्रह्मचारी के सुन्दर कथानक प्रस्तुत किये हैं। कथानकों के माध्यम से एक ओर जहाँ धर्म की ओट में लेखक ने माया, फरेब एवं छल-कपटी धूर्तों के चरित्रों का पर्दाफाश किया है, तो दूसरी ओर सुपात्रों के चरितों के माध्यम से जीवन की समृद्धि हेतु सुन्दर-सुन्दर आदर्शों को ग्रथित किया है। लेखक ने कापालिक का प्रसंग उपस्थित कर वैतालिकों एवं कौलिक सम्प्रदाय तथा वुद्धदास के माध्यम से वौद्ध सम्प्रदाय के पाखण्डों का अच्छा भण्डाफोड़ किया है। ये कथानक एक ओर सांसारिक झंझटों के दुखों को उभाड़कर मानव को शाश्वत सुख-प्राप्ति की ओर उन्मुख करते हैं, तो दूसरी ओर भौतिक जगत में रमने वाले मानव-समाज को मानव-मनोविज्ञान का पाठ पढ़ाकर सहकर्मियों के ऊपर सहसा विश्वास न कर उनके अन्तरात्मा को ध्यान से परखने की ओर आगाह करते हैं।

प्रस्तुत कृति की छह सन्धियों में प्रथम चार सन्धियों में उक्त कथानक ही हैं। अन्तिम ५-६ सन्धियों में लेखक ने श्रावक धर्म एवं ग्यारह प्रतिमाओं का विशद वर्णन किया है। इसका प्रमुख आधार उमास्वाति कृत तत्त्वार्थसूत्र विदित होता है।

'सावय चरिउ' में एक प्रधान उल्लेख कौमुदी-महोत्सव सम्बन्धी उपलब्ध है। अपभ्रंश साहित्य में इस महोत्सव का नामोल्लेख मुझे अन्यत्र देखने को नहीं मिला। संस्कृत साहित्य को देखने से ऐसा प्रतीत होता है कि भारतवर्ष में वर्ष के दो प्रधान उत्सव थे। वसन्तकालीन उत्सव, जो वसन्त ऋतु में होने के कारण वसन्तोत्सव के नाम से विख्यात



है तथा दूसरा शरत्कालीन, जो शरत्कालीन पूर्णमासी की रात्रि को मनाया जाता है। यही शरत्कालीन उत्सव कौमुदी-महोत्सव के नाम से विख्यात है। प्राचीन साहित्य से अवगत होता है कि यह कौमुदी-महोत्सव मगध-देश प्रमुखतया पाटलिपुत्र में राष्ट्रीय पर्व के रूप में प्रचलित था। नन्दवंश एवम् गुप्तवंश के राज्यकाल में लिखित साहित्य में इसके उल्लेख मिलते हैं। सम्राट अकबर का 'मीनाबाजार' भी "कौमुदी-महोत्सव" का ही सम्भवतः एक परिष्कृत एवं संशोधित संस्करण प्रतीत होता है। पटना-सिटी के प्रक्षेत्र में आज भी कौमुदी-महोत्सव की परम्परा किसी-न-किसी रूप में दृष्टिगोचर होती है।

महाकवि रइधू ने कौमुदी-महोत्सव का वर्णन करते हुए राजा के आदेश के माध्यम से कहा है कि कौमुदी यात्रा के समय नगर के बाहर नन्दनवन-उद्यान में रात्रि के समय समस्त महिलाएं क्रीडा करने जावेंगी। सभी मनुष्यों को चाहिए कि वे जिनभवन में एकान्त रूप से जिनपूजादि में रत रहें। जो कोई भी उस वन में अपनी महिला के साथ क्रीड़ाएं करेगा या क्रीड़ा करने की इच्छा करेगा, उसकी बोटी-बोटी काटकर फेंक दी जावेगी। मेरा राजपुत्र भी अपराधी होने पर ऐसा ही दण्ड प्राप्त करेगा। यथा :—

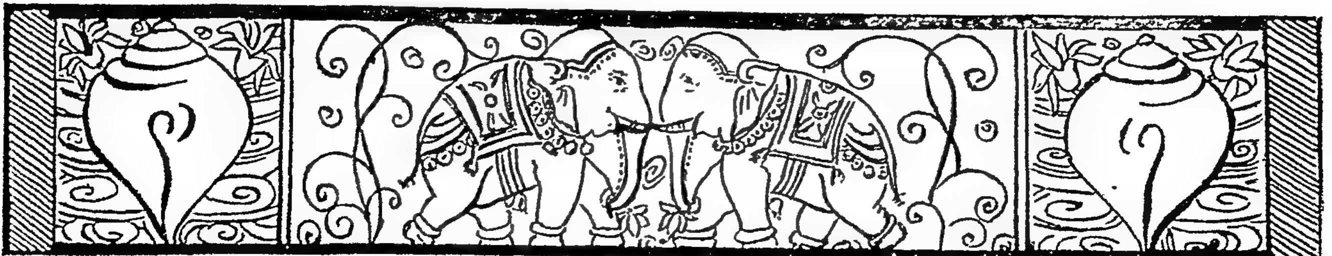
सुह रमंतु वाहिर णंदणवणे।
रत्तिहिं महिलउ वर तरुवरि घणे॥
विविहिं विणोयहि णयर व्भंतरि।
सयलवि णर धवलरे णिरंतरि॥
जिणु झाइज्जहु जिणु पुज्जिज्जहु।
जिणयोत्तिजहु जिणु पणविज्जहु॥
जो को वणि पइसेसिणुं महिलहं।
सहु कीलेसइ कीलण सीलह॥
सो णरु धुउ तिलु तिलु खंडेव्वउ।
जइ पुत्तु वि तो णाहि खमेव्वउ॥

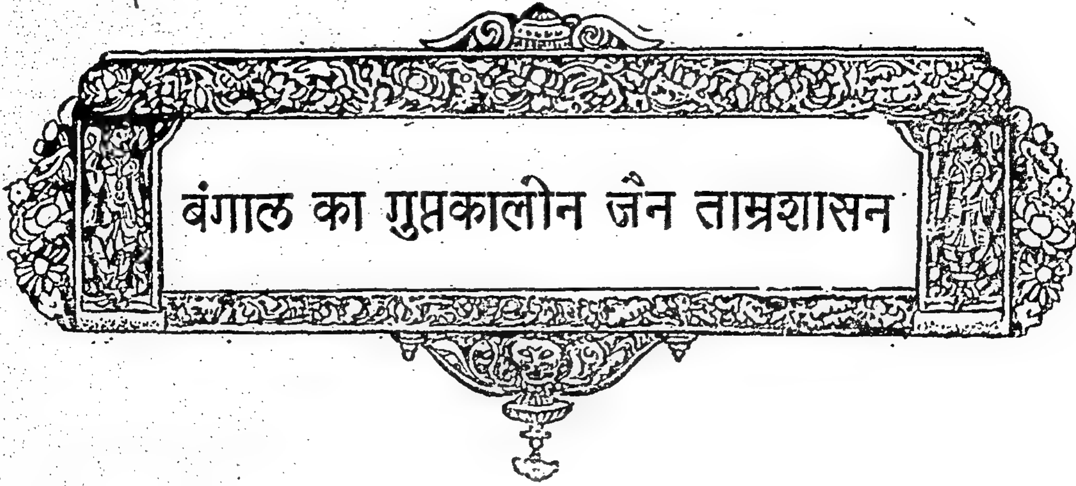
(सावय० २।११।३-७)

सावय चरिउ की एक अन्य विशेषता छन्द-वैविध्य की है। कवि ने वर्णन प्रसंगों की पूर्ण भावाभिव्यक्ति के हेतु मधुभार छन्द, समानिका छन्द, त्रिभंगी छन्द, भुजंगप्रयात छन्द एवं मौक्तिकदाम प्रभृति छन्दों का प्रयोग किया है। कवि ने कुछ छन्दों की संक्षिप्त परिभाषाएं भी यथास्थान प्रस्तुत की हैं।

कवि रइधू के साहित्य में लोकाख्यानों की कमी नहीं है। उसने लोक प्रचलित शब्दों तथा कहावतों का भी समुचित प्रयोग किया है। ऐसे शब्दों में झुट्ठ (२।२१), टक्कर (२।२१), टिंढह = जुआ खेलने का अड्डा (३।२), रसोइ (३।१८), परिसिउ = परोसा (३।१९) 'कंकड़ (४।१०) आदि एवं णियमुहु पक्खालहि इम भसियउ (अपना मुंह धोलो तब ऐसा कहो) ३।२६०) जैसी लोकोक्तियां प्रमुख हैं।

वर्णन प्रसंगों की दृष्टि से सावयचरिउ उत्तम कोटि की रचना है। इनमें सावयचरिउ की महिमा (१।७), अन्याय का फल (१।१३), पुत्र महिमा (२।१३)' सौतिया डाहा (२।१३), कौलिक सम्प्रदाय (२।१६), बौद्धाचार (३।१७), मिट्टी-भक्षण के दोष (३।१३।१४), कामान्धावस्था (१।१२) आदि वर्णन बड़े ही मार्मिक बन पड़े हैं। इस ग्रन्थ के प्रकाशित होने पर कई महत्वपूर्ण तथ्यों पर सुन्दर प्रकाश पड़ सकता है।





बंगाल का गुप्तकालीन जैन ताम्रशासन

श्री छोटेलाल जैन

बंगाल के राजशाही जिले में वदलगाछी थाने के अन्तर्गत और कलकत्ता से १८९ मील उत्तर की ओर जमालगञ्ज स्टेशन से ३ मील पश्चिम की ओर पाहाड़पुर है। यहां एक प्राचीन मन्दिर के ध्वंशावशेष ८१ बीघों में हैं जिनके चारों ओर इष्टक निर्मित प्राचीर है। इनके मध्य का टीला बहुत बड़ा होने से गाँव वाले इसे 'पहाड़' के नाम से पुकारने लगे और इसीसे यह स्थान पाहाड़पुर कहा जाने लगा।

इसके निकट नदीतल के चिह्न उपलब्ध हुए हैं, इससे प्रकट होता है कि यहां पहले नदी बहती थी। इसके ध्वंश का एक कारण बाढ़ है, क्योंकि इसकी शून्य वेदियां और अन्य व्यवहार्य सामग्री की अनुपलब्धि यह प्रमाणित करती है कि यह स्थान एकाएक परित्यक्त नहीं हुआ था। दूसरा कारण १३ वीं शताब्दी के प्रारम्भ में जब मुसलमानों ने बंगाल पर आक्रमण किया तब अन्य अनेक हिन्दू मठ-मन्दिरों के साथ-साथ इसका भी ध्वंश किया जाना है।

इस टीले में सबसे प्राचीन ध्वंशावशेष गुप्ताब्द १५९ का एक ताम्र-पत्र प्राप्त हुआ है। यहां से उपलब्ध विभिन्न सामग्री की परीक्षा और मनोभिनिवेश से यह ज्ञात होता है कि एक समय पाहाड़पुर जैन, ब्राह्मण और बौद्ध—इन तीनों महान् धर्मों का उन्नतिवर्द्धक केन्द्र था। इसलिए अविछिन्न और धारावाहिक यात्रियों का दल पाहाड़पुर के प्रति अपनी भक्ति प्रदर्शित करता था और भारत के भिन्न-भिन्न स्थानों से इस पवित्र स्थान पर अनेक छात्र विद्याध्ययन के लिए आते थे। यों तो यह स्थान बहुत प्राचीन था, पर पञ्चम शताब्दी के पूर्वार्द्ध से दशम शताब्दी तक इसकी प्रख्याति अतिशय रूप से थी।

यहाँ से उपलब्ध लेखों (ताम्रशासन और मृण्मय मुद्रिका समूह (Sealings) से भिन्न-भिन्न दो समय के दो विहारों के अस्तित्व की सूचना मिलती है।

इस गुप्ताब्द १५९ (सन् ४७८-७९) के ताम्र शासन में वटगोहाली ग्रामस्थ श्री गुहनन्दी के एक जैन विहार का उल्लेख है। इसमें पौण्ड्रवर्द्धन के विभिन्न ग्रामों में भूमि क्रय कर एक ब्राह्मण दम्पत्ति द्वारा वटगोहाली के जैन विहार के लिए दान किया जाना लिपिबद्ध किया गया है। पाहाड़पुर



से संलग्न पश्चिम की ओर अवस्थित यह वटगोहाली वर्त्तमान का गोआलभीटा ग्राम है और इस ग्राम में इस मन्दिर की सीमा का कुछ अंश अवस्थित है ।

सन् १८०७ में डाक्टर बुकानन हैमिलटन को यह टीला (जिसके अन्दर से यह मन्दिर निकला है) "गोआलभीटा का पहाड़" के नाम से बताया गया था। इस लेख में उल्लिखित वटगोहाली का जैन विहार निश्चय से पाहाड़पुर के इस मन्दिर के मूल स्थान पर अवस्थित था और वट गोहाली से ही गोआलभीटा हो गया मालूम होता है ।

ईस्वी पूर्व तृतीय शताब्दी में उत्तर वंग मौर्यों के शासनाधिकार में था और पुण्ड्रवर्द्धन नगर में उनका प्रान्तीय शासक रहता था । गुप्तकाल में भी बंगाल के इस प्रान्त की राजधानी पुण्ड्रवर्द्धन थी । आजकल जो स्थान महास्थान के नाम से प्रसिद्ध है, उसे ही प्राचीनकाल में पौण्ड्रवर्द्धन कहते थे । पाहाड़पुर, महास्थान से उत्तर-पश्चिम की ओर २९ मील पर और बानगढ़ (प्राचीन कोटिवर्ष) से दक्षिण पूर्व की ओर ३० मील पर अवस्थित है । इन दोनों प्रधान नगरों के निकट इस मन्दिर को स्थापित करने का आशय यह था कि त्यागीगण नगरों से बाहर एकान्त में रह कर शान्ति से धर्मलाभ के साथ-साथ विद्याध्ययन करें और नगर निवासियों को भी धर्मोपदेश का लाभ मिलता रहे । दूसरे उस समय पौण्ड्रवर्द्धन और कोटिवर्ष जैनाचार्यों के प्रधान पट्टस्थान भी थे । उस समय वहाँ जैनों का ही पूर्ण प्राधान्य था ।

गुप्त साम्राज्य के प्रभुत्त्वकाल में भी यद्यपि यहाँ जैनों की ही प्रधानता रही, पर साथ-साथ ब्राह्मण-प्रभाव भी धीरे-धीरे बढ़ता रहा; किन्तु बौद्धों का प्रभाव यहाँ बहुत ही कम था । इसका अनुमान चीनी यात्री के वर्णन से भली-भाँति हो जाता है । तो भी उस युग में यहाँ का वातावरण पूर्णत: सहिष्णुता का था, कारण यहाँ जैन, बौद्ध और हिन्दू-- तीनों ही सम्प्रदायों की प्राचीन सामग्री प्राप्त हुई है ।

पष्ट शताब्दी के किसी समय में इस मन्दिर के वृद्धिकरण की आयोजना प्रारम्भ की गई थी और अट्टालिकाओं की ऊँचाई को बहुत बढ़ाया गया जिससे सम्भवत: मध्य स्थित प्राचीन अट्टालिका आच्छादित हो गई ।

छट्ठी शती से गुप्तों का प्रभाव क्षीण होता गया और सप्तम शताब्दी के प्रारम्भ में बंगाल में महाराजा शशांक का आधिपत्य हो गया । शशाङ्क शैव धर्मावलम्बी था । उसने जैन और बौद्धों को बहुत ही सताया था । तो भी जैनों के पाँव यहाँ से नहीं उखड़े । तत्पश्चात् सप्तम शताब्दी में ही जब बंगाल में अराजकता का बोलबाला हुआ, तब धीरे-धीरे यहाँ से जैन धर्म विलीन होता गया । वटगोहाली का यह श्री गुहनन्दी जैन विहार भी पौण्ड्रवर्द्धन और कोटिवर्ष की जैन संस्थाओं की भाँति क्षतिग्रस्त हुआ । पुनः यहाँ जब शान्ति हुई और पाल राज्य सुदृढ़ता से अष्टम शताब्दी में सुस्थापित हुआ उस समय यह स्थान सोमपुर* के नाम से प्रख्यात हो चुका था ।

पाल नृपतियों का अधिकार ३५० वर्ष तक रहा । पाल राजा बौद्ध धर्मावलम्बी थे । इनके समय में यहाँ जैनों की

---

* पहाड़पुर से दक्षिण की ओर एक मील पर अब सोमपुर ग्राम है, वही सोमपुर था ।



प्रधानता नष्ट हो गई और बौद्धों के प्रभाव ने जोर पकड़ा और इस जैन विहार पर उनका पूर्ण अधिकार हो गया।

ईसा की अष्टम शताब्दी के शेष भाग में अथवा नवम शताब्दी के प्रारम्भ में पाल वंश के द्वितीय सम्राट महाराज धर्मपाल ने इसी विहार के ऊपर महाविहार निर्माण किया था, तब से यह स्थल धर्मपाल देव का "सोमपुर का महा-बौद्ध विहार" के नाम से प्रसिद्ध हो गया। इस विहार की प्रख्याति सर्वत्र हो गई और यहीं दीपंकर नामक प्रसिद्ध बौद्धाचार्य ने भवविवेक के मध्यमक रत्नप्रदीप का अनुवाद किया था। दशवीं और ग्यारहवीं शताब्दी काल की भी इमारतें इस पर हैं।

पहाड़पुर के इस परकालीन बौद्ध मन्दिर से नगण्य जैन ध्वंशावशेष उपलब्ध हुए हैं; पर ब्राह्मण और बौद्धों के परवर्त्ती गुप्तकाल के अनेक शिला पर अल्प-उत्तोलित-भास्कर कार्य (Basreliefs) और दग्ध मृण्मय पटरियाँ (Plagues, Terra Cottas) प्राप्त हुई हैं, जिनमें अनेक पंच तन्त्रादिक कथा-साहित्य के प्राचीन उपाख्यानों को सूचित करने वाले चित्र भी हैं। ऐसे जनसाधारण के पूज्य स्थान जहाँ पर सभी सम्प्रदायों के लोग एकत्रित होते हों, वहाँ ऐसे चित्रों को सजाने के काम में लाना अत्यावश्यक ही नहीं, अपितु अनिवार्य है। इससे प्रकट होता है कि इनमें देवमूर्त्तियां हैं और वे खास पूजन की दृष्टि से नहीं लगाई गई हैं*। किसी समय विद्वेषवश जैन-सामग्री यहाँ से अवश्य पृथक् कर दी गई है।

चीनी यात्री हुयेनसांग† जो खृष्टीय सप्तम शताब्दी के पूर्वार्द्ध में पौण्ड्रवर्द्धन में आया था। वहाँ का वर्णन करते हुए लिख गया है कि यहाँ एक सौ देव मन्दिर हैं। पर यहाँ नग्न-निग्रन्थ सबसे अधिक हैं। इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि सप्तम शताब्दी के पूर्वार्द्ध तक तो यह विहार निश्चय से जैन भिक्षुओं को आकर्षित करता रहा है। और उस समय इस स्थान पर बौद्ध मठादि नहीं थे*। हो सकता है कि अष्टम शताब्दी के लगभग कुछ काल पर्यन्त ब्राह्मणों का भी इस मन्दिर पर आधिपत्य रहा हो। तत्पश्चात् बौद्धों ने इस पर नूतन विहार और मठ निर्माण कर इसे अपना लिया और शेष तक उनका अधिकार यहाँ रहा, यह ऊपर पाल वंश के वर्णन में बताया जा चुका है।

चीनी परिव्राजक के आगमन से १५० वर्ष पूर्व का यह ताम्रशासन जैनों के प्रभाव का केवल समर्थन ही नहीं करता है किन्तु यहां तक प्रमाणित करता है कि यह विहार अति प्राचीन है और इसमें धारावह गुरु शिष्यों की परम्परा चली आई है। आचार्य भद्रबाहु तथा उसके शिष्य गुप्तिगुप्त (विशाखाचार्य अर्हद्वलि) आदि प्रसिद्ध जैनाचार्यों का पट्ट-स्थान पुण्ड्रवर्द्धन और कोटिवर्ष में था। पुण्ड्रवर्द्धन के पट्टा-चार्य मुनिसंघ का निग्रह अनुग्रह पूर्वक शासन करते थे और प्रत्येक पांच वर्ष के अन्त में सौ योजन क्षेत्र में निवास करने वाले मुनियों के समूह को एकत्र करके युग प्रतिक्रमण किया करते थे†। गुहनन्दी भी संभवतः भद्रबाहु की परम्परा के

* Memoirs of A. S. I. No 55 P. 58.

* Beal's Budhist records of the western world vol II, Page-195 (A. S. I. memoirs no 55, P.-3)

† श्रुतावतार कथा श्लोक ८०-८७।



आचार्य मालूम होते हैं, आचार्यों के नंद्यांत नाम प्राचीनकाल से ही उपलब्ध होते हैं। अर्हद्वलि आचार्यने नन्दी और पंच-स्तूपान्वय स्थापित किया था। नन्दी वृक्ष के मूल से वर्षा योग धारण करने से नन्दी संघ हुआ। इसके प्रथमाचार्य श्री माघनन्दी थे। तृतीय और चतुर्थ शताब्दी के नन्द्यान्त नामों में यशोनन्दी, जयनन्दी, कुमारनन्दी आदि हैं।

विहार

सोमपुर (पहाड़पुर) के इस विहार को वृहदाकार और उन्नत वर्तमान अवस्था में पहुँचाने का श्रेय बौद्ध धर्म परायण प्रारम्भ के पांच सम्राटों को है। इसके चारों ओर प्राय: दो सौ कमरे हैं। इसके अट्टालिका परिवेष्टित प्रांगण का परिमाण ९२२×९१९ फुट है। भारतवर्ष में इतना बड़ा मठ कहीं भी नहीं मिला है। इसकी लम्बाई उत्तर से दक्षिण ३६१ फुट और चौड़ाई ३१९ फुट है। मन्दिर के तीन खंड terraces हैं और पहिले और दूसरे खंडों में चैत्यांगन (प्रदक्षिणा मार्ग) है।

जिस प्रकार के नक्शे पर यह मूल मन्दिर निर्मित हुआ था, उस प्रकार का अन्य उदाहरण अभी तक भारतीय पुरातत्त्व को उपलब्ध नहीं हुआ है और न प्राचीन बौद्ध स्तूपों से इसका विकाश ही माना जा सकता है। अतएव यही संभव है कि इस स्थल पर ही या इसके अति निकट जैनों का एक चतुर्मुख मन्दिर था। इसकी पुष्टि यहाँ से उपलब्ध इस ताम्रशासन से भी होती है *।

भारतीय पुरातत्व विभाग के प्रसिद्ध प्रत्नतत्त्वविद श्रीयुत पं० काशीनाथ नारायण दीक्षित ने लिखा है† कि कुशान कालीन मथुरा के जैन स्तूप (कंकाली टीला) के अतिरिक्त उत्तर भारत में मध्यकाल से पूर्व एक भी जैन अट्टालिका अभी तक नहीं मिली है। पहाड़पुर का परवर्ती गुप्तकालीन मन्दिर और प्रारम्भिक पालकालीन विहार को मूल जैनमन्दिर का प्रसारण और वृद्धिकरण स्वरूप मान लेने से अनुमान होता है कि इस चार प्रवेश द्वारयुक्त चतुष्कोण मन्दिर की वेदी चतुर्मुख थी जिसमें अर्हन्तों की चार मूर्तियां थीं और संभवत: मन्दिर से कुछ ही दूरी पर श्रमणों या जैन मुनियों के लिए एक मठ था। चतुर्मुख या सर्वतोभद्र मन्दिरों का होना जैनों में भिन्न-भिन्न काल और भिन्न-भिन्न प्रदेशों में प्रचलित था। प्रसिद्ध इतिहासज्ञ फरगुसन साहब ने तो चतुर्मुख मन्दिरों को प्रधान जैन श्रेणी का कहा है‡। चतुर्मुख या सर्वतोभद्र मन्दिरों की उत्पत्ति समवशरण से हैं। ऐसे उत्तरकालीन जैनमन्दिर अभीतक कई स्थानों में उपलब्ध है।

पहाड़पुर के इस विहार से जैन ताम्रशासन के अतिरिक्त केवल एक छोटी सी जिन मूर्ति (धातु की) उपलब्ध हुई है जिसके उभय पक्ष में दो अस्पष्ट मूर्तियाँ यक्षों या श्रावकों की हैं। अर्हन्त भगवान एक कमलासन पर खड्गासन से स्थित हैं यह प्रतिमा गुप्तकालीन मालूम होती है।

अब महत्वपूर्ण आलोच्य ताम्र शासन÷ का परिचय प्रस्तुत किया जाता है।

पहाड़पुर के प्रसिद्ध बौद्ध मन्दिर की खुदाई करते समय सन् १९२७ में पुरातत्व विभाग के पं० काशीनाथनारायण दीक्षित को गुप्त संवत् १५९ (सन् ४७९) का यह ताम्र पत्र मिला था। प्रधान मन्दिर के दूसरे खंड (Jerrace) की प्रदक्षिणा के उत्तर पूर्व के मार्ग की मृत्तिका और भग्न इष्टक राशि अपसारण करते समय यह ताम्रपत्र आविष्कृत हुआ था। इसकी प्राप्ति अवस्था सूचित करती है कि इस विहार की अन्तिमावस्था पर्य्यन्त वहां दफ्तर (Archines) में यह सुरक्षित था।

इसकी कतिपय पंक्तियाँ और अक्षर घिस गये हैं, तथा मजदूरों की असावधानी से भी ऊपर के दक्षिण कोने में एक छिद्र हो गया है। तो भी इस ताम्रपत्र की अवस्था अच्छी है। इसकी नाप ७$\frac{3}{4}$ × ४$\frac{3}{4}$ इंच है और इसका वजन २९ तोला है।

इसकी लिपि उत्तरीय पंचम शताब्दी की में। भाषा संस्कृत है। अन्त के पांच अमंगल प्रार्थी पद्यों के अतिरिक्त सारा लेख गद्य में है।

---

* Memoirs of A. S. I. No 55 P. 7.

† Arch. Survey of India Report 1927-28 P. 38.

‡ Hist. of India Eastern Architet vol II P. 28.

÷ Epi. Indi. vol XX PP. 59-64.

पहाड़पुर का गुप्तकालीन जैन ताम्रशासन (पंचम शताब्दी)

अग्र भाग

पहाड़पुर का गुप्तकालीन जैन ताम्रशासन (पंचम शताब्दी)

पृष्ठ भाग

पहाड़पुर का ताम्रशासन गुप्ताब्द १५९ (सन् ४७९)

अग्रभाग

(१) स्वस्ति (॥ ❀) पुण्ड्र [वर्द्ध] नाद=आयुक्तक:[१] आर्य्य-नगरश्रेष्ठि—पुरोगञ्च=आधिष्ठान्—आधिकरणम् दक्षिणांशक—वीथेय—नागिरट्ट—

(२) माण्डलिक – पलाशाट्ट—पार्श्विक – वट—गोहाली—जम्बुदेव—प्रावेश्य—पृष्ठिम—पोत्तक – गोपा—टपुञ्जक—मूल—नागिरट्ट—प्रावेश्य —

(३) नित्व-गोहालीषु ब्राह्मण्—ओत्तरान्=महत्तर—आदि—कुडम्बिनः कुशलम् – अनुवरार्ण्य्=आनुवोधयन्ति (। ❀) विज्ञापयत्य्=अस्मान्=ब्राह्मण—नाथ—

(४) शर्म्मा एतद्—भार्य्या रामी च (।) युष्माकम् इह्=आधिष्ठान् – आधिकरणे द्वि-दीनारिक्कय—कुल्यवापेन शश्वत्—काल्—ओपभोग्य—आक्षय—नीवी – समुदय – बाह्य—आ

(५) प्रतिकर – खिल—क्षेत्र—वास्तु-विक्कयो=नुवृत्तस्=तद्=अर्हथ्=आनेन्=ऐव वक्रमेण्=आवयोस्=सकाशाद्=दीनार=त्रयम्=उपसंगृह्य्=आवयो (स ❀)=स्व—पुण्य् – आप्या—

(६) यनाय वट—गोहाल्याम्=अव्[२]=आस्यां=काशिक—पञ्चस्तूप-निकायिक[३]-निग्रन्थ—श्रमण्—आचार्य्य—गुहनन्दि—शिष्य—प्रशिष्य्—आधिष्ठित – विहारे

(७) भगवताम्—अर्हताम—गन्ध—धूप-सुमनो—दीप्—आद्य्—अर्थन्=तल—वाटक—निमित्तञ्=च अ (त) एव वट-गोहालीतो वास्तु—द्रोणवापम्=अध्यर्द्धान्=ज—

(८) म्वुदेव – प्रावेश्य—पृष्ठिम=पोत्तकेत्[४] क्षेत्रं द्रोण—वाप—चतुष्टयम गोषा—टपुञ्जाद्=द्रोणवाप—चतुष्टयम् मूल—नागिरट्ट—

(९) प्रावेश्या—नित्व—गोहालीत: अर्द्ध—त्रिक—द्रोणवापान्=इत्य्=एवम्=अध्यर्द्धम क्षेत्र – कुल्यवापम्=अक्षय—नीव्या दातुम्=इ (त्य्=अत्र) यतः प्रथम—

(१०) पुस्तपाल—दिवाकरनन्दि—पुस्तपाल—धृतिविष्णु – विरोचन—रामदास—हरिदास—शशिनन्दि—पु प्रथमनु[५]·········(ना) म् अवधारण[६] —

(११) य=आवधृतम् अस्त्य्=अस्मद् अधिष्ठान्—आधिकरणे द्वि-दीनारिवक्य—कुल्यवापेन शश्वत् काल्-ओपभोग्य्-आक्षय—नीवी—समु (दय-वा) ह्य—आप्रतिकर—

(१२) (खिल ❀)—क्षेत्र—वास्तु—विक्कयो=नुवृत्तस्=तद=यद=युष्मामृ[७]=ब्राह्मण—नाथ—शर्म्मा एतद् भार्य्या रामी च पलाशाट्ट—पार्श्विक—वट—गोहालीस्थ[८] (?)—य

❀ Epi. Ind. Vol. xx, pp. 61-63 by K N. Dikshit.

१—ताम्रपत्र में युक्तका आर्य्य है—इस पाठ से सूचित होता है कि दो से अधिक आयुक्तक थे ।

२. एव् पाठ पढ़ें । H. Shastri Connects the name with नव्यावकाशिका:

३. १३ वीं पंक्ति में पञ्चस्तूप—कुल—निकायिक है—अस्तु यहाँ भी इसी अर्थ का द्योतक है। यहाँ पाँच निकायों का आशय नहीं है किन्तु यहाँ निकाय का अर्थ (जैनाचार्यों की) शाखा है । पंच-स्तूप किसी स्थान का नाम होना चाहिये । श्रुतावतार कथा में सेन संघकी उत्पत्ति इस प्रकार है कि जो मुनि पंच-स्तूपों में से आये वे सेन संघ के नामधारी हुए ।

४. इसमें त् अत्यधिक है ।

५. इसके बाद कई अक्षर नष्ट हो गए हैं ।

६. दामोदरपुर के शासन से मालूम होता है कि अवधारणया के पहिले पुस्तपालों के नाम थे ।

७. युष्मान् पढ़िये । ८. ऊपर की छठी पंक्ति से मिलान करें ।

पृष्ठ भाग

(१३) (काशि)⋯⋯क-पंच-स्तूप — कुल—निकायिक—आचार्य्य—निग्रन्थ—गुहनन्दि—शिष्य—प्रशिष्य्—आधिष्ठित-सद्—विहारे अरहताम्[९] गन्ध-(धूप्)-आद्य्—उपयोगाय

(१४) (तल-व् ❀) आटक-निमिताञ्=च तत्र्—ऐव वट-गोहाल्यां वास्तु-द्रोणवापम्=अध्य-र्द्धं क्षेत्राञ्=जम्वुदेव-प्रावेश्य—पृष्ठिम—पोत्तके द्रोणवाप—चतुष्टयं

(१५) गोपाट पुञ्जाद्=द्रोणवाप—चतुष्टयं मूल—नागिरट्ट—प्रावेश्य—नित्व—गोहालीतो द्रो-णवाप—द्वयम्=आढवा (प-द्व) य्—आधिकम्=इत्य्=एवम्=अ—

(१६) ध्यर्द्धं क्षेत्र-कुल्यवापम्=प्रार्थयते=त्र न कश्चिद्=विरोधः गुणस्=तु यत्=परम—भट्टारक—पादानाम्=अर्थ=ओप-चयो धर्म्म-षड्—भाग्—आप्याय—

(१७) नञ्—च भवति तद—एवन्=क्रियताम=इत्य=अनेन्=आवधारना+क्रमेण्—आस्माद्—ब्राह्मण—नाथ—शर्म्मत एतद्—भार्य्या — रामियाश्—च दीनार—त्र

(१८) यम्=आयीकृत्य्=ऐताभ्यां विज्ञापितक—क्रम्—ओपयोगाय्=ओपरि — निर्द्दिष्ट=ग्राम—गोहालि—केषु: तल-वाटव—वास्तुना सहक्षेत्रं

(१९) कुल्यवाप अध्यर्द्धो=क्षय—नीवी—धर्मेण दत्तःकु १ द्रो ४ (1 ❀) तद्=युष्माभिः स्व-कर्म्मण् × —आविरोधिस्थाने पट्क—नडैर्=अप—

(२०) विञ्च्छ्य दातव्यो=क्षय—नीवी—धर्मेण च शश्वद्=आचन्द्र—आर्क्क—तारक—कालम्=अनु—पालयितव्य इति (। ❀) सम् १०० ५० ६

(२१) माघ दि ७ (। ❀) उक्तञ्—च भगवता व्यासेन (। ❀) स्व-दत्तां पर-दत्तां वा यो हरते वसुन्धराम् (। ❀)

(२२) स विष्ठायां क्रिमिर[१०]=भूत्वा पितृभिस्=सह पच्यते (॥ ❀) षष्टि—वर्ष—सहस्राणि स्वर्गे वसति भूमिदः (। ❀)

(२३) आक्षेता च=आनुमन्ता च तान्य्=एव नरके वसेत् (॥=) राजभिर्=व्वहु—भिर्=दत्ता दीयते च पुनः पुनः (। ❀) यस्य यस्य

(२४) यदा भूमि[११] तस्य तस्य तदा फलम् (॥ ❀) पूर्व्व-दत्तां द्विजातिभ्यो यत्नाद्=रक्ष युधिष्ठिर (। ❀) महीम्=महिमताम् श्रेष्ठ

(२५) दानाच्=छ्रेयो नुपालनं (॥ ❀) विन्ध्य्=आटविष्व्=अनम्बुषु शुष्क—कोटर—वासिन (: ।) कृष्ण्=आहिनो, हि जायन्ते देव-दायं हरन्ति ये (॥)

---

९. अर्हताम् पढ़िये ।

× स्व-कर्मणा विरोधि-स्थाने

१०. कृमिर पढ़िये ।

११. भुमिस् पढ़िये ।

लेख का सारांश

नाथ शर्मा नामक ब्राह्मण और उसकी धर्मपत्नी रामी ने पुण्ड्रवर्द्धन के आयुक्तक (District officer) जिला अफसर और नगर श्रेष्ठी (Mayor) के निकट जा निवेदन किया कि स्थानीय प्रचलित रीत्यानुसार उनको दक्षिणांशक वीथी और नागिरट्ट मण्डल में अवस्थित चार विभिन्न ग्रामों की १½ कुल्यवाप भूमि के मूल्यस्वरूप तीन दीनार अधिष्ठान अधिकरण (City council) में जमा करा देने की अनुमति दी जाय। क्योंकि वटगोहाली के विहार के अर्हन्तों की पूजा के प्रयोजनीय चन्दन, धूप, पुष्प, दीप आदि के निर्वाहार्थ तथा निर्ग्रंथाचार्य गुहनन्दि के विहार में एक विश्राम स्थान निर्माण कराने के लिए यह भूमि सदा के लिए दान दी जायगी। इस विहार के अधिष्ठाता बनारस के पञ्चस्तूप निकाय संघ के आचार्य गुहनन्दि के शिष्य प्रशिष्य हैं।

भूमि परिमाण

पृष्ठिम-पोत्तक, गोवाटपुञ्जक और नित्वगोहाली ग्रामों में क्रमानुसार ४, ४ और २½ द्रोणवाप परिमाण क्षेत्र और वाटगोहाली की १½ द्रोणवाप परिमाण आवास भूमि।

(अधिष्ठान आधिकरण) सभाने प्रथम, पुस्तपाल (Record keeper) दिवाकर नन्दि से परामर्श किया। पुस्तपाल ने बताया कि इस कार्य में कोई आपत्ति नहीं है। दूसरे राजकोष में कुछ आय-प्राप्ति के अतिरिक्त इस दान से जो पुण्य होगा उसका षष्टांश पुण्य महाराज को प्राप्त होगा, अस्तु। सभा ने ब्राह्मण दम्पति के प्रस्ताव को स्वीकार कर लिया और भूमि हस्तान्तर को लिपिवद्ध किया।

विभिन्न ग्रामों के (जहाँ ये क्षेत्र थे) प्रधानों को सभा ने क्षेत्रों की चौहद्दी निर्देश करने के लिए कहा।

इसकी तिथि माघ कृष्णा ७ गुप्ताब्द १५९ (सन् ४७९) है। अन्त में प्रचलित अगंल प्रार्थी पद्य है।

इस ताम्रशासन से बंगाल के उस प्रान्त में प्राचीन काल में भूमि क्रय और दान करने के लिए किस प्रकार की कार्य-प्रणाली का उपयोग होता था, इसका परिचय भलीभाँति हो जाता है।

इच्छुक दानकर्त्ता आयुक्तक (District officer) और अधिष्ठान आधिकरण (City Council) के मुखिया नगर श्रेष्ठी (Mayor) के निकट गये और निर्धारित मूल्य पर दान के लिए भूमि बिक्री करने के लिए निवेदन किया। इस पर आयुक्तक और अधिष्ठान आधिकरण ने जिज्ञास्य विषय को मीमांसार्थ (जांच-पड़ताल के लिए) पुस्तपाल* (Record keepers) के हाथ में अर्पण कर दिया। पुस्तपाल आवश्यक अनुसन्धान कर (Transaction) सौदे के पक्ष में अनुमति देते हुए अपनी विवृति (Report) पेश कर दी। तत्पश्चात् शासनकर्तृवर्ग ने प्रार्थी से आवश्यक मूल्य वसूल कर लिया और उन गांव के मुखिया और अन्य गृहस्थों को सूचना दे दी कि भूमि को माप कर प्रार्थी को दे देवें।

इस दानपत्र में भूमि माप का परिमाण धान्य (बीज) के अनुसार है अर्थात् कुल्यवाप। १ कुल्यवाप=८ द्रोण=३२

* एक पुस्तपाल प्रधान होता था और उसके आधीन कई पुस्तपाल होते थे।



आढक = १२८ प्रस्थ। कुल्यवाप का आशय उतनी भूमि से है जितनी एक कुल्य धान्य (वीज) से बोई जाय। इस दानपत्र में द्रोणवाप और आढ़वाप भूमिमाप भी है।

दानपत्र में समय सं० १५६ माघ दी० ७ लिखा है। यह संवत् सम्भवतः गुप्ताब्द है। जिस समय का यह दानपत्र है, उस समय बंगाल में गुप्ताब्द प्रचलित था। तदनुसार गणना करने से जनवरी सन् ४७६ का यह लेख है।

दानपत्र की सोलहवीं पंक्ति में परम भट्टारक शब्द उस नृपति से सम्बन्ध रखता है जिसके शासनकाल का यह दानपत्र है। पर इसमें उस नृपति का नाम नहीं है। दामोदरपुर * के दानपत्रों से विदित है कि इस समय बुद्धगुप्त के राज्यान्तर्गत पुण्ड्रवर्द्धन भुक्ति थी। अस्तु, बहुत सम्भव है कि इस दानपत्र के निरुल्लिखित नृपति बुद्धगुप्त ही थे। उनका राज्यकाल सन् ४७६ से ४६५ था।

पंच स्तूपान्वय

इस ताम्रशासन की छट्टी और १३ वीं पंक्तियों में "काशीक पंचस्तूपान्वय" का उल्लेख हुआ है। जैन संघों के इतिहास पर प्रकाश डालने का प्रयत्न अभी तक सन्तोषपूर्ण नहीं हुआ है। जैन ग्रन्थों से पता चलता है कि इस पंचस्तूपान्वय के संस्थापक पौण्ड्रवर्द्धन के श्री अर्हद्बल्याचार्य थे। आप अपने समय के बड़े भारी संघनायक थे।

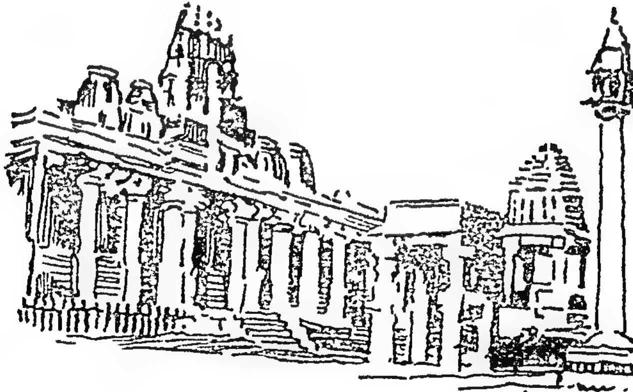
एक बार युग प्रतिक्रमण के समय उन्हें यह ज्ञात हुआ कि अब पक्षपात का जमाना आ गया है। उन्होंने यह विचार किया कि मुनियों में एकत्व की भावना बढ़ाने से ही लाभ होगा। अतः आचार्यश्री ने नन्दि, वीर, देव, अपराजित, सेन, भद्र, पंचस्तूप, गुप्त, गुणधर, सिंह, चन्द्र आदि नामों से भिन्न-भिन्न संघ स्थापित किये❀। अर्हद्वलि का समय वीर निर्वाण सं० ७१३ के लगभग पं० जुगलकिशोरजी ने लिखा है †। किन्तु नन्दि संघ की पट्टावली के अनुसार उनका समय वीर निर्वाण सं० ५६३ वर्ष होता है ×।

❀ Api. India Vol xv pp 113-45

❀ श्रुतावतार (मा० ग्रं० नं० १३)

† स्वामी समन्तभद्र पृ० १६१

× भास्कर भाग १ किरण ४







बंगाल के एक हिन्दी कवि—चेतनविजय

श्री अगरचन्द नाहटा

बंगाल से जैन धर्म का सम्बन्ध अति प्राचीन है। यहां भगवान् महावीर का विहार हुआ था, उनके पश्चात् भी जैनाचार्यों के कुल, गण आदि के नाम बंगाल से ही संबंधित प्रतीत होते हैं। ताम्रलिप्ति, पौण्ड्रवर्द्धनी आदि श्रमण शाखाएं इस बात का स्पष्ट निदर्शन है। पहाड़पुर आदि से प्राप्त ताम्रशासन व जैन-अवशेष तथा बंगाल के कई जिलों में प्राचीन जैन प्रतिमाएं भी प्राप्त हुई हैं। मानभूम, वीरभूम आदि में बसने वाली सराक- श्रावक जाति में जैन संस्कार मात्र रह गये हैं, क्योंकि श्रमण संघ पूर्व देश को छोड़कर उत्तर, दक्षिण और पश्चिम भारत में विचरने लगा था। मध्यकाल में बंगाल से जैन धर्म का सम्बन्ध क्षीण हो जाने पर भी यदा-कदा तीर्थयात्रादि के हेतु जैन मुनियों का आवागमन रहा है, पर उनका सम्बन्ध बंगाल के असली अधिवासियों से न होकर मात्र व्यापारार्थ आये हुए प्रवासी जैनों से ही रहा। सतरहवीं शती से राजस्थानी जैन—जगत-सेठ आदि का प्रभाव बंगाल में बढ़ा और बीकानेर, जोधपुर, किसनगढ़ आदि स्थानों के ओसवाल बन्धु अजीमगंज, जियागंज, बालूचर, महिमापुर आदि स्थानों में अठारहवीं शती से पर्याप्त प्रमाण में आकर बसने लगे। गत दो सौ वर्षों में केवल मुर्शिदाबाद और कलकत्ता ही नहीं, पर समूचे पूर्व भारत—आसाम, बंगाल में जैनों का सर्वतोमुखी प्रभुत्व छा गया। मन्दिर, उपाश्रयों का निर्माण हुआ। गुरुजनों को भक्ति-पूर्वक आमन्त्रित कर बुलाया जाने लगा और जैन श्रमणों का विहार क्षेत्र इस देश में भी विस्तृत हो गया। १८वीं शती से बंगाल में निरन्तर राजस्थान से यति-मुनियों का आवागमन होता रहा और चातुर्मास होते रहे। १८ वीं शती के शेषार्द्ध में जगत-सेठ की धर्मनिष्ट मातुश्री माणकदेवी का चरित्रमय रास यति निहाल कवि ने बनाया। इनकी बंगाल की गजल भी महत्वपूर्ण है। उसके बाद भी जो-जो यति-मुनि आए, उन्होंने कतिपय रचनाएं बंगाल में रह कर बनाया हैं। इनमें काव्यमर्मज्ञ योगिराज श्री ज्ञानसार जी का पूर्व देश वर्णन बहुत ही सुन्दर है। अबतक बंगाल में जैन कवियों और विद्वानों द्वारा रचित जो भी साहित्य मिला है, वह राजस्थान से आये हुए व्यक्तियों का है। प्रस्तुत लेख में हम एक ऐसे जैन कवि का परिचय दे रहे हैं, जिनका जन्म ही बंग देश में हुआ था और अजीमगंज में की हुई



उनकी प्रचुर रचनाएं प्राप्त हुई हैं। इस कवि का नाम है—चेतनविजय।

चेतनविजय के जन्म-स्थान, जन्म-समय, वंश आदि का तो निश्चित पता नहीं चला, पर उन्होंने अपनी लघु-पिंगल नामक रचना में अपना इस प्रकार का परिचय दिया है :—

ऋद्धिविजय वाचक गुरु बहु आगम के जान।
तस शिष्य लघु चेतन भए जनमे बंग सुथान ॥१०६॥
दीक्षा ले यात्रा किये, फिर आये निज देश।
संगत पाए साधु की मेटे सकल कलेश ॥११०॥

अर्थात् इनका जन्म बंग देश में हुआ और दीक्षा लेकर अन्य प्रान्तों की यात्रा कर पुनः अपने देश में आकर सं० १८४७ में इस लघु-पिंगल ग्रन्थ की रचना की। आपकी रचनाओं का संग्रह गुटका पुरातत्व एवं कलामर्मज्ञ स्वर्गीय पूरणचन्द्र जी नाहर के संग्रह में उपलब्ध हुआ है। इसमें नाथनगर के गुण गरीब वखतावरनाथ को चेतनविजय के लिखे हुए तीन पत्रों की नकल भी है जिसमें उनके साथ वाल्यकाल के सम्बन्ध का उल्लेख भी कवि ने किया है। उन पत्रों के कुछ पद्य यहां दिये जा रहे हैं :—

स्वस्ति अविचल नाम परताप,
दया धर्म चित राखो आप।
नाथनगर उत्तम सुथान,
तिहाँ वसै प्रीतम गुण खान ॥
वंग देश में चेतन वसै,
गंग निकट काया निज कसै।
गुण गरीब वखतावरनाथ,
धर्म ध्यान काजे इक साथ ॥

× × ×

लघु वय की वाणी, मन में आणी, क्यूं विसरानी साच कहो।
तन की नहीं आशा, जीवन खासा, वधे हुलासा पास रहो ॥
हम तुमको चाहें, निजघट मांहें, प्रीत निवाहें लघु वय की।
अस सग्र की वातें, हम तुम गाते, नहिं विसराते निर्भय की ॥
फिर नहिं इह काया, अव के पाया, छोड़ माया काज सरे।
आखिर है जाना, जीव विराना, नाहीं पिछाना काह डरे ॥
तुम भय मति आनो, करि जिनवानो, आभा जानो निज मनमें
सुध चेतन गावे, सीख सुहावे, जो तुमरे माने मन में ॥

इह शिक्षा जो मन धरो, तो आवो हम पास।
नहीं तो सुख सु तुम रहो, मन मत करो उदास ॥
असाता मास तीन का, पाए तुम निज गात।
सुनके दुख हमको भई, विधना जाने वात ॥
हम तुम जिवड़ा एक है, तुम मत जानो दोय।
अनहोनी होनी नहीं, होनी होय सो होय ॥

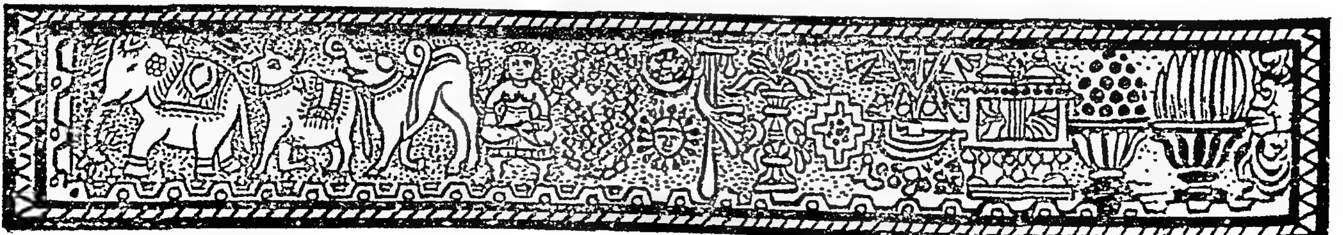
× × ×

लघु वय हम करते वात, सो नहीं विसरो दिन रात।

उपर्युक्त पद्यों से चेतनविजय का नाथनगर के गुण गरिय वखतावरनाथ की वाल्यकाल की प्रीति का पता चलता है। संभव है चेतनविजय का घर या ननिहाल उसके आस-पास रहा हो।

अपनी गुरु परम्परा का अधिक परिचय कवि ने अपने सीता चरित्र की प्रशस्ति में दिया है। अतः उसके आवश्यक पद्य यहां उद्धृत किये जा रहे हैं।

श्री गुरु पद हूँ वंदू भावे, हीरविजयसूरि रायाजी।
तास शिष्य शुभ निर्मल साधु, **सोमविजय** उवझायाजी ॥
तेहना शिष्य वाचक पदधारी, **चारित्रविजय** गुरुदेवाजी।



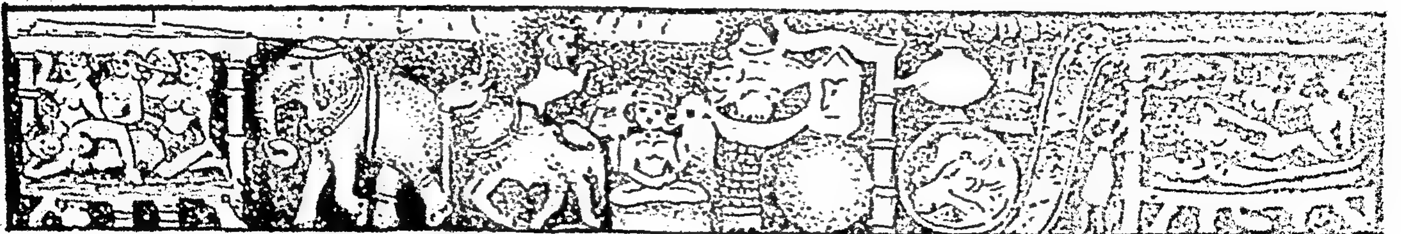
तस पद सोभे पुण्यास पदवी, धर्मविजय करूं सेवाजी ॥
तिनको शिष्य मणिधर जानो, भीमविजय पन्यासोजी।
मुक्तिविजय तस पद सोभे, पुण्यास बहु अभ्यासोजी ॥
तेना शिष्य पुन्यास गुणवंता, प्रमोदविजय गुरु रायाजी।
तास पटे गहु विद्याधारी, रिद्धिविजय उवझाया जी ॥
तेना शिष्य शुद्ध चेतन गायो, सीता चरित मन आनीजी।
शील-उपदेशमाला थी जानों, आगम थकी सुनवानीजी।

इन पद्यों से वे सुप्रसिद्ध जैनाचार्य श्री हीरविजयसूरि की परम्परा में थे, ज्ञात होता है। सूरिजी के शिष्य उपाध्याय सोमविजयजी, उनके शिष्य चरित्रविजय वाचक, फिर क्रमशः पन्यास धर्मविजय, भीमविजय, भक्तिविजय, प्रमोदविजय के शिष्य उपाध्याय ऋद्धिविजय के आप शिष्य हुए। लघुपिंगल के निर्देशानुसार ऋद्धिविजय के ये लघु शिष्य थे, अतः कवि से पूर्व दीक्षित और भी शिष्य होने चाहिए। बालूचर के आदिनाथ मन्दिर को ऋद्धिविजय के शिष्य भावविजय के उपदेश से बनवाने का शिलालेख मिलता है। ये भावविजय कवि के बड़े गुरु-भ्राता थे। इनके साथ गंभीरविजय और भूपविजय का भी इस शिलालेख में उल्लेख आया है।

इनकी रचनाओं की भाषा हिन्दी और राजस्थानी है। अजीमगंज में तब ये दोनों भाषाएं मिश्रित सी बोली जाती थीं। चेतनविजय की अधिकांश रचनाएं राजस्थानी प्रधान हैं। इसलिए ये राजस्थान से आये हुए बंग देश के निवासी ओसवाल आदि जाति के होंगे, ऐसी सम्भावना है।

कवि चेतनविजय की प्राप्त रचनाओं में संवतोल्लेख वाली प्रथम रचना "धर्म चरित्र" सं० १८३० आश्विन शुक्ला ११ रविवार को अहमदाबाद में रची गई थी। इससे इनका जन्म सं० १८०० के आसपास होना अनुमानित है। संवत् १८३० में ये अपने गुरु के साथ गुजरात-अहमदाबाद गये और उधर भ्रमण करते हुए अन्तरीक्षजी आदि की यात्रा करके सं० १८४० के आसपास पुनः बंगाल पधारे। इसके बाद वे अधिकांश अजीमगंज में रहे मालूम देते हैं। वहां रहते हुए आपने लगभग ६००० श्लोक परिमाण में राजस्थानी व हिन्दी भाषा में रचनाएं की, जिनका परिचय नाहरजी के संग्रहस्थ गुटके से इस लेख में दिया जा रहा है। इस २५० पत्रों के गुटके में ३११ छोटी-बड़ी रचनाएं हैं। इस गुटके के थोड़े अन्तिम पत्र कट जाने से "जम्बू चरित्र" कुछ अपूर्ण रह गया है। यह गुटका कवि के समय में ही समय-समय पर लिखा जाता रहा है। सं० १८४५ से १८४७ यावत् १८५५ तक लेखन हुआ। इसके बहुत से पत्र तो सम्भवतः कवि के स्वयं लिखित हैं। सबसे अन्तिम रचना श्रीपालरास सं० १८५५ आश्विन सुदि ३ को महिमापुर में उद्योतविजय ने तपागच्छीय बाबू माणकचन्दजी के वाचनार्थ लिखी है। इस प्रकार यह गुटका १०-१२ वर्षों तक लिखा जाता रहा है। इसमें सं० १८३० से सं० १८५३ तक की रचनाएं संग्रहीत है। इसके बाद चेतनविजय कब तक विद्यमान रहे, यह अज्ञात है। सम्भव है १८६० के आसपास उनका स्वर्गवास हो गया होगा।

लघुपिंगल व आत्मबोध नाममाला--दोनों हिन्दी के छन्द व कोश-ग्रन्थ हैं। लघुपिंगल १११ पद्यों में एवं आत्मबोध नाममाला २७३ पद्यों में है, जो सं० १८४७ पोष सु०



२ और माघ सुदि १० को पूर्ण हुई थी। इनके अतिरिक्त बहुत से स्तवन व पद भी हिन्दी भाषा में हैं, अवशेष रचनाएँ राजस्थानी में है। बड़ी रचनाओं में 'सीता-चरित्र' सं० १८५१ वैशाख सुदि १३ के दिन अजीमगंज में निर्मित और श्रीपाल चरित्र सं० १८५३ फाल्गुन व०२ को रचित है। तीसरी बड़ी कृति जम्बू चरित्र यद्यपि इस गुटके में अधूरा है। पर जैन गूर्जर कविओ भाग ३ पृ० २० में उद्धृत अन्तिम प्रशस्ति के अनुसार सं० १८५२ श्रा० शु० ३ रविवार को अजीमगंज में यह ग्रन्थ पूर्ण हुआ था। यद्यपि उस ग्रन्थ में रचना संवत् का पाठ "अठारै बावने" का अठारेवां (पा) वने "पढ़कर सं० १८०५ लिख दिया था, पर चेतनविजय की अन्य दो रचनाएं "सीता चौपाई" व श्रीपाल रास, जिनकी प्रति बीकानेर में उ० श्री जयचन्दजी के भंडार में है, जिसकी हमने देसाई महोदय को सूचना दी तो उन्होंने अपने इस ग्रन्थ के पृ० ३३४ में सं० १८०५ की भूल बताते हुए सं० १८५० के बाद की सम्भावित लिख दिया। लघु-पिंगल और आत्मबोध नाममाला की प्रति हमारे संग्रह में भी हैं और हमने अपने राजस्थान के हिन्दी हस्तलिखित ग्रन्थों की खोज भाग-२ में इन दोनों ग्रन्थों का विवरण प्रकाशित किया है।

काव्य की दृष्टि से चेतनविजय मध्यवर्गीय कवि हैं। उनकी अधिकांश छोटी-छोटी कृतियाँ तीर्थङ्करों के गुणानुवाद के भक्ति गीत हैं और लगभग १०० रचनाएं पद-सझाय रूप में हैं जिनमें आध्यात्मिक भाव और औपदेशिक प्रेरणा ही प्रधान है। रचना-संवत् के उल्लेखवाली निम्नोक्त रचनाएँ हैं।

धर्म चरित्र सं० १८३० आश्विन सुदि ११ अहमदाबाद
अन्तरिक्ष पार्श्व स्त० सं० १८३६ मार्गशीर्ष सुदि १३
चिन्ताहरण स्त० सं० १८३७ पोष शुक्ला ५
चौवीसी कवित्त सं० १८४२ आश्विन शु० २
विघ्नहर स्त० सं० १८४२ मार्गशीर्ष सुदि ५
आदि अष्टक सं० १८४३ श्रावण कृष्णा ५
शान्ति छत्तीसी सं० १८४४ फाल्गुन कृष्णा ४
चौवीसी सं० १८४५ का० सु० १२ अजीमगंज
चौवीस जिन कुण्डलिया सं० १८४५ ज्ये० व० ६ अजीमगंज
कुण्डलिया छत्तीसी सं० १८४५ आषाढ़ सु० ३
सील सज्झाय सं० १८४५ कार्तिक वदि २
चौवीस जिन ११ बोल सं० १८४५ फाल्गुन शु० ८
विरहमान स्त० सं० १८४६ का० सु० ६
अन्तरीक्ष स्तवन सं० १८४७ मार्गशीर्ष वदि ४
लघुपिंगल भाषा सं० १८४७ पोष सुदि २
आत्मबोध नाममाला सं० १८४७ माघ सु० १०
अतिशय स्तवन सं० १८५० पौष सु० १३
सीता चरित्र सं० १८५१ वै० सु० १३ अजीमगंज
जम्बू चरित्र सं० १८५२ वै० सु० ३
श्रीपाल रास सं० १८५३ फा० सु० २ अजीमगंज

चौवीस तीर्थङ्करों के स्तवन तीन प्रकार के व चैत्य-वंदन चौवीसी, चारों को मिलाकर व बीस विहरमान के बीस स्तवन, ये लगभग १२० स्तवन एवं अक्षरानुक्रम ३५ पद व ३५ सज्झाएं हैं। इनमें से उदाहरण के तौर पर कुछ पद यहाँ दिये जा रहे हैं—



(१) राग-आसावरी

नाम सुधारस पीजै, निज मन समता कीजै ।ना०।
क्रोध मान माया जग फंदा, लोभ लहर तज दीजै ।१।
राग द्वेष में सुख दुख पावे, आतम काज न सीजै ।
पर संगत सौं न्यारे रहिए, समकित रंग में भीजे । २।
जगत जाल को ख्याल मिटावे, तो नहीं अनुभव छीजे
शील संतोष दोष निज घट में, परमातम पद लीजे । ३ ।
आवागमन को फेर न देखे, सिद्ध अरूपी कहीजे ।
चेतन शुद्ध होय सुख विलसे, आपा आप में दीजे । ४ ।

(२) राग-सारंग

मन मगन भए शुभ ध्यान में, ध्यान में ध्यान में ध्यान में ।म०
शुद्ध दृष्टि निज आतम देखे, परमातम के ज्ञान में । १ ।
संतोष सुधारस शील पियाले, छाके अमृत पान में ।
समकित पाय परस सुख पावे, बैठे अविचल थान में । २ ।
अगम अगोचर महिमा तेरी, नहीं आवे अजान में ।
घर में साहिब परचे कीजे, भरम नाहीं जहान में । ३ ।
जिनही पाया तिनहो छिपाया, भाखै नहीं पर कान में ।
चेतन चेत चपलता छोड़ो, भूले मत अज्ञान में । ४ ।

(३) राग-गौड़ी

योग जतन कर लीजे, शुद्ध मन योग ०
भेष बनाये जगत में डोले, आतम कारज न सीजे ।१!
माया ममता तज दे प्यारे, न्यारे करम को कीजे ।
सुख उपजे समता रस धारे, ज्ञान सुधारस पीजे । २ ।
निंदक वंदक इक सम जाने, नहिं हरखे नहिं खीजे ।
अपने मन में थिरता करके, आपो आप में रीझे । ३ ।
पर संगत तज भज निज सांई, एकाकी रहीजे ।
अविचल पावे सिद्ध शरण में, चेतन जुग-जुग जीजे । ४ ।

(४) ठप्पा

वंदा गंदा देह क्या गरव करे तन का ।
आखिर जिवड़ा निकल जायगा, रह जागा मन ही मन का ।१।
बालापन में खेल गमाए, तरुण चाह भई धन का
वृद्ध भए थिरता नहिं राखे, होय रया कीड़ा अन का ।२।
क्रोध मान माया लपटाने, दास भए जन जन का
समझ बूझ चेतन चित चेतो, सुध लीजे आनन्दघन का ।३।

(५) होरी

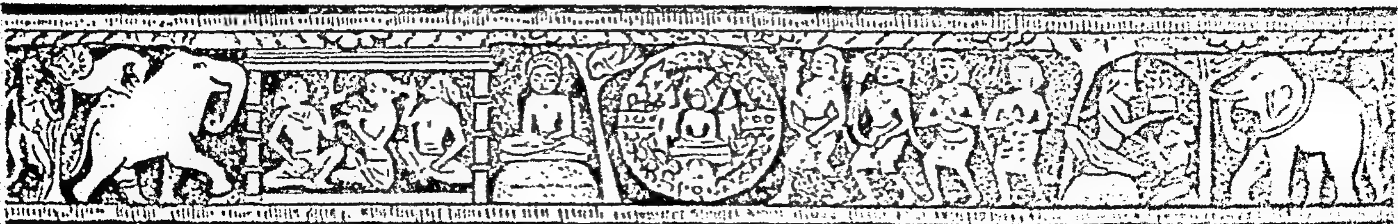
पाए नर अवतार होरी आतम खेले ।
फिर नहिं दाव मिलेगा, आपा आप निहार । हो० । १ ।
सरव चौरासी रूप बनाए, जीवन के गति चार ।
तन करताल बजे घट माँहि, मन मादल धोंकार । हो० । २।
धीरज ध्यान धरम को डफले, गावत आतम सार ।
ज्ञान गुलाल लाल रंग लाते, सुमति सखीसुं प्यार । हो०।३।
अव्रत अवीर धुपत को दारे, परमातम पद धार ।
ऐसा खेल भविक मन धारे, चेतन उतरे पार । हो० । ४ ।

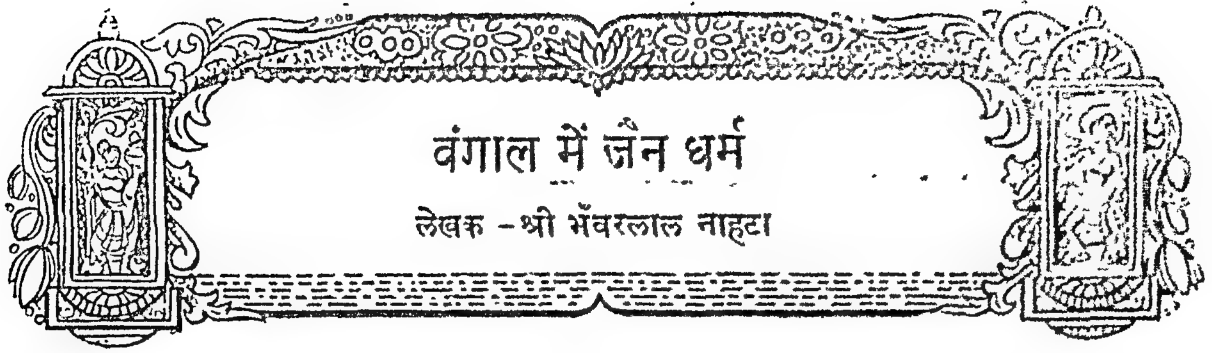
(६)

चंचल चित वस कीजिए, थिर मन कीजे रे ध्यान
निज पट के पट खोलिए, उपजे केवल ज्ञान ॥१॥
तू मत चूके रे प्राणिया, ए संसार असार
मात पिता सुत बंधवा, स्वारथ के परवार । २ ।
तन धन केवल कारमा, संध्या राग समान
क्षण एक में फिर जायगा, धूआं धवला २ जान । ३ ।
बाला तरुणादि वृद्ध में तूं नहिं चेते आप ।
तीनों पन तूं खोय के बहु करसी पछताप । ४ ।
हंसि हंसि कर्म न बांधियै नहिं छूटेगो रोय ।
आप किया फल पावसी, अवर न बाँटै रे कोय । ५ ।
जो सुख चाहे आतमा, तो समता गुण धार ।
चेतनता सुध होय के, चाले मुगत मझार । ६ ।

(७) भक्ति गीत

चरण शरण सो दीजे आदेश्वर भगवान ।
निशदिन ध्यावुं तुमको जिनजी साहिब गुण खान । १ ।
अबके तारो प्रभुजी मोकूं, सेवक अपनो जान ।
तुम से नहि को देवी देवा, देख्या सकल जहान । २ ।
प्रथम तीर्थंकर मेरे प्यारे मेरे, नाभिराय कुल भान ।
चेतन की अरजी चित ल्यावो, दो प्रभु वंछित दान । ३ ।





बंगाल में जैन धर्म

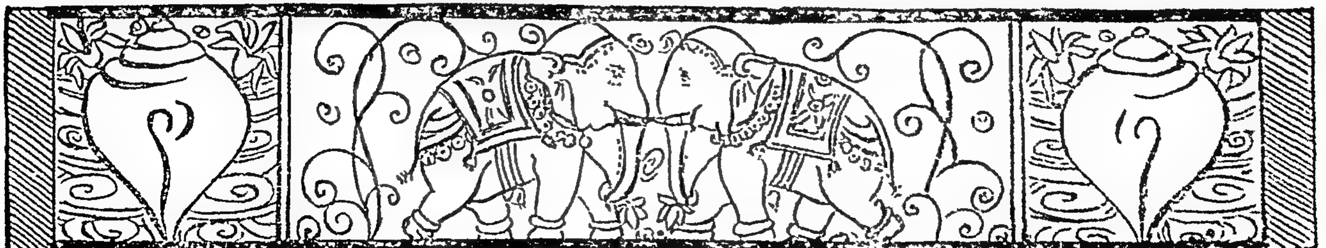
लेखक—श्री भँवरलाल नाहटा

भगवान् महावीर की जन्मभूमि एवं निर्वाणभूमि विहार प्रान्त जैन समाज के लिए तीर्थभूमि है। इसी विहार प्रान्त से संलग्न बंगाल है, जहां भगवान् महावीर ने विचरण किया था। उनसे पूर्ववर्ती तीर्थंकरों ने भी इस भूमि में अपना धर्म-प्रचार किया था जिससे हजारों वर्षों तक जैन धर्म को ही वङ्गाल का मुख्य धर्म होने का गौरव प्राप्त था।

सीमाओं का परिवर्तन समय-समय पर होता ही रहता है और आज जो प्रान्तों की सीमाएं हैं, वे प्राचीन काल के राज्यों या प्रान्तों की सीमाओं से भिन्न हैं; परन्तु क्षेत्र और स्थान तो वे ही हैं, उनके रूप और नाम भले ही बदल गए हों। वर्तमान विहार, वङ्गाल और उड़ीसा में लाखों की संख्या में रहने वाली "सराक" जाति ने इस लम्बी अवधि में भी पूर्णतया निरामिष भोजी रह कर अपनी प्राचीन जैन संस्कृति को आज तक अक्षुण्ण रखा है। "सराक" शब्द जैन धर्म के अनुयायी गृहस्थ वर्ग के लिए जैन शास्त्रों में प्रयुक्त "श्रावक" शब्द का ही अपभ्रंश रूप है।

पिछली शताब्दियों में इधर जैन धर्म का प्रचार नहीं रहने के कारण वर्तमान जैन समाज के पूर्वजों ने इन स्वधर्मियों को भूला दिया था, किन्तु कुछ वर्ष पूर्व ब्रह्मचारी शीतल-प्रसादजी ने सरकारी गजेटियरों के आधार पर "वङ्गाल, विहार, और उड़ीसा के जैन" नामक ग्रन्थ लिखकर सभी जैनों का ध्यान इस ओर आकर्षित किया जिससे इन क्षेत्रों के कतिपय स्थानों के साथ जैन धर्म के अटूट सम्बन्धों का पता चला है। उसका एक संक्षिप्त परिचय यहां प्रस्तुत करना आवश्यक है :—

वर्द्धवान-वर्द्धमान :—वर्तमान वङ्गाल को एक सुप्रसिद्ध नगर वर्द्धवान का नामकरण विद्वानों के मतानुसार चरम तीर्थंकर भगवान् महावीर—वर्द्धमान के नाम से ही सम्बन्धित है और आज का वर्द्धवान कालक्रम के प्रभाव से उसी वर्द्धमान का परिवर्तित रूप है। आज भी यहां कल्प-सूत्र आदि जैनागमों में उल्लिखित उग्रवंश के बहुसंख्यक लोग निवास करते हैं। उजानी गांव में १० वीं शती की व वर्द्धमान जिले के आडउपल ग्राम में दो समाधि स्थानों के बीच भगवान् शान्तिनाथ की कृष्ण पाषाण की सुन्दर प्रतिमा प्राप्त हुई हैं, जो अभी कलकत्ता की बंगीय साहित्य परिषद् में सुरक्षित है। यह मूर्ति २३॥ और १४ इंच की है। प्रभु के मस्तक पर छत्र और उभय पक्ष में देव दुन्दुभियुक्तदेव-देवियों तथा चामर वीजते हुए इन्द्रों की मूर्तियां भी हैं। "मेमारी" के पास थोड़े वर्ष हुए सतदेवलिया में प्राचीन जैन मन्दिरों से तीर्थंकरों की प्रतिमाएं प्राप्त हुईं। जिनमें से आशुतोष



म्यूजियम-संग्रहालय में लाकर रखी हुई चौमुख प्रतिमाएं विद्यमान हैं। इससे विदित होता है कि कुछ शताब्दियों पूर्व तक वर्द्धमान जिले में जैन धर्म का अच्छा प्रचार था।

वीरभूमि : वर्दवान के पडोसी वीरभूमि जिला में काफी संख्या में "सराक" जाति के लोग निवास करते हैं। "वीरभूमि" शब्द स्वयं ही जैन तीर्थंकर महावीर के लिए प्रयुक्त वीर प्रभु शब्द का परिचायक है और जिस भूमि या क्षेत्र में वीर प्रभु का विचरण हुआ हो उस अर्थ में यह वीरभूमि का संकेत है। वीरभूमि वर्णन नामक ग्रन्थ में में इस जिले के कई स्थानों में जैन प्रतिमाओं के होने का उल्लेख है। इसी तरह सिंहभूम नामक जिले का नामकरण भी भगवान् महावीर के सिंहलछन से सम्बन्धित प्रतीत होता है।

बांकुड़ा :—बांकुड़ा से एक मील को दूरी पर द्वारिकेश्वर नदी के तट पर बहुलारा नामक स्थान में एक जैन मंदिर का उल्लेख कनिंघम साहब ने भी अपने सर्व की आठवीं रिपोर्ट में किया। इस जिले के अन्य स्थानों में भी प्रचुर परिमाण में जैन प्रतिमाएं, तालाब, मंदिर आदि पाये जाते हैं। अभी हाल में ही पुरुलिया जिले के तालाजुड़ी गांव में, वहां के तालाब के निकट ऋषभदेव प्रभु की ३ फुट ऊंची एक बड़ी ही सुन्दर प्रतिमा मिली है, जो आज जैन बद्रीदास टेम्पल स्ट्रीट स्थित जैन इनफोरमेशन ब्यूरो मे सुरक्षित है। इतना ही नहीं मानभूम जिले के भूगोल को देखने से प्रतीत होता है कि यह प्रदेश जैन मन्दिर व मूर्तियों से भरा पड़ा है। मिदनापुर जिले का तामलुक ही जैन शास्त्रों एवं कथा-साहित्यों में वर्णित प्राचीन ताम्रलिप्ति नगरी है। ब्रह्म नेमिदत्त के आराधना-कथा-कोष में यहां एक जिनेन्द्र भक्त श्रावक के रहने का उल्लेख है जिसके चैत्यालय में रत्नमयी पार्श्वनाथ की प्रतिमा थी। इस क्षेत्र के उत्खनन कार्य में जैन पुरातत्व सामग्री उपलब्ध हुई है और उसमें प्रगति होने पर बहुत कुछ प्राप्त होने की सम्भावना है।

हुगली जिले के चिनसुरा में एक जैन मन्दिर है जिसमें कतिपय प्राचीन जैन प्रतिमाएं विराजमान हैं। राजगृह के शिलालेखों से यह विदित होता है कि यहां १९वीं शताब्दि में ओसवाल माणिकचन्द गांधी निवास करते थे जिन्होंने सं० १८१९ में रत्नगिरि के मन्दिरों का जीर्णोद्धार कराया और सं० १८२३ में उदयगिरि का प्रसादोद्धार करा के वहां अभिनन्दन, सुमतिनाथ और पार्श्वनाथ के चरण पादुकाओं की प्रतिष्ठा कराई गई थी। कलकत्ता से १० मील की दूरी पर हुगली नदी के तट पर कोन्नगर में एक-एक फुट ऊंची भगवान् पार्श्वनाथ की एक प्रतिमा प्राप्त हुई थी जो अभी कलकत्ता म्यूजियम में प्रदर्शित है।

खुलना और जसोर जिलों में निर्ग्रन्थ साधुओं के विहार का उल्लेख चीनी यात्री हुएनसांग ने भी अपने भ्रमण-वृतान्त में किया है। उसने अपने अन्य वृतान्त में यद्यपि स्पष्ट रूप से जैन शब्द या जैन मन्दिरों का उल्लेख नहीं किया है, परन्तु बौद्ध विहारों के अतिरिक्त अन्य सभी मन्दिरों के लिए उसने देव मन्दिर शब्द का प्रयोग किया है जिनमें जैन मन्दिर भी सम्मिलित हैं। परन्तु निर्ग्रन्थ साधुओं के भ्रमण की बात का स्पष्ट निर्देश जैन साधुओं के बंगाल में विहार करने का प्रमाण है और उससे यह स्पष्ट हो जाता है कि बंगाल में, जैन मन्दिर एवं श्रावकों की अच्छी बस्तियां अवश्य ही उस काल में भी थीं।



मालदा जिले का पुण्ड्रवर्द्धन नगर एक अति प्राचीन स्थान है जिसका वर्णन प्राचीन जैन ग्रन्थों में पर्याप्त रूप से है। राजशाही ज़िले के मन्देल स्थान पर खुदाई द्वारा शान्तिनाथ भगवान की प्रतिमा प्राप्त हुई थी एवं उस स्थान के निकटस्थ तालाव को खोदने पर भी दो अन्य जैन प्रतिमाएं मिली थी। यहां से प्राप्त ग्यारहवीं शती की आदिनाथ प्रतिमादि आशुतोष म्युजियम में है। इस जिले का पहाड़पुर नामक स्थान तो पुरातत्व के लिए अत्यन्त प्रसिद्ध है, जहां पांचवीं शताब्दि के प्राचीन जैन अवशेष प्रचुर परिणाम में प्राप्त हुए हैं। विशेष जानने के लिए इसी ग्रंथ के पृ० १०३ में छोटेलालजी जैन का लेख देखना चाहिए।

चटगांव जिले के सीताकुण्ड स्थानवर्ती संभवनाथ व चन्द्रनाथ टोकें भी संभवतः तृतीय और अष्टम जैन तीर्थंकरों के नाम से सम्बन्धित है। कुमिल्ला जिले से जैनों का सम्बन्ध प्राचीन काल में इतना अधिक था कि कल्पसूत्र में वर्णित खेमलिज्जिया नामक श्रमण शाखा यहीं से निकली थी। इस जिले के मैनामती स्थान में एक जैन तीर्थंकर की प्रतिमा प्राप्त हुई थी, परन्तु वह कहां रखी गई इसका ठीक पता नहीं लग सका है। परन्तु कुमिल्ला के रामलाल पुस्तकालय के अधीक्षक—सुपरिनटेन्डेन्ट श्रीयुत आर० एम० चटर्जी ने उस जैन प्रतिमा को स्वयं देखा था।

इस प्रकार प्राप्त पुरातत्व सामग्रियों एवं जैन ग्रन्थों के अनुशीलन से यह पता चलता है कि भगवान महावीर के पश्चात् कई शताब्दियों तक तो बंगाल में जैन धर्म का अच्छा प्रचार रहा। केवल बंगाल ही क्यो? जैनधर्म सुदूर आसाम में भी फैला हुआ था, गवाल पाड़ा से १२ मील दूरी पर स्थित सूर्यपहाड़ की गुफा में सहस्राब्दी पूर्व की ऋषभदेव और पद्मप्रभु भगवान की प्रतिमाएं इसके ज्वलन्त उदाहरण हैं। प्रचार ही नहीं, एक दिन यहाँ जैन धर्म का साम्राज्य था, परन्तु मध्यकाल में दुष्काल आदि प्रतिकूल परिस्थितियों के कारण श्रमण संघ दक्षिण एवं पश्चिम भारत में चला गया और उन्हीं क्षेत्रों में जैन साधु लोग विचरण एवं धर्म प्रचार और आत्म साधना करते रहे और भारत के इस पूर्वीय अंचल से उनका लोप-सा हो गया। जैन साधुओ के विहार के अभाव में भी यहां की जैन जनता कई शताब्दियों तक अपने परम्परागत धर्म को पालन करती रही, क्योंकि ग्यारहवीं शताब्दी तक तो जिन मन्दिर और प्रतिमाओं का भी निर्माण होता रहा है। अन्त में संरक्षक साधु संघ के अभाव में वे निर्ग्रन्थ धर्म को भूल गए और वे अन्यान्य परम्पराओं के प्रभाव में आ गए। फिर भी यहां की सराक जाति का अहिंसक आचरण इस बात का प्रत्यक्ष प्रमाण है।

विहार प्रान्त में जैन तीर्थंकरों से सम्बन्धित अनेक तीर्थ स्थान होने के कारण वहां समय-समय पर तीर्थयात्रादि प्रसंगों से जैनाचार्यो व जैन-श्रावकों का आवागमन होता रहा है। चौदहवीं और १५ वीं शताब्दि में विहार प्रान्त के कई स्थानों में मन्त्रिदलीय नाम की जैन जाति निवास करती थी, जो इस प्रान्त में तीर्थो के उद्धार का कार्य किया करती थी। मन्त्रिदलीय के लिए महत्तीयाण शब्द का प्रयोग अनेक ग्रन्थों में किया है। सन् १४१२ की राजगृह प्रशस्ति एवं १७ वीं शती की पावापुरी लेख-प्रशस्ति इस जाति के कीर्तिकलापों पर प्रकाश डालती है। पालगंज आदि राज-



घराने पूर्वकाल में जैन धर्मानुयायी थे, परन्तु उनका इतिवृत्त आज विस्मृत हो गया है।

बंगाल में जैन समाज का पुनरागमन

बंगाल का आदि धर्म तो जैन धर्म था ही जैसा कि श्री प्रबोधचन्द्र सेन एम० ए० ने भी अपने "बंगाल का आदि धर्म" नामक पुस्तक में अनेक खोजपूर्ण तथ्यों के आधार पर सप्रमाण लिखा है। परन्तु यह भी सत्य है जैसा कि पहले उल्लेख किया जा चुका है कि इस क्षेत्र से एक प्रकार से जैन धर्मानुयायियों, जैन साधुओं आदि के दुष्काल जनित पलायन के कारण यहां से उसका लोप सा ही हो गया था। आज जो बंगाल के विभिन्न स्थानों में जैनों की वस्तियां हैं और उनकी जो आबादी है, वह मूलतः पश्चिम भारत से आए हुए जैनों की है, जो यहां व्यापार धन्धों आदि के निमित्त से आए और बसते गए तथा उनकी संख्या में वृद्धि होती गई।

प्रवासी जैनों का सर्वप्रथम मुगलकाल में राजस्थान से आगमन हुआ और धीरे-धीरे बंगाल के नगरों में उनके एक विशेष प्रभुत्व का निर्माण हुआ। वे बड़े-बड़े जमींदार और व्यापारी हुए। उनका राजनैतिक क्षेत्रों में भी विशिष्ट प्रभुत्व था। ऐसे प्रभुत्व-सम्पन्न प्रतिभाशाली पुरुषों में सर्व-प्रथम जगतसेठ वंश का बंगाल में पदार्पण होने का प्रवाद है, किन्तु उनसे पहले भी यहां जैनों की वस्ती थी। तपा-गच्छीय मुनि श्रीसौभाग्यविजयजी ने सं० १७५० में अपनी तीर्थमाला में मक्षुदावाद और कासमबाजार आदि के संघों का उल्लेख किया है और मक्षुदावाद मुर्शिदावाद का ही नाम था। फिर भी इस बात में दो मत नहीं हो सकते है कि जैनों के लिए जगतसेठ का प्रादुर्भाव एक वरदान सिद्ध हुआ और स्वधर्मी वन्धुओं को उनसे विशेष प्रश्रय मिला। तीर्थों की उन्नति हुई और राजस्थानी प्रवासी उसी विटप के सहारे वल्लरी की भांति विकसित होते गए।

जगत सेठ के पूर्वज हीरानन्द साह सन् १६५२ में पटना आए और सन् १७११ में उनका स्वर्गवास हुआ। उनके जीवनकाल में बंगाल के अनेक स्थानों में उनकी कोठियां स्थापित हो गई थीं। सन् १७०१ में कारतलवखां को, जिसका नाम मुहम्मद हादी था, वादशाह औरंगजेब ने बंगाल का दीवान नियुक्त किया। वस्तुतः उसका जन्म ब्राह्मण कुल में हुआ था परंतु अनाथ दशा में ईरानी व्यापारी के हाथ पड़कर मुसलमान हो गया। तदनन्तर भारत आकर मुगल राज्य का एक सरकारी कर्मचारी हो गया और पद-वृद्धि होते-होते वह बंगाल का दीवान हो गया। इसी ने मकसूदावाद का नाम वदल कर मुर्शिदावाद किया। इसके पूर्व कारतलवखां के साथ जगतसेठ माणिकचन्दजी भी आए और सन् १६९७ के आसपास ढाका में कोठी खोली और वाद में मुर्शिदा-वाद में रहने लगे। सन् १७०२ वि० सं० १७५९ में मुर्शि-दावाद के महिमापुर में कोठी की स्थापना हुई। दीवान ने सेठ माणिकचन्दजी को राजस्व संग्रह करने का तथा टकसाल के प्रबन्ध का काम सौंप दिया जिससे बंगाल सूबे की अर्थ-व्यवस्था में पर्याप्त उन्नति हुई एवं जगतसेठ को भी उन्नति के शिखर पर आरूढ़ होने का स्वर्ण अवसर प्राप्त हुआ।

जगतसेठ ने सम्भवतः ढाका में जिनालय और दादा-वाड़ी की भी स्थापना की थी। यहां सम्वत् १७६१ में

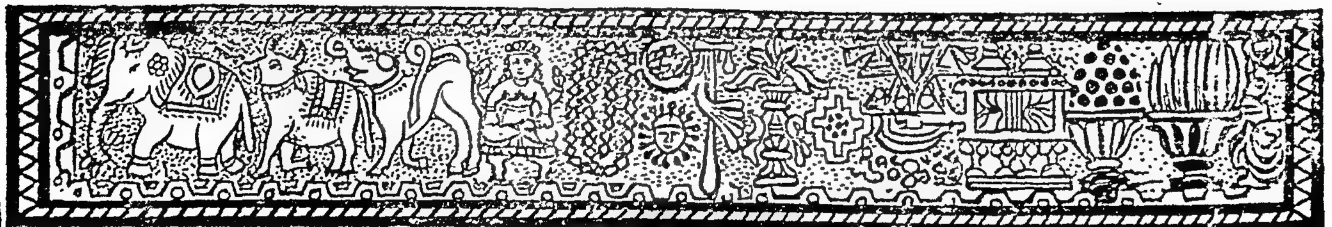


किशनगढ़ निवासी भोजक कविवृन्द ने 'वृन्द-शतसयी' की रचना की। वह सम्मेतशिखरजी भी यात्रार्थ गए थे और वहां का स्तवन बनाया था, ढाका में सतरहवीं शती में दिगम्बर जैन मंदिर भी था। सं० १७३२ में वहां सेरपुर में प्रतिष्ठा होने का उल्लेख नाहरजी के जैन लेख संग्रह लेखांक ३२६ के अभिलेख में पाया जाता है।

बंगाल में साधु, मुनिराजों और यति वर्ग का तीर्थयात्रा एवं चातुर्मास हेतु यहां आगमन हो चुका था। कासिमबाजार के मन्दिर में सं० १७८० माघ वदी ३ को पं० मुनिभद्र गणि के बनवाने और उ० कर्पुरप्रिय गणि के प्रतिष्ठा कराने के उल्लेख नाहरजी के जैन लेख संग्रह में लेखांक ८१ में पाया जाता है। सं० १७८१ आषाढ़ सुदी १० को सेठिया गुलाबचन्द ने यति हीरागिरिजी की पादुका निर्माण करवायी थी। सं० १८२१ माघ सुदी १३ को पायचन्द गच्छ के महोपाध्याय नित्यचन्द्रजी स्वर्ग सिधारे। दस्तूरहाट के जीर्ण मन्दिर के अभिलेख—नाहर लेखांक ८६ से विदित होता है कि सं० १८११ में गोखरू सभाचन्द अगरचन्द के पुत्र मुहकमसिंह ने भागीरथी के तट पर इस जिनालय का निर्माण करवाया था। सं० १८२१ मिति माघ सुदी १५ को कातेला सोभाचन्द मोतीचन्द ने महोपाध्याय समयसुन्दरजी की परम्परा में पं० हजारीनन्दजी के सदुपदेश से मकसूदाबाद (कीरतबाग, जीयागंज) में दादासाहब के चरणों का निर्माण करवा के महेन्द्रसागरसूरिजी से उसे प्रतिष्ठित करवाया था। इन्हीं सोभाचन्द के पुत्र गुजरमल व तनसुखराय के आग्रह से उपाध्याय क्षमाकल्याणजी महाराज ने महिमापुर में जयतिहुअण भाषा—४१ गाथा—की रचना की थी।

सामसुखा परिवार भी जैसलमेर से मकसूदाबाद आकर बस गया था और सुगालचंदजी ने सम्मेतशिखर महातीर्थ के जलमन्दिर का जीर्णोद्धार करवाया था। सं० १८२२ में स्यामला पार्श्वनाथ आदि पांच प्रतिमाओं को सूरत भेज कर माघ सुदी १३ के दिन प्रतिष्टा करवा कर मंगवायी थी। जैन रासमाला भाग १ पृष्ठ १८४ में इसका उल्लेख पाया जाता है। शिलालेखों से भी इनके मकसूदाबाद निवासी होना प्रमाणित है। महोपाध्याय समयसुन्दरजी की शिष्य परम्परा में पं० आशकरणजी के शिष्य आलमचन्दजी ने सं० १८१५ में वैशाख सुदी ५ को जीवविचार स्तवन गाथा ११५ की रचना मकसूदाबाद में इन्हीं सुगालचन्द के लिए की थी। इन्होंने सं० १८१४ माघ सुदी ५ को मकसूदाबाद में मौन एकादशी चौपाई तथा सं० १८१७ में प्रथम श्रावण शुक्ला २ के दिन त्रैलोक्य प्रतिमा स्तवन की रचना की। इन्हीं आलमचन्दजी ने सं० १८२२ में मिती मिगसर सुदी ४ के दिन सामसुखा सुगालचन्द के पुत्र मूलचन्द के लिए यहीं पर 'सम्यक्त्व कौमुदी चौपाई' की रचना की थी। सं० १८५४ श्रावण सुदी १ के दिन मकसूदाबाद वास्तव्य सामसुखा कीर्तिचन्द्रजी ने सुधर्मा स्वामी से लेकर खरतर पट्टावली पट्टक की प्रतिष्ठा शत्रुंजय महातीर्थ पर पू० उ० क्षमाकल्याणजी महाराज से करवायी थी। सं० १८४७ में मूलचंदजी के पुत्र धोंकलचन्द्र कीर्त्तिचन्द्र के आग्रह से उ० क्षमाकल्याणजी महाराज ने मकसूदाबाद में सूक्ति रत्नावली की स्वोपज्ञ वृति सहित रचना की थी।

मुगल शासन के अवसान काल में भी जबकि देश में अनीति और अराजकता थी, जैनी अपनी कुशाग्र बुद्धि और दूरदर्शिता के कारण विभिन्न क्षेत्रों में अपने प्रभुत्व को कायम रखने में सफल हुए। बंगाल के जन-जीवन में तो उन्होंने निर्णायक भूमिकाएं अदाकी। जगतसेठ के अवसान के पश्चात् भी परिवर्तित परिस्थितियों के अनुकूल अपने को ढ़ाला और व्यवसाय वाणिज्य के अलावा भी कला, साहित्य और संस्कृति के क्षेत्र में आशातीत सफलता प्राप्त की। उनका स्वधर्मीवात्सल्य अनुकरणीय था।



श्री जिनदत्तसूरिजी के चित्रमय प्राचीन काष्टफलक

श्री भँवरलाल नाहटा

भारतीय कला का सांगोपांग अभ्यास करने के लिए जैन चित्रकला और उसके क्रमिक विकास का अध्ययन अनिवार्य है। अजन्ता, इलोरा, सित्तनवासल आदि के भित्ति चित्रों की प्राचीनतम कलाकृतियों का दर्शन वहां का यात्री ही कर सकता था; पर उस कला की गतिशीलता तो वस्त्र पट, काष्टफलक कूटे व कागज पर चित्रित होने से हो लोगों के आवागमन से सारे देश में फैली और उसका सार्वत्रिक प्रचार संभव हो सका था। राज महलों व सम्पन्न घरों के भित्ति-चित्र भी तद्देशीय कला के अवश्य ही परिचायक हैं, पर स्थिर चित्रों की अपेक्षा-उपरि निर्दिष्ट चित्रों की यह विशेषता उल्लेख योग्य थी कि देश की भावात्मक एकता और आदान-प्रदान द्वारा लोक चित्रकला को नई मोड़ मिलती गई। इस प्रकार के चित्रकला उपादानों में काष्टफलक के चित्र सबसे ज्यादा टिकाऊ और रंग की चटक विशेष आकर्षक रहती थी। जैन ज्ञान भण्डारों में ताड़पत्रीय प्रतियों के काष्टफलक लगभग ९०० वर्ष प्राचीन मिलते हैं। इन चित्रों में प्राचीनतम चित्र श्रीजिनवल्लभसूरि और श्रीजिनदत्तसूरिजी के हैं। उनके थोड़े समय बाद कलिकाल-सर्वज्ञ हेमचन्द्राचार्य-कुमारपाल व वादिदेवसूरि-कुमुदचन्द के शास्त्रार्थ के भाव चित्रित काष्टफलक भी पाये जाते हैं। यहां दादासाहब श्रीजिनदत्तसूरिजी के चित्रों के सम्बन्ध में परिचय देना अभीष्ट है।

पं० लालचंद भगवानदास गांधी ने अपभ्रंश काव्यत्रयी में सर्वप्रथम उपर्युक्त दोनों महान् आचार्यों के चित्र प्रकाशित किए थे, जिन्हें हमने भी ३० वर्ष पूर्व अपने ग्रन्थों में प्रकाशित किये। जैसलमेर भाण्डागारीय ग्रन्थानां सूची के प्रति नं-२४१ चन्द्रपन्नति सूत्र की प्रति के काष्टफलक पर चित्रित एक महत्वपूर्ण पटडी जो इस समय जैसलमेर में थाहरूशाह के भंडार में विद्यमान है, उसका संक्षिप्त परिचय यहां दिया जाता है। प्रयत्न करने पर भी हमें अद्यावधि इस पट्टिका का फोटो नहीं प्राप्त हो सका।

यह काष्टफलक त्रिभुवनगिरि—तहनगढ़ (करौली से २४ मील) के यादव राजा कुमारपाल, जिन्हें श्रीजिनदत्तसूरिजी ने प्रतिबोध दिया था, द्वारा बनवाकर भेंट किया हुआ है। इसके चित्र पर "९ नरपति श्री कुमारपाल भक्तिरस्तु॥" लिखा हुआ है। इस फलक के मध्य में नवफण पार्श्वनाथ भगवान का जिनालय है जिसकी सपरिकर प्रतिमा में उभयपक्ष में हाथी पर इन्द्र व दोनों ओर नीचे चामरधारी अवस्थित हैं। दाहिनी ओर दो शंखधारी पुरुष खड़े हैं। भगवान के बाँये कक्ष में पुष्प चंगेरी लिए हुए भक्त खड़ा है जिसके पीछे दो व्यक्ति नृत्य व दो व्यक्ति वाद्ययंत्र लिए हुए हैं। जिनालय के दाहिनी ओर श्रीजिनदत्तसूरिजी की व्याख्यान सभा है।



आचार्यश्री के पीछे दो भक्त श्रावक एवं एक शिष्य व महाराजा कुमारपाल बैठा हुआ है। राजा के साथ रानी तथा दो परिचारक भी विद्यमान हैं। आचार्य श्रीजिनदत्त सूरिजी का परिचय चित्रकार ने "श्री जुगप्रधानागम श्री मज्जिनदत्तसूरय: ॥ ९ ॥" लिखा है। जिनालय के बाँयें तरफ श्रीगुणसमुद्राचार्यै: विराजमान हैं जिनके सामने स्थापनाचार्यजी व चतुर्विध संघ है। चित्रस्थित साधु का नाम पं० ब्रह्मचन्द्र है। पृष्ठ भाग में दो राजा हैं जिनका नाम चित्र के उपरि भाग में "सहणप [ा] ल व अनंग" लिखा है। साध्वीजी के सामने भी स्थापनाचार्य और उनके समक्ष दो श्राविकाएं हाथ जोड़े खड़ी हैं। इस काष्टफलक में जिस नवफण पार्श्वनाथ जिनालय का चित्र है, सूरिमहाराज की जीवनी के आधार पर हम कह सकते हैं कि यह जिनालय नरहड़-नरभट में उन्होंने स्वयं प्रतिष्ठापित किया था। गुर्वावली के अनुसार सं० १३७५-८० में तो यह स्थान महातीर्थ के रूप में प्रसिद्ध हो गया था। पार्श्वनाथ प्रभु की प्रतिमा को नवफण मंडित बनवाने की प्रथा गणधर-सार्धशतक-वृत्त्यानुसार श्रीजिनदत्त सूरिजी महाराज से ही प्रचलित हुई थी।

जैसलमेरस्थ श्रीजिनभद्रसूरिजी ज्ञानभंडार की सूची जब ४० वर्ष पूर्व बनी थी' तब यह काष्टपट्टिका जिस ग्रन्थ के साथ थी, उपर उल्लेख किया है। उससे पहिले किस ग्रन्थ के साथ थी, यह प्रमाणाभाव में बताया नहीं जा सकता; पर वह ग्रन्थ महाराज कुमारपाल यादव का लिखवाया हुआ था और उसमें अवश्य ही ऐतिहासिक प्रशस्ति रही होगी। अब उसकी उपलब्धि संभव नहीं पर जो तथ्य इस काष्टपट्टिका में है, उसकी प्रतिकृति प्रकाशित होने पर विशेष प्रकाश पड़ेगा अभी तो यथास्मृति उपर्युक्त परिचय सूचन मात्र ही कहा गया है। इसमें जिस पं० ब्रह्मचन्द्र का चित्र है, वे श्री जिनदत्तसूरिजी के शिष्य थे और उनकी सं० ११७१ की लिखी हुई पट्टावली पट पदानि की ताड़पत्रीय प्रति जैसलमेर भंडार में सुरक्षित है।

श्री जिनदत्तसूरिजी का एक महत्वपूर्ण चित्र पुरातत्त्वाचार्य श्री जिनविजयजी द्वारा भारतीय विद्या के सिंघीजी के संस्मरणांक में एवं "युगप्रधान श्री जिनदत्तसूरि" ग्रन्थ में प्रकाशित है, जिसमें दो कक्ष हैं। एक में श्री जिनदत्तसूरिजी के साथ नामोल्लिखित प्रतिकृति पंडित जिनरक्षित की है और दूसरे कक्ष में श्रीगुण (···समु) द्राचार्य तथा दूसरे सो...नामक साधु भी सूरिमहाराज के सामने बैठे हैं। काष्टफलक का किनारा टूट जाने के नाम खण्डित हो गये हैं। श्री जिनविजयजी ने गुणचन्द्राचार्य नाम लिखा है, पर गुणचंद्रगणि सुप्रसिद्ध देवभद्रसूरि ही थे, जिन्होने श्री जिनदत्तसूरिजी को सूरि पद दिया था। इस चित्र के श्री गुणसमुद्राचार्य कौन थे, यह पता नहीं लगा है, पर महाराजा कुमारपाल वाली पटड़ी के अतिरिक्त एक और काष्टपट्टिका के चित्र में भी यह नाम स्पष्टतया उल्लिखित है, के साथ श्री जिनदत्तसूरिजी का घनिष्ट सम्बन्ध आचार्य पद प्राप्ति से पूर्व ही था—प्रतीत होता है। श्री जिनरक्षित मुनि की संवत् ११७० धारानगरी में लिखित पट्टावली पटपदानि की प्रति उपलब्ध है और वह "अपभ्रंश काव्यत्रयी" में तथा ऐतिहासिक जैन काव्यसंग्रह में प्रकाशित है। ये शीलभद्र और अपनी माता के साथ श्रीजिनदत्तसूरिजी के पास दीक्षित हुए थे और सूरिजी ने इन्हें शीलभद्र, स्थि प

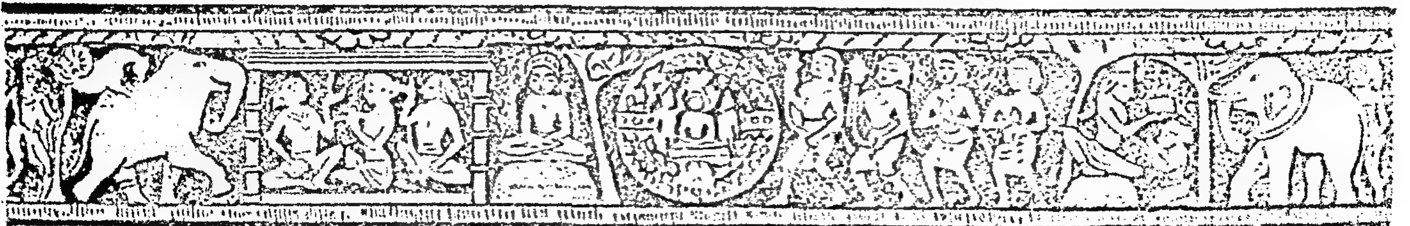


चन्द, वरदत्त आदि साधु एवं श्रीमती जिनमती, पूर्णश्री आदि साध्वियों के साथ वृत्ति-पंजिकादि लक्षण शास्त्रों का अध्ययन करने के लिए धारानगरी भेजा था और अध्यापन के पश्चात् वागड़ देश में बुलाकर ब्रह्मचन्द, जिनरक्षितादि १० साधुओं को वाचनाचार्य पद प्रदान किया था।

श्री जिनदत्तसूरिजी के चित्रों में प्राचीन अथवा दूसरे शब्दों में यह कहा जाय कि इस शैली का सर्वप्राचीन काष्टपट्टिका का चित्र जो सूरिजी के आचार्य पद प्राप्ति के पूर्व का है, उसका सचित्र परिचय कराना यहाँ अभीष्ट हैं। यह फलक-चित्र इस समय "शंकरदान नाहटा कला-भवन" बीकानेर में सुरक्षित है। सुप्रसिद्ध व्याख्यानदाता मुनिश्री कान्तिसागरजी महाराज द्वारा यह कला-भवन को प्राप्त हुआ था। यह काष्टपट्टिका ३ इंच चौड़ी और ११¾ इंच लम्बी है इसके चारोंओर बोर्डर है। इस चित्र के तीन खंड है। प्रथम खंड में आचार्यश्री गुणसमुद्र और सामने ही आसन पर सोमचंद्रगणि (श्री जिनदत्तसूरि) बैठे हैं। आचार्य महाराज के पृष्ठ भाग में पीठफलक है और सोमचंद्रगणि के नहीं है इससे उनका दीक्षा पर्याय में बड़ा होना प्रमाणित है। दोनों के बीच में स्थापना-चार्यजी हैं। दोनों के पास रजोहरण हैं और दोनों एक गोड़ा ऊँचा और एक नीचा किये प्रवचन-मुद्रा में आमने-सामने बैठे हैं। दोनों के श्वेत वस्त्र हैं। आचार्य महाराज के पीछे एक श्रावक बैठा है, जिसकी धोती जांघिये की तरह है, कन्धे पर उत्तरीय वस्त्र के अतिरिक्त कोई वस्त्र नहीं हैं, जो उस समय की अल्प वस्त्र प्रथा को सूचित करता है। श्रावक महोदय के गले में स्वर्ण हार है और एक गोड़ा ऊँचा करके करबद्ध बैठे हैं, उनके पृष्ठ भाग में दो श्रविकाए भी इसी मुद्रा में हैं, जिनके गले में हार व हाथों में चूड़ियां हैं व कानों में बड़े-बड़े केयूर है। वस्त्र सबके रंगीन और छींट की भाँति हैं; केशपाश का जूड़ा बन्धा हुआ है। श्रावक के मरोड़ी हुई पतली मूंछ और ढोडी के भाग को छोड़कर अल्प दाढ़ी है। श्रावक के खुले मस्तक पर घने बालों का गिरदा है। सोमचन्द्रगणि के पृष्ठ भाग में दो व्यक्ति बैठे हैं जिनकी वेशभूषा भी इनके सदृश ही है। चित्र शैली में तत्कालीन प्रथानुसार नेत्र की तीखी रेखाएं और दोनों आँखें इसलिए दिखाई हैं कि चित्र में एकाक्षीपन का दोष न आवे। चित्र के मध्य खंड में दोनों ओर बोर्डर तथा मध्य में फूल बनाया है, जिसके बीच में छिद्र है जो ताड़पत्रीय ग्रन्थ को डोरी पिरोकर बांधने में काम में आता था।

चित्र के दूसरे खण्ड में साध्वियों का उपाश्रय है। पट्टे पर प्रवर्त्तिनी विमलमति बैठी हुई हैं जिनके पृष्ठ भाग में भी पीठफलक सुशोभित है। सामने दो साध्वियाँ बैठी हुई हैं, जिनके नाम "नयश्री साध्वी" और "नयमतिम्" लिखा है, तीनों के बीच में स्थापनाचार्यजी रखी हुई है। साध्वीजी के पीछे एक श्राविका आसन पर बैठी हुई है जिसपर उनका नाम "नंदीसीर (?विका)" लिखा हुआ है। चित्रफलक का किनारा टूट जाने से जोड़ा हुआ है।

यह काष्टपट्टिका वर्तमान में प्राप्त फलकचित्रों में सर्वप्राचीन है। इसका समय श्री जिनदत्तसूरिजी के आचार्य पद प्राप्ति से अर्थात् संवत् ११६९ से पूर्व का है। इसमें आये हुए नाम भी इतः पूर्व हुए साधु-साध्वियों के हैं, जिनका अनुसन्धान गणधर-सार्द्धशतक-वृत्ति में भी नहीं है। अतः इसका समय ११५० के आसपास का है। इससे सम्बन्धित ग्रन्थ की अप्राप्ति में जिस श्रावक के बनवा कर भेंट की हुई है, बता सकना असम्भव है।



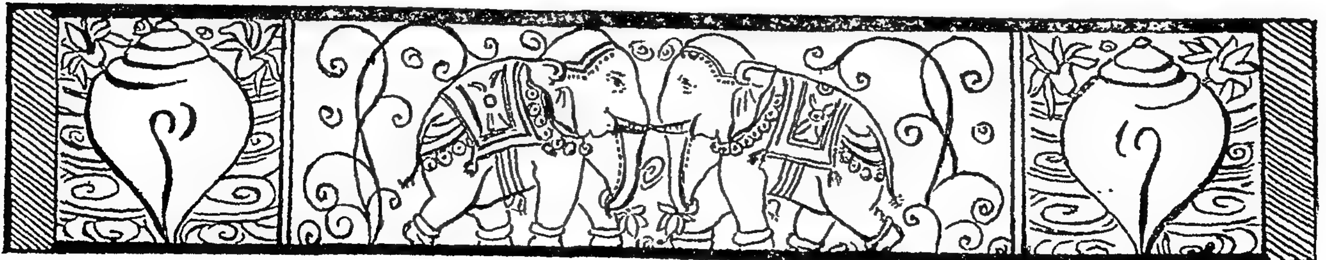


जैन स्तोत्र साहित्य

म० विनयसागर साहित्य महोपाध्याय, साहित्याचार्य दर्शन शास्त्री

भारतीय-साहित्य की अनेक विशेषताओं में से एक प्रमुख विशेषता उसका विशाल स्तोत्र-साहित्य भी है। भारत विशाल देश है। अनेक जातियाँ और विभिन्न धर्मों के अनुयायी यहाँ निवास करते हैं। भारतीय-संस्कृति के विकास में सभी का समान रूप से योगदान रहा है और संस्कृति और सभ्यता के आधारभूत साहित्य के विकास में भी वह किसी प्रकार कम नहीं कहा जा सकता। बौद्धों का साहित्य विशाल है, जैनों का भी। शैव, शाक्त और वैष्णव जो हिन्दुओं में गिने जाते हैं, उनके ज्ञान का अजस्र भंडार उसके साहित्य में लिपिबद्ध है। द्रविड़ भाषाओं का साहित्य किसी भी तरह भाषा और भाव की दृष्टि से आर्य भाषाओं के साहित्य से कम नहीं है। भील, संथाल, मुंडा आदि जातियों का लिखित साहित्य यद्यपि नहीं मिलता; किन्तु उनके प्राप्य लोक-साहित्य से उनके भावस्तर का अनुमान लगाया जा सकता है। यह कहना असंगत न होगा कि भारत में जो कुछ भारतीयता है, वह किसी विशेष जाति या धर्म की सम्पत्ति नहीं है, वरन् सभी जातियों की, सभी धर्मानुयायियों की सम्मिलित सम्पत्ति है। भारतीय विश्वास और विचारधारा पर भी सभी देशवासियों की छाप अमिट है और बहुमूल्य ही कही जा सकती है प्रत्येक जाति की देन। सारे देश को यदि हम समुद्र कहें तो उसके गर्भ में बिखरे हुए जो मोती हैं, उनको जन्मस्थान के आधार पर वर्गों में विभक्त नहीं किया जा सकता। समान आभा वाले, दो मोतियों को देखकर यदि उनका पारखी भी यह कहे कि "इनमें एक मोती तो खम्भात की खाड़ी का है, अच्छा है; दूसरा फारस की खाड़ी से किसी तरह बह कर आ गया है, वह पहले से कम मूल्यवान है।" तो उसकी बात पर मूर्ख भी हँसने लगेगा। वस्तु की विशेषता उसके गुणों से प्रकट होती है, वह जन्मदाताओं के गुणों पर निर्भर नहीं रहती। भारतीय साहित्य के विषय में भी यह बात उतनी ही सत्य है।

भारत के इस साहित्योद्यान में जाति-कुसुम भी हैं, रजनीगन्धा भी, यूथिका भी है, मल्लिका भी, पाटल भी है कुमुद भी, वकुल भी है, रसाल भी। सभी की शोभा दर्शनीय



है और सभी की सौरभ स्वर्गिक-आनन्द प्रदान करने में सक्षम है। एक की सुरभि दूसरे का विरोध नहीं करती और न इस बात से ही उनका विरोध है कि किस लता में किसने पानी दिया है। हो सकता है उद्यानपाल ने केवल एक ही जाति के पुष्पों की अभिवृद्धि में रुचिपूर्वक भाग लिया हो, दूसरी जाति के पुष्पों की अभिवृद्धि में उसके बालकों अथवा मित्रों का योग रहा हो; परन्तु प्रसून और उसके मकरन्द की शोभा व सुरभि पर तो इसका कोई प्रभाव नहीं पड़ा। भारतीय साहित्य की सम्पूर्णता में सभी जातियों का योग अवश्यमेव रहा है; किन्तु महत्व की दृष्टि से उनमें से किसी एक का योग किसी दूसरे के प्रयत्नों से कम नहीं हैं।

बौद्ध, जैन, हिन्दू या किसी अन्य विचारधारा से किसी का मतभेद हो सकता है, परन्तु उनके सत्य ने महान् विचारकों के मन में अवतरित होकर भारतीय ही नहीं, विश्वभर के मानव-समाज को मार्ग खोजने के लिए जो आलोक दिखाया है, उससे उस विचारधारा का विरोधी भी लाभान्वित हो सकता है। सभी के समन्वित प्रयत्नों का परिणाम—भारतीय साहित्य भी प्रत्येक भारतीय की सम्पत्ति है और वह उससे लाभ उठाने का अधिकार रखता है और उसकी विशेषताओं पर—गुणों पर गर्व अनुभव करने को स्वतन्त्र है।

स्तोत्र-साहित्य भारतीय साहित्य का हृदय कहा जा सकता है। सभी जातियों ने स्तोत्र रचना में अपना बहुमूल्य योग दिया है। बौद्धों ने बुद्ध भगवान् को, जैनों ने अर्हत् की, वैष्णवों ने विष्णु व उनके अनेक रूपों की, शैवों ने शिव को, शाक्तों ने भगवती दुर्गा की और अन्य लोगों ने अपने इष्टदेवों की स्तुति मधुरतम गीयमान स्तोत्रों द्वारा की है, आत्मनिवेदन किया है, श्रद्धा के प्रसून अर्पित किए हैं, यहाँ तक कि आदिवासी जातियों ने भी अपने संकेत-देवों (To tems) की स्तुति की है, जिनका अवशिष्ट रूप अब भी लोकगीतों में सुरक्षित है। पीपल आदि पेड़ों, सर्पों, जलाशयों आदि से सम्बन्धित गीत संकेत-देवों की स्तुतियों के अवशेष ही हैं।

भारत में समन्वयवादी साधना के जीते-जागते प्रतीक विभिन्न धर्मावलम्बियों के स्तोत्र हैं। स्तोत्रों के विषय भिन्न हो सकते हैं, उनमें इष्टदेवों के नाम भी अलग-अलग हो सकते हैं, किन्तु उन सभी का उत्पत्ति स्थल—हृदय एक है, जो जाति व धर्म की सीमाओं मे निबद्ध नहीं है। सभी स्तोत्रों के रचयिता मधुररस के उपासक हैं और इसीलिए वे इन सभी सीमाओं से परे—मानव जाति के हृदय का अनावृत्त दर्शन करके उसकी अनुभूतियों को शब्द-बद्ध करने में सफल होते हैं। यद्यपि स्तोत्रों में स्तोताओं की वैयक्तिक अनुभूतियों की ही अभिव्यक्ति होती है, किन्तु उनमें मधुरतम प्रवृत्ति—प्रेम की अनेकधा व्याख्या होने से मानवमात्र की अनुभूतियों का प्रतिनिधित्व करने की क्षमता विद्यमान रहती है।

स्तोत्रों की इस विशेषता के साथ ही एक और भी विशेषता है, जो उन्हें साहित्य की अन्य विधाओं से पृथक् स्थान प्रदान करती है। स्तोत्र द्वारा भक्त-हृदय स्वच्छन्दता-पूर्वक अपने भावों को इष्टदेव के सम्मुख प्रस्तुत करता है। हृदय का आवरणरहित स्वरूप उसमें देखा जा सकता है। निरावृत्त व मुक्त हृदय का आत्म निवेदन ऐसी भाषा में



अभिव्यक्त होता है, जिसे भापा न जानने वाला भी किसी-न-किसी तरह समझ लेता है। स्तोता की भापा विशुद्ध मानव-हृदय की भापा होती है जिस पर बुद्धि व तज्जन्य प्रपंचों का कोई प्रभाव नहीं पड़ता। स्तोता की मधुर अनुभूतियों को स्वत: ही मधुरतम शब्द मिल जाते हैं जिसके लिए रचना-कौशल की उतनी आवश्यकता नहीं जितनी अनुभूति की सघनता की। पावस-ऋतु में जैसे जीवनदायक मेघों की फुहार पड़ते ही बीजों में अंकुर उत्पन्न होने लगते हैं, उसी तरह सघन-अनुभूतियाँ मधुरतम शब्दों में मूर्त्त होने लगती है। इस कार्य में किसी तरह के प्रयत्नों का कोई हाथ नहीं होता।

साहित्य लोकमानस की अनुभूतियों का संचित रूप है, किन्तु लोक-मानस की अनुभूतियों का सच्चा दर्शन हमें स्तोत्रों में मिलता है। उनमें स्तोता का हृदय लोकमंगल के लिए क्रन्दन करता है और उसीके लिए हँसता है। उसके हृदय का स्पन्दन स्तोत्र को अनुप्राणित करता है। इसीलिए साहित्य की अन्यतम विधा के रूप में स्तोत्रों का महत्व सर्वोपरि है।

स्तोत्र-साहित्य का विकास

स्तोत्र का प्रारम्भिक रूप सृष्टि के प्राचीनतम लिखित ग्रन्थ ऋग्वेद में मिलता है। ऋग्वेद के ऋषियों ने प्रकृति की शक्तियों में दैवत्व का दर्शन करके, उनके विग्रह की अनेकधा स्तुति की है। स्तवन की यह परंपरा आदि-काल से ही चली आई है जिसका विकसित रूप ऋग्वेद में देखा जा सकता है। ऋग्वेद के स्तवनों में इन्द्र, वरुण, उपा आदि देवताओं से सम्बन्ध रखने वाले सूक्त भापा, भाव और शैली सभी दृष्टियों से उत्कृष्ट हैं और तत्कालीन मानव-मस्तिष्क की उदात्त अनुभूतियों के साथ-साथ अभिव्यक्ति कौशल का भी जीता-जागता स्वरूप हमारे सामने प्रस्तुत कर देते हैं।

उपा का स्वरूप देखिये—

उपो वाजेन वाजिनि प्रचेताः स्तोमं जुपस्व गृणतो मघोनि।
पुराणी देवि युवतिः पुरंधिरनु व्रतं चरसि विश्ववारे॥
उपो देव्यमर्त्या वि भाहि चन्द्ररथा सूनृता ईरयन्ती।
आ त्वा वहन्तु सुयमासो अश्वा हिरण्यवर्णां पृथुपाजसो ये॥

अर्थात्—हे अन्नवती तथा धनवती उपा, प्रकृष्ट ज्ञानवती होकर तुम स्तोत्र करने वाले स्तोता का स्तोत्र ग्रहण करो। हे सबके द्वारा वरणीया, पुरातनी, युवती की तरह शोभमाना और बहुस्तोत्रवती उपा, तुम यज्ञकर्म को लक्ष्य करके आती हो। हे मरण-धर्म-रहिता, सुवर्णमय रथवाली उपादेवी, तुम सत्य स्वरूप वचन का उद्घाटन करने वाली हो। तुम सूर्यकिरणों से प्रकाशित होओ। प्रभूत बलवाले जो अरुण वर्ण के अश्व हैं वे सुखपूर्वक रथ में योजित किए गए हैं वे तुमको वहन करें।

उपा के उक्त स्तव तथा अन्य देवताओं की स्तुतियों में सहज-सरल अनुभूतियों के साथ प्रसन्न गम्भीर भापा का अपूर्व सामंजस्य देखने को मिलता है।

सामवेद तो गेय स्तोत्रों का संकलन है ही; यजुर्वेद और अथर्ववेद में भी स्तोत्र मिलते हैं। अथर्ववेद के पृथ्वी-सूक्त के कुछ मन्त्र देखिये—

यस्याश्चतस्रः प्रदिशः पृथिव्या यस्यामन्नः कृष्टयः संवभूवुः।
या विभर्त्ति वहुधा प्राणदेजत् सानो भूमिर्गोष्वप्यन्ने दधातु।
यस्यां वृक्षा वानस्पत्या ध्रुवास्तिष्ठन्ति विश्वहा।



पृथिवीं विश्वधायसं धृतामच्छा वदामसि ॥
निधिं विभ्रति वहुधा गुहा वसु मणिं हिरण्यं पृथिवी ददातु मे ।
वसूनि नो वसुदा रासमाना देवी दधातु सुमनस्यमाना ॥

अर्थात् जिसकी चार दिशाएँ हैं, जहाँ कृषि की जाती है, जो अनेक प्राणियों की रक्षा करती है, वह मातृभूमि हमें गौओं और अन्न से संयुक्त करें। जहाँ चारों ओर वृक्ष और वनस्पति अडिग खड़े, हैं उस विश्वधारिका पृथ्वी माता का हम गुणानुवाद करते हैं। विविध वैभवों वाली पृथ्वी मुझे मणि व स्वर्ण प्रदान करें। प्रसन्न-वदना, वरदात्री और धनरत्नधात्री वसुधे, हमें अमित वैभव प्रदान कर।

पृथ्वी सूक्त में धारिणी-धरित्री के प्रति नमन करते हुए स्तोता उसका गुणगान करते हैं। इस प्रेम में राष्ट्रीयता का प्रारम्भिक रूप देखा जा सकता है। 'माताभूमिः पुत्रोऽहम् पृथिव्याः' की उद्घोषणा पृथ्वी-सूक्त में ही मिलती है। वेदों में इस प्रकार के अनेक स्तोत्र सुरक्षित हैं। देवताओं की स्तुति के लिए ही नहीं, राजाओं और विशिष्ट पुरुषों के सम्मान में भी स्तोत्र रचना की जाती थी। ऐसे स्तोत्र नाराशंसी कहे गए हैं।

वेदों की इस स्तोत्र-परम्परा का आगे के साहित्य में प्रभूत विकास हुआ है। रामायण, महाभारत, पुराणादि में यद्यपि स्तोत्र अलग करके नहीं लिखे गए हैं, फिर भी उन्हें अलग किया जा सकता है और ऐसा किया भी गया है। इन ग्रन्थों का सम्यक् अनुशीलन करके कहा जा सकता है कि इनके लेखकों का हृदय सवसे अधिक विशिष्ट देवताओं के स्तवन में रमा है। कम से कम पुराणों के विषय में तो यह कहा ही जा सकता है कि उनमें कुछ प्रसंग उपस्थित करके वरवस स्तोत्रों को मोतियों की लड़ी के समान ग्रथित किया गया है। स्तोत्रों का भाषाप्रवाह, सहज अनुभूति का व्यक्तिकरण, स्तोता का विनय-प्रदर्शन, इष्टदेव की उदारता का संकीर्तन सर्वथा श्लाघनीय व मननीय है। इन स्थलों का भक्तजनों में सवसे अधिक समादर है और कतिपय पुराण व उनके प्रसंग विशेषों की प्रसिद्धि का रहस्य तो कमसे कम यही है। श्री मद्भागवत का दशम स्कन्ध इसीलिए सर्वप्रिय है। यहाँ तक कि यह भी कहा जा सकता है और वह अतिशय न होगा कि सारे पुराणों में केवल उनके स्तवन ही जन-काव्य के स्तर तक पहुँच पाते हैं।

भाषा और भाव दोनों दृष्टिकोणों से उत्कृष्ट श्रीमद्भागवत का प्रह्लाद कृत भगवत्स्तुति का यह प्रसंग पौराणिक स्तोत्र-परम्परा पर प्रकाश डालता है।

क्वाहं रजः प्रभवईश तमोऽधिकेऽस्मिञ्जातः
सुरेतरकुले क्व तवानुकम्पा ।
न ब्रह्मणो न तु भवस्य न वै रमाया यन्मेऽर्पितः
शिरसि पद्मकरः प्रसादः ॥
नैषा परावरमतिर्भवतो ननु स्याज्जन्तो-
र्यथाऽऽत्मसुहृदो जगतस्तथापि ।
संसेवया सुरतरोरिव ते प्रसादः
सेवानुरूप मुदयो न परावरत्वम् ॥
एवं जनं निपतितं प्रभवाहि कूपे कामाभिकाममनु यः
प्रपतन् प्रसंगात् ।
कृत्वाऽऽत्मसात् सुरर्षिणा भगवन् गृहीतः
सोऽहं कथं नु विसृजे तव भृत्यसेवाम् ॥



लौकिक साहित्य में इस स्तोत्र-परम्परा का और भी विकास हुआ। संस्कृत साहित्य के सभी महाकाव्यों में स्तुतियाँ मिलती हैं। प्रसंग से अलग करने पर भी उनमें भाव सम्बन्धी कोई त्रुटि नहीं आ पाती। कुमारसंभव के द्वितीय सर्ग के ये श्लोक पौराणिक शैली का प्रसन्न-माधुर्य उपस्थित करते हैं—

उद्घातः प्रणवो यासां न्यायैस्त्रिभिरुदीरिणम्।
कर्मयज्ञ फलं स्वर्गस्तासां त्वं प्रभवो गिराम्॥
त्वामामनन्ति प्रकृतिं पुरुषार्थ प्रवर्तिनीम्।
तद्दर्शिनमुदासीनं त्वामेव पुरुषं विदुः॥
त्वं पितॄणामपि पिता देवानामपि देवता।
परतोऽपि परश्चापि विधाता वेधसामपि॥
त्वमेव हव्यं होता च भोज्यं भोक्ता च शाश्वतः।
त्वं वेद्यं वेदिता चासि ध्याता ध्येयं च यत्परम्॥

इस प्रकार के स्तोत्र-रत्न महाकाव्यों में ही जड़े हुए हों ऐसी बात नहीं है; स्वतन्त्र रूप में भी स्तोत्र रचना हुई है। भक्त कवियों ने अनेक अष्टकों, चतुर्दशकों, चत्वारिंशकों, शतकों आदि की रचना करके अपने-अपने इष्टदेवों की श्रद्धापूर्वक अर्चना की है। स्तोत्रकारों में बाणभट्ट, मुरारि, शंकराचार्य, यामुनाचार्य, वल्लभाचार्य, जगद्धर भट्ट, पंडितराज जगन्नाथ आदि के नाम विशेष उल्लेखनीय हैं। बाणभट्ट ने 'चण्डी शतक' में भगवती चण्डी की स्तुति की है। मुरारि ने सूर्यशतक की रचना की है। 'आलविन्दार स्तोत्र' कृष्णभक्तों में सबसे अधिक प्रचलित है। पंडितराज ने 'गंगालहरी' की रचना की है। ये रचनाएँ माधुर्य व प्रवाह दोनों दृष्टियों से अन्यतम हैं।

शंकराचार्य और वल्लभाचार्य के अनेक स्तोत्र मिलते हैं। शंकराचार्य जब जिस देवता की स्तुति करते हैं, उसकी भक्ति में तल्लीन हो जाते हैं। यह तल्लीनता ही उनके स्तोत्रों के महत्व का प्रमुख कारण है। वे कृष्ण की स्तुति करते हैं—

विना यस्य ध्यानं व्रजति पशुतां सूकरमुखां
विना यस्य ज्ञानं जनिमृति भयं याति जनता।
विना यस्य स्मृत्या कृमिशतजनिं याति स विभुः
शरण्यो लोकेशो मम भवतु कृष्णोऽक्षि विषयः।

उसी तल्लीनता में वे गंगा की स्तुति भी करते हैं—

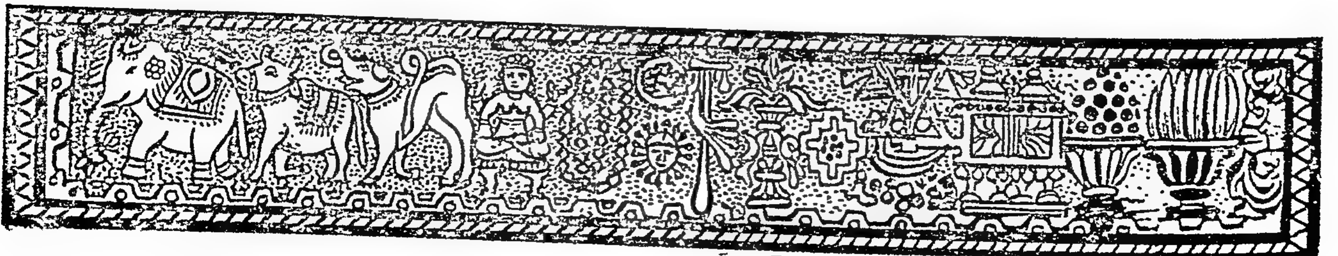
अलकानन्दे परमानन्दे
कुरु मयि करुणां कातर वन्द्ये
तव तट निकटे यस्य निवासः
खलु वैकुण्ठे तस्य निवासः।

भक्तिरस के आनन्द को शंकराचार्य वाणी से अवर्ण्य मानते हैं। वे इस बात को देवी की स्तुति करते हुए इस प्रकार कहते हैं—

घृत क्षीर द्राक्षा मधु मधुरिमा कैरपि पदै—
र्विशिष्यानाख्येयो भवति रसनामात्र विषयः।
तथा ते सौन्दर्यं परमशिवदृङ्मात्र विषयः
कथंकार ब्रूमः सकल निगमागोचर गुणे॥

इसी तरह वल्लभाचार्य ने भी भक्तिनत होकर अनेक स्तोत्रों की रचना की है। यमुनाष्टक के कुछ श्लोक देखिये—

नमामि यमुनामहं सकल सिद्धि हेतुं मुदा
मुरारि पदपंकज स्फुरदमन्दरेणूत्कराम्।



तटस्थं नवकाननं प्रकट मोद पुष्पाम्बुना
सुरासुरसुपूजितस्मरपितुः श्रियं बिभ्रतीम् ॥
कलिन्द गिरिमस्तके पतदमन्दपूरोज्ज्वला
विलासगमनोल्लसत्प्रकट गण्ड शैलोन्नता ।
सघोषगतिदन्तुरा समधिरूढ़दोलोत्तमा
मुकुन्दरतिवर्धिनी जयति पद्मबन्धोः सुता ॥

रामानुजाचार्य, तुलसीदास आदि के स्तोत्र भी भक्तिरस से ओतप्रोत और साथ ही साहित्यिक दृष्टि से महत्वपूर्ण हैं। जयदेव का गीतगोविन्द तो मधुररस की सुन्दर पुष्करिणी है जिसमें अद्यतन अनेक भक्त-लोग अवगाहन किया करते हैं। इसी स्तोत्र-परम्परा में हिन्दी भक्त-कवियों के पद भी आते हैं। भक्ति से आप्लावित पद रचनाकारों में विद्यापति, सूरदास, मीराँ, रहीम, तुलसीदास, भारतेन्दु हरिश्चन्द्र आदि के नाम विशेष उल्लेखनीय हैं।

बौद्ध कवियों ने भी प्रभूत स्तोत्र-रचना की है। आर्य सत्यों का उद्घाटन करके दुःखदलन करने वाले महात्मा बुद्ध शीघ्र ही देवत्व की विशिष्टताओं से समुपेत हो गए और उनको भक्तिपूर्वक भावप्रसून अर्पित किये जाने लगे। बौद्ध धर्म मूलतः आचार प्रधान धर्म है। भगवान् बुद्ध ने "आचारः परमोधर्मः" की उद्घोषणा करके सर्वप्रथम आचार को जीवन की सबसे अधिक महत्वपूर्ण वस्तु बतलाई थी। बौद्ध धर्म का इससे अधिक सरल व स्पष्ट रूप क्या हो सकता है ?—

सब्ब पापस्स अकरणं कुसलस्स उपसंपदा।
सचित्तपरियोदपनं एतं बुद्धानं सासनम्॥

"सब प्रकार के पापों से बचना, पुण्यों का संचय करना तथा अपने चित्त को विशुद्ध रखना—यही बुद्ध की शिक्षा है।"

(धम्म पद)

वैष्णव कवि जयदेव ने गीतगोविन्द में विष्णु के अवतार के रूप में बुद्ध की स्तुति इस प्रकार की है—

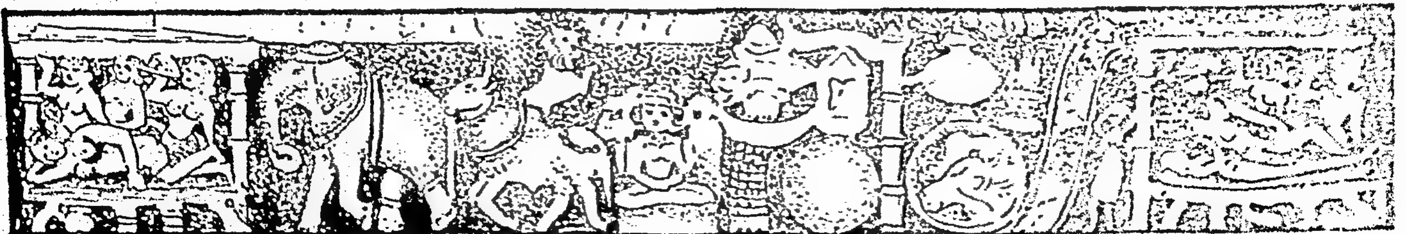
निन्दसि यज्ञविधे रहह श्रुतिजातम्,
सदय हृदय दर्शित पशुघातम्;
केशव धृतबुद्ध शरीर, जय जय देव हरे।

"अहा, आप यज्ञ का विधान करने वाली श्रुतियों की निन्दा करते है, क्योंकि हे करुणावतार, आपने धर्म के नाम होनेवाली पशुवध की कठोरता दिखाई है। इसलिए हे बुद्ध शरीर धारण करनेवाले केशव आपकी जय हो!"

यद्यपि स्वयं बुद्ध ने भी ईश्वर की उपासना का कोई उपदेश नहीं दिया और न स्वयं को ही कोई अवतारी पुरुष बताया, तथापि उनके जीवन-काल में ही लोग उन्हें देवतुल्य आदर-सत्कार प्रदान करते थे। उनके निर्वाण के बाद त्रिरत्न वन्दना के रूप में उनकी पहली पूजा प्रारम्भ हुई। इस त्रिरत्न-वन्दना में हमें भक्ति का दर्शन भी होता है—

बुद्धं सरणं गच्छामि,
धम्मं सरणं गच्छामि,
संघं सरणं गच्छामि।

इसके बाद तो बौद्धों ने ही नहीं, अबौद्धों ने भी बुद्ध को दिव्यस्वरूप से उपेत स्वीकार कर लिया। महाकवि अश्वघोष ने अपने 'सौन्दर नन्द' व 'बुद्धचरित' महाकाव्यों में बुद्ध को इसी रूप में उपस्थित किया है। बुद्ध की वन्दना करते हुए वे कहते हैं—



श्रियः पराद्धर्यां विदधद् विधातृजित्
तमो निरस्यन्नभिभूतभानुभृत् ।
नुदन्निदाघं जित-चारु-चन्द्रमाः
स वन्द्यतेऽर्हन्निह यस्य नोपमा ॥

'जिन्होंने सर्वश्रेष्ठ श्री की सृष्टि करते हुए विधाता को जीत लिया, लोगों के अन्तःकरण के अन्धकार को दूर करते हुए सूर्य को परास्त कर दिया, भवताप को हरते हुए आकाशस्थ चन्द्रमा की चारुता को पराजित कर दिया, उन सर्वपूज्य बुद्ध की मैं वन्दना करता हूँ, जिनकी इहलोक में कोई उपमा नहीं है ।'

आगे चलकर बौद्ध-धर्म हीनयान, महायान, वज्रयान, योगाचार आदि मत-मतान्तरों में विभाजित हो गया । स्तोत्र-रचना करके बुद्ध का स्तवन बराबर किया जाता रहा । महायान-प्रस्थान के स्तोत्र सबसे अधिक भक्ति से ओतप्रोत हैं ।

जैन-स्तोत्र साहित्य

जैन-स्तोत्र-साहित्य परिमाण व भाव दोनों दृष्टियों से महत्वपूर्ण है । जैन दर्शन के अनुसारतीर्थंकर मुक्त जीव थे, जिन्हें अर्हत् की स्थिति प्राप्त हो गई थी । उनकी उपासना बद्धजीवों को मुक्तावस्था का पथ-प्रदर्शित करेगी ऐसा सोचकर ही उनकी अर्चना की जाने लगी । कहा गया है—

मोक्षमार्गस्य नेतारं भेतारं कर्मभूभृताम् ।
ज्ञातारं विश्वतत्वानां वन्दे तद्गुणलब्धये ॥

अर्थात् मोक्ष प्राप्ति नेता (हितोपदेशी), कर्मरूपी पर्वतों का भेदन करनेवाले (वीतराग) और विश्व के तत्वों को जाननेवाले (सर्वज्ञ) आप्त (अर्हत्) की भक्ति उन्हीं के गुणों को पाने के लिए करता हूँ ।

उक्त कथन से तीर्थङ्करों की भक्ति का रहस्य जाना जा सकता है । ये सभी तीर्थङ्कर वीतराग थे, इसलिए जैन धर्मावलम्बियों को नीराग (वीतराग) ईश्वर के उपासक माना गया है । जैनाचार्यों ने स्तोत्रों द्वारा अपने श्रद्धा-प्रसून अर्हत् को अर्पित किए हैं । जैन स्तोत्रकारों में आचार्य मानतुंगसूरि तथा सिद्धसेन दिवाकर का विशेष स्थान है । मानतुंगाचार्य कृत भक्तामरस्तोत्र जैनस्तोत्र साहित्य का शीर्षभूत तथा जैन-भक्तों का कंठहार कहा जा सकता है । किंवदन्ती है कि राजा भोज ने एक बार मानतुंगाचार्य को बन्दी बना लिया और उनसे चमत्कार प्रदर्शित करने को कहा । कहा जाता है कि आचार्य ने भक्तिप्रणत होकर भक्तामर स्तोत्र की रचना की और उसके प्रत्येक श्लोक के साथ बन्दीगृह के ताले एक-एक करके झड़ गए और इस श्लोक के साथ अन्तिम ताला व हथकड़ियाँ बेड़ियाँ भी टूट कर गिर गईं—

आपाद कण्ठमुरु शृङ्खल वेष्टितांगाः
गाढं बृहन्निगड़कोटि निघृष्टजङ्घाः ।
त्वन्नाममंत्रमनिशं मनुजाः स्मरन्तः
सद्यः स्वयं विगतबन्धभया भवन्ति ॥

'हे दयालो ! जिनका शरीर पांव से लेकर गले तक बड़ो-बड़ी साँकलों से जकड़ा हुआ है तथा बड़ी-२ बेड़ियों की नोक से जिनकी जंघाएँ अत्यन्त छिल गई हैं ऐसे मनुष्य भी आपके नामरूपी मन्त्र का स्मरण करके तत्काल ही बन्धन के भय से छूट जाते हैं अर्थात् बन्धन मुक्त हो जाते हैं ।'

जैन-समाज में इस स्तोत्र का पठन-पाठन महान् चम-



स्कारिक मान कर ही होता है; किन्तु साहित्यिक दृष्टि से भी इसका महत्व कम नहीं है। विविध देवताओं से अभिन्न, उनकी विभूतियों से समन्वित जिन भगवान की स्तुति मानतुंगाचार्य कितने प्रसन्न-गम्भीर स्वर में करते हैं—

बुद्धस्त्वमेव विबुधार्चित बुद्धिबोधात्
त्वं शंकरोऽसि भुवनत्रयशंकरत्वात्।
धाताऽसि धीर ! शिवमार्ग विधेर्विधानात्
व्यक्तं त्वमेव भगवन् ! पुरुषोत्तमोऽसि ॥
तुभ्यं नमस्त्रिभुवनार्तिहराय नाथ !
तुभ्यं नमः क्षितितलामलभूषणाय।
तुभ्यं नमस्त्रिजगतः परमेश्वराय
तुभ्यं नमो जिन ! भवोदधि शोषणाय ॥

'देवताओं द्वारा पूजित बुद्धिज्ञान के कारण बुद्ध तुम्हीं हो। तीनों लोकों का मंगल करने के कारण शंकर तुम्हीं हो, मंगलमार्ग की विधि का विधान करने वाले विधाता तुम्हीं हो हे भगवन् ! व्यक्त पुरुषोत्तम भी आप ही हैं। तीनों लोकों की विपत्ति दूर करने वाले हे स्वामी, आपको मैं प्रणाम करता हूँ। पृथ्वीतल के विशुद्धमंडन स्वरूप आपको प्रणाम ! तीनों लोकों के परमेश्वर ! आपको प्रणाम तथा हे संसार-सागर का शोषण करने वाले जिन आपको प्रणाम !"

भगवान् अर्हत् के शिवपद और उसके मार्ग पर आचार्यश्री को पूर्ण आस्था है—

त्वामामनन्ति मुनयः परमं पुमांस—
मादित्यवर्णममलं तमसः परस्तात्।
त्वामेव सम्यगुपलभ्य जयन्ति मृत्युं
नान्यः शिवः शिवपदस्य मुनीन्द्र ! पन्थाः ॥

'मुनि लोग तुमको परमपुरुष, आदित्यवर्ण, विशुद्ध और अन्धकार से परे बतलाते हैं। तुमको भली प्रकार से प्राप्त करके मनुष्य मृत्यु को जीत लेते हैं। तुम्हारे अतिरिक्त हे मुनि श्रेष्ठ ! कोई शिव अथवा शिवपद का मार्ग नहीं है।'

आचार्य ने अपने काव्य की प्रेरणा भी जिन भगवान् की भक्ति को ही स्वीकार किया है—

अल्पश्रुतं श्रुतवतां परिहासधाम
त्वद्भक्तिरेव मुखरीकुरुते बलान्माम् !
यत् कोकिलः किल मधौ मधुरं विरौति
तच्चारुचूत कलिका निकरैक हेतुः ॥

सिद्धसेन-दिवाकर का कल्याणमन्दिर-स्तोत्र भी जैन समाज में भक्तामरस्तोत्र की तरह ही समादरणीय रहा है। साहित्यिक दृष्टि से भी वह जैन स्तोत्र साहित्य-माला का अनुपम मणि है। भक्त-हृदय के लिए अपेक्षित विनय की उपलब्धि कल्याणमन्दिर स्तोत्र में भक्तामरस्तोत्र से भी अधिक होती है। सिद्धसेन-दिवाकर ने इसकी रचना संसार-सागर में निमज्जित होने वाले जीवों के लिए पोत के समान आश्रय देने वाले जिनेश्वर का स्तवन करने के लिए की है। यद्यपि इस कार्य को वे बालक द्वारा अपनी भुजा फैला कर समुद्र का विस्तार बतलाने के समान मानते हैं—

अभ्युद्यतोऽस्मि तव नाथ जडाशयोऽपि
कर्तुं स्तवं लसदसंख्यगुणाकरस्य।
बालोऽपि किं न निज बाहुयुगं वितत्य
विस्तीर्णतां कथयति स्वधियाम्बुराशेः ॥

विनय का इससे अधिक प्रदर्शन क्या हो सकता है? हेमसिंहासन पर विराजमान पार्श्वनाथ सुमेरु पर्वत पर छाये



हुए नवीन मेघखण्ड के समान दिखाई पड़ रहे हैं। उनकी गम्भीर गिरा से मयूर मेघदर्शन के समान ही उत्कंठित होकर उन्हें देख रहे हैं—

श्यामं गभीरगिरिमुज्ज्वल हेमरत्नं-
सिंहासनस्थमिह भव्यशिखण्डिनस्त्वाम्।
आलोकयन्ति रभसेन नदन्तमुच्चै—
श्चामीकराद्रिशिरसीव नवाम्बुवाहम्॥

वे पार्श्वनाथ को विश्व के विकास के लिए ज्ञान की स्फुरणा का हेतु मानते हैं। संसार सागर की सारी विपत्तियाँ इष्टदेव का नाम श्रवण करते ही दूर हो जाती हैं। इष्टदेव की उदारता व स्तोता की विनयशीलता को व्यंजित करने वाले दो श्लोक देखिये—

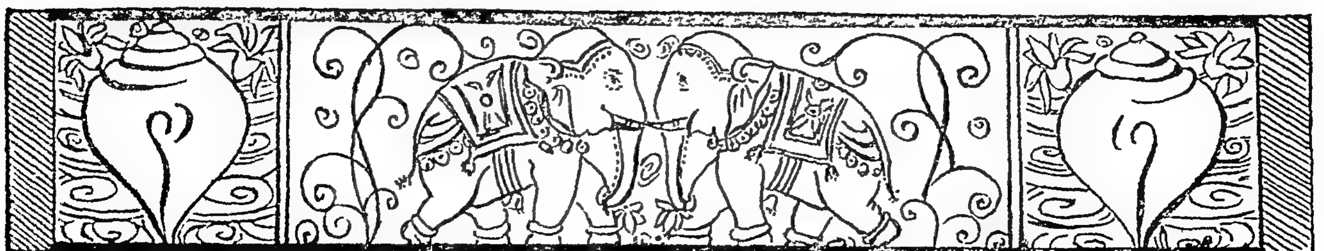
त्वं नाथ दुःखिजनवत्सल हे शरण्य
कारुण्य-पुण्य-वसते वशिनां वरेण्य।
भक्त्या न ते मयि महेश दयां विधाय
दुःखांकुरोद्दलन तत्परतां विधेहि॥
देवेन्द्रवन्द्य विदिताखिलवस्तुसार
संसारतारक विभो भुवनाधिनाथ।
त्रायस्व देव करुणाहृद मां पुनीहि
सीदन्तमद्य भयदव्यसनाम्बुराशेः॥

"हे दुखियों का पालन करने वाले, शरणदाता स्वामी, करुणा की पुण्य निवासभूमि, वीतरागों द्वारा वरणीय, भक्तिपूर्वक नमन करनेवाले मुझ पर दया करके मेरे दुःखों का नाश करने को तत्परता धारण करो। हे देवेन्द्रों द्वारा वन्दनीय, सारी वस्तुओं के तत्व को जानने वाले, संसारतारक, व्यापक, भुवनों के स्वामी, करुणा के सरोवर, भयकारी दुःखों के समुद्र में दुःख पाने वाले मुझे बचाओ तथा पवित्र करो।"

जैन स्तोत्रों में सबसे अधिक संख्या पार्श्वनाथ से सम्बन्धित स्तोत्रों की है। लगभग इतने ही स्तोत्र २४ तीर्थंकरों की सम्मिलित स्तुति के लिए लिखे गए हैं। महावीर स्वामी और ऋषभदेव के स्तोत्र संख्या में उनसे कम हैं और शेष तीर्थङ्करों से सम्बन्धित स्तोत्र और भी कम हैं। अन्य प्रसिद्ध स्तोत्रकार है—हेमचन्द्राचार्य, धनपाल धनंजय, महाकवि बिल्हण, भूपाल कवि, वादिराज, शोभनमुनि, जिनवल्लभसूरि, भद्रबाहुस्वामी, सोमप्रभाचार्य, जिन प्रभसूरि, वादिराज, जम्बू गुरु, मेरुतुंग सूरि, सोमसुन्दर आदि।

स्तोत्र रचना करते समय हेमचन्द्राचार्य की दृष्टि समन्वयवाद की ओर रही है। वे इष्टदेव की महत्ता नाम से नहीं विशेषताओं से अंकित करते हैं। आचार्य द्वारा रचित वीतराग स्तोत्र—महादेव स्तोत्रमें महादेव के गुणों की विवेचना हुई है। उन गुणों से समुपेत कोई भी देवता हो वही आचार्य का इष्टदेव है। कुछ श्लोक देखिये—

भव बीजांकुरजनना रागाद्याः क्षयमुपागता यस्य।
ब्रह्मा वा विष्णुर्वा हरो जिनो वा नमस्तस्मै॥
यत्र-यत्र समये यथा-यथा योसि सोऽस्यभिधया यया तया।
वीतदोषकलुषः स चेद्भवानेक एव भगवन्नमोस्तुते॥
त्रैलोक्य सकलं त्रिकालविषयं सालोकमालोकितं
साक्षाद्येन यथा स्वयं करतले रेखात्रयं सांगुलि।
रागद्वेषभयामयान्तकजरालोलत्वलोभादयो
नालं यत्पदलंघनाय स महादेवो मया वन्द्यते॥
यो विश्वं वेद विद्यं जननजलनिधेर्भंगिनः पारदृश्वा
पौर्वापर्याविरुद्धं वचनमनुपमं निष्कलंकं यदीयम्।



तं वन्दे साधुवंद्यं सकलगुणनिधिं ध्वस्तदोषद्विषं तं
बुद्धं वा वर्द्धमानं शतदल निलयं केशवं वा शिवं वा ॥

"जिसके भवरूपी बीज के अंकुरों को उत्पन्न करने वाले रागादि क्षय हो गए उसे, चाहे वह ब्रह्मा हो, विष्णु हो, शंकर हो अथवा जिन हो मेरा नमस्कार है। चाहे किसी समय, किसी भी अवस्था में, किसी भी नाम से आप प्रख्यात हों यदि दोष रूपी कलंक से मुक्त हो तो हे भगवन् आपको नमस्कार है। जिसे जीव की गति से परे स्थित लोक सहित तीनों लोक अंगुलियों सहित हथेली की तीन रेखाओं के समान साक्षात् दिखाई देते हैं, जिसे तीनों काल साक्षात् दृश्यमान हैं, जिसके पद का उल्लंघन करने में राग, द्वेष, रोग, काल, जरा, चपलता, लोभ आदि कोई भी समर्थ नहीं है, ऐसे महादेव को मैं वन्दना करता हूँ। जो जानने योग्य विश्व को जानता है, जिसने जन्म—उत्पत्ति रूपी समुद्र की भंगिमाओं को पार कर लिया है, जिनके वचन पूर्वापर अविरुद्ध, अनुपम और कलंक रहित हैं, जो साधु पुरुषों के वन्दनीय हैं, सकल गुणों के भंडार हैं, दोष रूपी शत्रु जिसने नष्ट कर दिये हैं, ऐसे बुद्ध हों, वर्द्धमान हों, कमलदल पर निवास करने वाले विष्णु हों या शिव हों मैं उनकी वन्दना करता हूँ।"

इस प्रकार का स्वस्थ दृष्टिकोण बहुत कम लोगों का दिखाई पड़ता है। हेमचन्द्राचार्य के जिन-जिन बातों के लिए हम ऋणी है उनके एक यह सजग दृष्टिकोण भी है। इसके उपरान्त भी जैन धर्म पर उनकी श्रद्धा अटल थी। यह बात उनके महावीर स्वामीस्तोत्र के इन श्लोकों से ज्ञात होती है—

इमां समक्षं प्रतिपक्षसाक्षिणामुदारघोषामवघोषणां ब्रुवे।
न वीतरागात्परमस्ति दैवतं न चाप्यनेकान्तमृते नयस्थिते ॥
न श्रद्धयैव त्वयि पक्षपातो न द्वेषमात्रादरुचिः परेषु।
यथावदाप्तत्व परीक्षयाच्च त्वामेव वीर प्रभुमाश्रिताः स्मः ॥

"प्रतिपक्षी लोगों के सामने बलपूर्वक घोषणा करके मैं कहता हूँ। कि जगत् में वीतराग से बढ़कर कोई देव नहीं है और अनेकान्त (स्याद्वाद) धर्म के अतिरिक्त कोई तत्व नहीं है। हे वीर! केवल श्रद्धांध होने से ही तुझमें हमारा पक्षपात नहीं है तथा केवल द्वेषमात्र से ही दूसरों में अरुचि हो ऐसी बात भी नहीं है, किन्तु परीक्षा पूर्वक यथातथ्य आप्त जानकर ही आपका आश्रय लिया है।"

महाकवि बिल्हण का श्री पार्श्वनाथ स्तोत्र भी भाषा-प्रवाह अलंकारों के सहज, स्वाभाविक प्रयोग व भावगांभीर्य सभी दृष्टियों से उत्कृष्ट है। एक श्लोक उदाहरण के लिए पर्याप्त होगा—

कुवलयवननीलश्चारु बिभ्रत् स्वभावं
नवनयघनशैलः पौरुषाद् भ्रष्टभावम्।
वितरतु ममतानि श्री जिनेन्दुः सुखानि ॥
त्रितचतुरमितानि श्री जिनेन्दुः मुखानि ॥

जैन-स्तोत्रों में उनके रचयिताओं ने केवल उनकी स्तुति मात्र ही की हो ऐसी बात नहीं है। कहीं वे इष्टदेव को श्रद्धांजलि अर्पित करते हुए उनके विग्रह का वर्णन करने लगते हैं, कहीं जैनधर्म के सिद्धांतों की विवेचना करने लगते हैं, कहीं इष्टदेव के गुणकीर्तन के साथ पाण्डित्यप्रदर्शन भी उनका उद्देश्य बन जाता है और कहीं वे काव्य के क्षेत्र में नवीन प्रयोग करने लगते हैं। जिन भगवान् के मुख और नेत्रों की शोभा का जिनशतक में श्री जम्बू गुरु ने इस प्रकार वर्णन किया है—

अम्लानं मौलिमालोल्लुलित कपिलरुग्धूलिलुब्धालिजालं
व्यालोलारालकालालकममलकलालांछनं यद्विलोक्य।
लेखाली लालितालं प्रबलबल कुलोन्मूलिना शैलराजे
पल्लन्ना लीलया वो दलयतु कलिलं लोलदृक्तज्जिनास्यम् ॥

सुदीर्घ-समासों के प्रयोग से भाषा अवश्य जटिल हो गई है किन्तु भाव की दृष्टि से स्थल बड़ा सुन्दर है। अनेक



छन्दों में २४ तीर्थंकरों की स्तुति के उदाहरण देखिये जिनमें छन्द का नाम भी श्लोक में आया है। रचयिता का नाम है—भुवनहिताचार्य—

द्रुतविलम्बित गीतिरसोलस—
च्चरणसंचरणाति मनोहरम् ॥
सुरगिरौ सुमतेर्ज्जिनि मज्जने
विदधिरे विबुधा नवनर्त्तनम् ॥

तथा—

श्रेयो लक्ष्मी वितरतु स वः शीतलस्तीर्थनाथो,
यस्मिन्गर्भे स्थितवति करस्पर्श मात्रेण मातुः।
दाहोत्साहा जनकवपुषोऽगुः क्रियं वा मृगेन्द्रै—
मन्दाक्रान्ता अपि किमु मृगा न म्रियन्तेक्षणेन ॥

जैन स्तोत्रकारों ने प्राकृत, अपभ्रंश और यहाँ तक कि फारसी भाषा में भी स्तोत्र रचना की है। प्राकृत भाषा के स्तोत्रों में महाकवि धनपाल के 'ऋषभपंचाशिका' नामक स्तोत्र उल्लेखनीय है। उदाहरण के लिए कुछ पद्य देखिये -

तुह रूवं पेच्छंता न हुंति जे नाह हरिसपडिहत्था।
समणावि गयमणच्चिअ ते केवलिणो जइ न हुंति ॥
भमियो कालमणंतं भवम्मि भीओ न नाहं दुक्खाणम्।
दिट्ठे तुमम्मि संपइ जायं च भयं पलायं च ॥

"आपके रूप को देखकर जो हर्ष से परिपूर्ण न होते हों वे यदि केवली न हों तो समनस्क होते हुए भी गतमनस्क के समान हैं। भ्रान्तियुक्त काल चाहे अनन्त हो, हे नाथ! मुझे दुःखों का भय नहीं है। आपको देखकर आप में विश्वास उत्पन्न हो गया है और भय दूर हो गया है।"

अपभ्रंश भाषा के अभयदेवसूरि कृत जयतिहुअण स्तोत्र का एक रोला छंद देखिए।

जय तिहुअण वर कप्परुक्ख, जय जिण धन्नंतरि
जय तिहुअण-कल्लाण-कोस दुरिअक्करि केसरि।
तिहुअण-जण अवलंघि-आण भुवणित्तयसामिअ,
कुणुसु सुहाइ जिणेस पास थंभणय-पुर-अट्ठिअ ॥

"हे त्रिभुवन में कल्पवृक्ष के समान स्वामी आपकी जय हो, धन्वंतरि रूप जिन आपकी जय हो। त्रिभुवन के कल्याण कोष आपकी जय हो, दुरित रूपी हाथी के लिए सिंह के समान आपकी जय हो। जिनकी आज्ञा तीनों लोकों के मनुष्य नहीं लांघ सकते ऐसे त्रिभुवन के स्वामी स्थंभनक नामक नगर में रहने वाले पार्श्वजिनेश्वर हमें सुखी करो"

कई प्रसिद्ध स्तोत्रों के चरणां को लेकर उनकी पादपूर्ति करते हुए स्तोत्रों की रचना भी जैन स्तोत्रकारों ने प्रभूत-मात्रा में की है। भक्ताभर स्तोत्र के चतुर्थचरण की पादपूर्ति श्री धर्मवर्द्धन गणि ने वीर भक्तामर स्तोत्र में तथा श्री भाव-प्रभसूरि ने नेमिभक्तामर स्तोत्र में की हैं। दोनों से एक-एक श्लोक उद्धृत किया जाता है। भक्तामर स्तोत्र का प्रथम श्लोक है—

भक्तामर प्रणतमौलिमणिप्रभाणा—
मुद्योतकं दलितपापतमो वितानम्।
सम्यक् प्रणम्य जिनपादयुगं युगादा—
वालम्बनं भव जले पततां जनानाम्!

इसके चतुर्थ चरण की पादपूर्ति देखिये—

राज्यर्घ्दिवृद्धिभवनाद् भवने पितृभ्यां
श्रीवर्धमान इति नाम कृतं कृतिभ्याम्।
यस्याद्य शासनमिदं वरवर्ति भूमा—
वालम्वनं भवजले पततां जनानाम्॥

—वीरभक्तामर

भक्तामर! त्वदुपसेवन एव 'राजी—
मत्यां ममोत्कमनसो दृढ़तापनुत् त्वम्।
पद्माकरो वसुकलोवसुखोऽसुखार्ता—
वालम्वनं भव जले पततां जनानाम्॥

—नेमि भक्तामर

जैन धर्मानुशासन में पूर्ण आस्था रखते हुए भी जैन स्तोत्र-कारों ने अन्य देवताओं की स्तुति की है। सरस्वती का स्तवन तो अनेक कवियों ने किया है। जिनवल्लभसूरि तथा जिनप्रभसूरि के भारती स्तोत्र इस दृष्टि से उल्लेखनीय हैं।

जैन स्तोत्रों के अनेक संग्रह प्रकाशित हो चुके हैं। ये विविध प्रकार के हैं और संख्या में हजारों हैं इसलिए लेख विस्तार भय से थोड़ी सी झांकी करा के ही सन्तोष करना पड़ता है।

SCIENCE AND AHIMSA IDEOLOGY

By Dr. Bool Chand,
Director, Ahimsa Shodh-Peeth.

The development over the past four centuries of a universally reliable method for attaining knowledge is, in the view of Ahimsa thinkers, a far more important achievement on the part of science than its discovery of any particular truths. The scientific method is a thoroughly dependable method of seeking for truth, and this method can be applied to every sphere of human life. Ahimsa philosophers believe that the application of the method and spirit of science, as far as possible, to all human problems is the greatest need of our age.

Theory of Universe

It is the view of all scientific thinkers that without a carefully worked out theory of the universe, without obtaining, in technical terms, a cosmology, a metaphysics, an ontology, or a world-view of the universe, a complete philosophy of existence is impossible to attain. Ahimsa philosophy's attitude towards the universe is grounded on solid scientific facts. The supernatural beliefs of Christianity and the other religions were originally formulated in a pre-scientific era in which the earth with the sun and the multitudinous stars of the firmament revolving around it were believed to be the centre of the cosmos. Modern science has completely demolished that view, and our little-planet, far from being the centre of the cosmos, is now found to be not even the centre of the solar system which itself is a mere microscopic blur upon the unimaginably vast canopy of the heavens. Copernicus in the 16 th century was the first Astronomer who toppled the earth from its traditional position as the focal point of the cosmos. During the 20th century astronomers have brought about a second revolution in our conception of the heavens which decreases even further the spatial significance of our



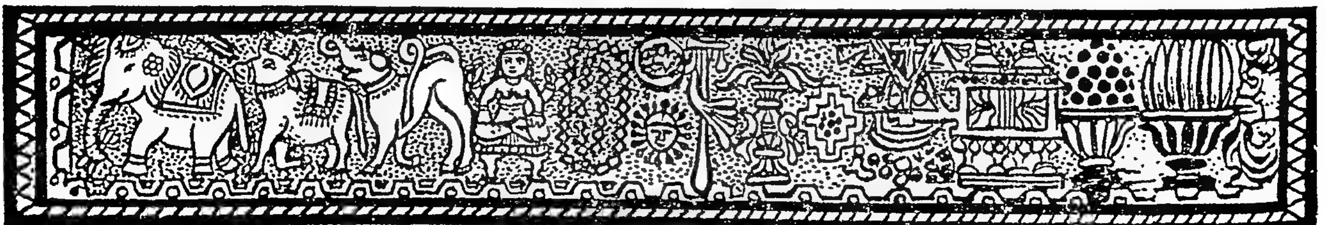
planet. Our galaxy, they have proved, is only one out of millions and perhaps billions of similar star clusters scattered throughout the universe, each possessing its own thousands of millions of flaming stars. The time spans of this cosmos in which we live are also equally impressive. Biologists estimate that living forms have been in existence on our planet anywhere from 300 million to 10C0 million years.

These findings of modern science have completely demolished the world view of old-time religion. They make man and his tiny earth look extremely insignificant in relation to the rest of the universe both in terms of space and time. If there is a Supreme Being ruling over the billions of Milky Ways that roam through the unending corridors of the sky, he cannot be the neighbourly fatherly God of Christianity. Nor can such earthly evidence of providence as theologians and metaphysicians purport to find be taken as applying to the universe as a whole. A supernatural mind or purpose behind everything must include all those never-ending galaxies that extend into the farthermost regions of space and must cover all those untold billions of years in the past and the future that stun the imagination of the average man.

Theory of Biological Evolution

The general theory of biological evolution, based upon the processes of natural selection and the survival of the fittest, can adequately account for the origin and development of species. Scientific progress in the realm of physics and chemistry has demonstrated that matter, from its hugest aggregations down to its smallest particles, is made up of unceasingly active units of restless energy. Einstein's theory of relativity establishes fundamentaly that the universe is a great system of matter-energy. In place of the older ideas of absolute space and absolute time, Einstein showed that space and time are both derivative from events, they are a form of relationship, that is to say, between material objects. Matter, even at its most elementary level, is a thing of the most tremendous dynamism, complexity, versatility and potentiality, and it no longer seems mysterious that life in any form should have arisen out of this remarkable stuff.

Many persons consider the universe mysterious because they can get no satisfactory answer as to "why" of every-



thing. "Why should there have been a universe ?" "Why is there existence at all ?" In the view of the Ahimsa thinker these questions have been formulated wrongly. The conundrums implied in such questions are insoluble because actually no purpose can be found behind the cosmic phenomena. Events determined there own laws and do not require a Supreme Law-giver to lay down or maintain their patterns of behaviour.

The Ahimsa view of cosmology leaves no room for the great cosmological or metaphysical dualism which devides the universe into two separate realms, the material and the spiritual, and then logically implies a dualistic psychology and a dualistic ethics. Ahimsa is an affirmative philosophy which believes that the mervel of life and the race of man has been produced by nature and that it is also substained by nature. The central pillar Ahimsa cosmology and metaphysics is that the underlying and continuing foundation of the universe is not mind or conciousness but matter in its multiple and changing modes. The truth of this proposition is not dependent upon any particular definition of matter ; the position is based simply on the proposition that objective reality, an external world, by whatever name (matter, substance, electricity or any other) it may be called, exists independently of and antecedently to the human mind.

The universe of nature shows no special interest in man or in any other of its creatures. Nature's neutrality towards the human race does not mean that man is an alien in this world. Man is an important entity, who has acquired the power to utilise nature on behalf of human aims. In modern times the power of man to control and conquer the turbulent and evil forces of nature has been steadily on the increase, and today it is possible to say that evils are mostly man-made and that all evils can be man-solved. This view takes evil out of the context of superstition. Evil is no longer a sign or portent symbolising the whole of human destiny but merely a specific and distinguishable situation which is to be dealt with. The philosophic tendency to set up a supernatural sphere of influence in human affairs has been due to the desire to escape from the changing character, precariousness and impermanence of the actual world. In the view of Ahimsa ideology change is



a fundamental element in the universe and society. Matter itself as the basic stuff of the cosmos is matter in motion, matter in one form or another. It is futile, in the view of Ahimsa thinkers, to attempt to suppress change. It would be more fruitful to follow the policy of controlling and intellectually chanelling the change that is bound to take place.

There are complicated and far-reaching inter-relationships throughout nature and there are also constant cross-currents and conflicting forces. The different entities that make up the world temporarily enter into identifiable systems, like that of the human body itself, but no one system, completely verified, fuses together tightly all these entitles. There is no one event that started the universe going, there is no beginning of the universe, and there is no one system or event into which it will end.

Nature of Truth

Since Ahimsa places its chief reliance on the scientific method in the acquisition of human knowledge, it naturally takes its cue from the scientific method in trying to determine nature of truth. Its convication is that truth is objective and that it exists independently of our individual minds. To speak of truth as objective and eternal is not necessarily to locate it outside the changing world ; it means only that the continued testing of the proposition's consequences will continually confirm the proposition.

It is clear, however, that neither the possession of a philosophically sound theory of knowledge nor a correct unde. standing of the scientific method, nor both together, will guarantee that anyone will really arrive at the truth. Serious mistakes can be made in the very application of the scientific method, for agreement that all hypotheses must be verified does not necessarily result in the agreement as to the exact type or degree of evidence required in a specific and socialogists case. In the social sciences in particular the scientific method is still so lacking in precision that even good economists and socialogists often differ redically as to the right solution of any important problem. Ethically and socially the scientific method is completely natural, and it can operate on behalf of anti-social ends, such as aggressive war and the suppression of democracy, as effectively as on behalf of socially desirable ones. The

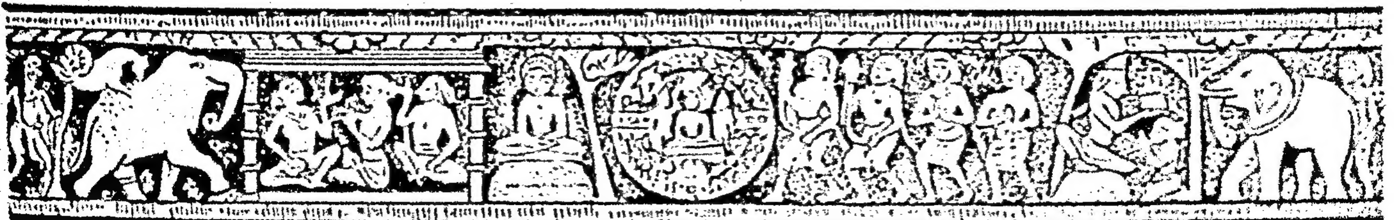


scientific method has at present discovered how to harness atomic energy to human purposes; but the portentous questions of the day remains whether atomic energy will actually be applied constructively for the welfare of mankind or wheather it will be applied destructively and serve just to transform the centres of modern civilisation into smoking charnel-houses.

Reason and the scientific method are not in themselves enough to achieve an Ahimsa world. In the hands of cold and cruel men in search of personal gain or of autocratic groups disdainful of the common good, science can lead to a veritable hell on earth. It is only in the service of generous and human ends that the highest possibilities of its fulfilment lie. For the Ahimsa thinker intellect and emotion, the head and the heart, always go together, and the best safeguard that the scientific method will be used in the service of proper ends consists in the view of the Ahimsa philosopher in prescribing that it should always go hand in hand with the methods and aims of democracy. No mere use of the scientific method could have helped to make man the lord of creation if men's pre-human ancestor had not been endowed with the capacity for becoming a social animal and if the primitive man had not learnt the rudiments of sociality that are the intellects indispensable conditions for performing its co-operative and cumulative work.

Ahimsa ideology supports the use, development and extension of reason and the scientific method, if it is democratically conceived and directed. It is only under democratic direction that the scientific method will help to achieve the unity of theory and practice which has so long been a goal of philosophers.







णमोत्थुणं समणस्स भगवओ महावीरस्स